MASO-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारत में समाज शास्त्र का विकास

MASO-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारत में समाजशास्त्र का विकास

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रोनरेश दाधीच (.डॉ) .
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

संयोजक / समन्वयक

डॉ. जे. के. शर्मा
सहायक - आचार्य, अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा (राज.)

डॉ. जे.एन. चौधरी
सेवानिवृत्त सह- आचार्य,समाजशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

सदस्य

1. **प्रो. के. एल. शर्मा**
   सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
   नई दिल्ली
2. **प्रो. (डॉ.) यू. आर. नाहर**
   आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   जे.एन.वि. विश्वविद्यालय,
   जोधपुर
3. **प्रो.(डॉ.) इन्दु माथुर**
   सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **डॉ. एस. एल. दोषी**
   सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
5. **डॉ. आई. पी. मोदी**
   सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
6. **डा. (श्रीमती) रीता दाधीच**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   वैदिक कन्या पी.जी. महाविद्यालय, जयपुर
7. **डॉ. कैलाशनाथ व्यास**
   सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   जे.एन.वि. विश्वविद्यालय, जोधपुर
8. **डा. अलका शर्मा**
   सहायक आचार्य, समाज शास्त्र
   राजकीय पी.जी. महाविद्यालय, दौसा

सम्पादन एवं पाठ लेखन

सम्पादक

डॉ एस. एल. जोशी
सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

लेखक	इकाई संख्या	लेखक	इकाई संख्या
प्रो. बी. के. नागला सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग म. द.. विश्वविद्यालय, रोहतक	(1,2,3,4,5,9,10)	**डॉ. ज्योति सिडाना** सेवानिवृत सहायक आचार्य जे.डी.बी. महिला महाविद्यालय,कोटा	(18)
प्रो. पी.सी. जैन आचार्य समाजशास्त्र विभाग जे.आर.एन. विद्यापीठ विश्वविद्यालय जयपुर(राज.)	(7)	**डॉ. एन.के. भार्गव** सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर	(6)
डॉ. निर्मला आडवाणी सेवानिवृत सहायक आचार्य, समाजशास्त्र राजकीय पी.जी. महाविद्यालय, कोटा (राज.)	(11,12,13,16)	**डॉ. एस. एल. दोषी** सेवानिवृत्त सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग समाजशास्त्र विभाग,उदयपुर	(8)
प्रो. हरिश दोषी सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग वीर नर्मद दक्षिण गुजरात विश्वविद्यालय, सूरत	(14,19)	**डॉ. मिथिलेश गुप्ता** सहायक आचार्य, समाजशास्त्र बाबू शोभाराम राजकीय कन्या महाविद्यालय अलवर	(15,17)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो.डॉ. बी.के.शर्मा
निदेशक
संकाय विभाग

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी ,**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**

पुनः उत्पादन - Nov 2012 ISBN No.: 13/978-81-8496-020-4

इस सामग्री के किसी भी अंश को व.म.खु.वि. कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। व.म.खु.वि. कोटा के लिये कुलसचिव व.म.खु.वि. कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

भारत में समाजशास्त्र का विकास

इकाई	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
खण्ड I	**भारत में समाजशास्त्र का विकास : परिचय**	
इकाई 1	भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि	7–14
इकाई 2	स्वतन्त्रता पूर्व भारत में सामाजशास्त्र का विकास	15–22
इकाई 3	स्वाधीन (स्वतन्त्रता के पश्चात्) भारत में समाजशास्त्र का विकास	23–29
इकाई 4	भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की प्रकृति एवं दिशाएँ	30–44
इकाई 5	भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन से संबन्धित विभिन्न उपागम	45–56
खण्ड II	**प्रमुख भारतीय समाजशास्त्रियों का योगदान**	
इकाई 6	राधाकमल मुकर्जी का योगदान	57–66
इकाई 7	डी.पी. मुकर्जी का योगदान	67–81
इकाई 8	जी.एस. घुर्ये का योगदान	82–103
इकाई 9	ए.आर. देसाई का योगदान	104–110
इकाई 10	एम.एन. श्रीनिवासन का योगदान	111–121
इकाई 11	लुई ड्यमों का योगदान	122–156
इकाई 12	आन्द्रे बेताई का योगदान	157–181
खण्ड III	**भारतीय समाजशास्त्रियों के अध्ययन के प्रमुख क्षेत्र**	
इकाई 13	कृषक संबंध	182–202
इकाई 14	सामाजिक आन्दोलन	203–220
इकाई 15	कमजोर वर्ग	221–234
इकाई 16	महिला अध्ययन	235–260
इकाई 17	परिवार, विवाह एवं नातेदारी	261–278
इकाई 18	औद्योगिक सम्बन्ध	279–292
इकाई 19	विकास अध्ययन	293–314

इकाई 1

भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि

इकाई की रुपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 प्राचीन भारतीय सामाजिक चिंतन

1.3 भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि

1.3.1 वैदिक हिन्दू दर्शन के विचार

1.3.2 जैन और बौद्ध सामाजिक विचार

1.3.3 मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम

1.4 भारत में समाजशास्त्र का विकास

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.8 संदर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- प्राचीन भारतीय सामाजिक चिंतन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि के बारे में जान सकेंगे ।
- भारत में समाजशास्त्र के विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

भारत में एक विशिष्ट विषय के रूप में समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव के पूर्व, प्राचीनकाल से लेकर उन्नीसवी सदी के अन्त तक सामाजिक विचारों की धर्म, दर्शन और आचारशास्त्र का प्रभाव है जिसकी जानकारी इस इकाई के अध्ययन से आप प्राप्त कर सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

आज समाजशास्त्र एक विषद समाज विज्ञान है । समाज विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, विधि विज्ञान, इतिहास और समाजशास्त्र सम्मिलित किये जाते हैं । समाजशास्त्रिय सम्मिलित किये जाते हैं । समाजशास्त्र समूहों और सामाजिक संरचनाओं में अन्त:क्रियाओं में होती है, उनका अध्ययन करना है । आज हमारे देवड़ में समाजशास्त्र एक समृद्ध विज्ञान हैं ।

भारत का क्लासिकल यानी शास्त्रीय साहित्य है । साहित्य हमारी बुनियादी संस्थाओं जैसे परिवार, जाति-बिरादरी, गाँव-चोपाल, धर्म आदि की पर्याप्त जानकारी देता है । विवाह जैसी

संस्था का तो इसमें पर्याप्त वर्णन हैं लेकिन यह सब उल्लेख मिथिक के रूप में, कथा-कहानी के स्वरूप में, धार्मिक उत्सवों के रूप में देखने को मिलता है ।

आखिर यह कलासिकल या शास्त्रीय साहित्य क्या है? लोक भाषा में, संस्कृत साहित्य में देखा जा सकता है । बाद में चलकर संस्कृत भाषा अपभ्रंश हो गई । इसने बोलियों का रूप ले लिया और इस तरह यह साहित्य समाजशास्त्र के उद्‌गम का स्त्रोत बन गया । इस साहित्य में परिवार, जाति, बन्धत्व, विवाह, गाँव आदि का विवरण तो है । लेकिन इसमें जो एक व्यवस्थित विज्ञान का स्वरूप होना चाहिये, वह नहीं है । समाजशास्त्र ने इसी क्लासिकल साहित्य से उधार लेकर समाजशास्त्र को विकसित किया है । इस इकाई में हम यही देखेंगे कि जिसे हम समाजशास्त्र कहते हैं, उसकी जड़ें या उसका उद्‌गम भारतीय शास्त्रीय साहित्य में है । यह शास्त्रीय में है । यह शास्त्रीय साहित्य संस्कृत भाषा में है, लोक कथाओं में है, कहावतों और अगणित मुहावरों में है ।

1.2 प्राचीन भारतीय सामाजिक चिंतन

प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत थे इसकी धार्मिक कृतियाँ जिनमें वेद, उपनिषद, सूत्र एवं पुराण आदि सम्मिलित है । विभिन्न धर्मो का उत्पत्ति स्थान होने की दृष्टि से इसके धार्मिक ग्रंथों में भी सामाजिक चिन्तन का विकसित स्वरूप दिखाई देता है । हिन्दू ग्रंथों में रामायण, महाभारत एवं भगवद्‌गीता आदि महत्वपूर्ण है । आदि पुरूष, मनु के साहित्य में भी सामाजिक संहिताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है ।

भारत की भूमि पर विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है । हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म आदि ने दार्शनिक चिन्तन के साथ-साथ सामाजिक पृष्ठभूमि देने का भी प्रयत्न किया है । इससे धर्म केवल परलौकिक ही नहीं, लोकिक एवं सामाजिक भी बन गया है । वैदिक साहित्य में परिवार, व्यक्ति एवं समाज के समुचित पोषण हेतु आवश्यक क्रियाओं को ही धर्म कहा गया है । वैदिक-कालीन चिन्तन नैतिकता से ओतप्रोत थे तथा उसमें सत्य, दया एवं सज्जनता आदि पर पर्याप्त जोर दिया गया है ।

इसी कर्म के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा की अनश्वरता का सिद्धान्त है । आत्मा अमर है, वह कमी नहीं मरती वह अपना शरीर बदलती रहती है । जैसे-जैसे आत्मा ने कर्म किए उसी के अनुसार उसका स्वरूप अथवा शरीर निश्चित हो जाता है ।

जाति प्रथा की सामाजिक संस्था भी भारतीय समाज की विशेषता है । हिन्दू धर्म के विकास ने जाति को उत्पन्न कर समस्त हिन्दुओं को चार भोगों में विभाजित कर दिया- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र । इन चारों के कार्यो को भी 'मनु' ने अपनी-अपनी श्रेणी के अनुसार परिभाषित कर दिया । इसे समाज बिना किसी विरोध के स्वीकार करता आ रहा है । इन जातियों में परस्पर खान-पान, विवाह आदि के बारे में कई प्रकार के निषेध प्रचलित है जिनका पालन करना अनिवार्य माना गया है ।

उपनिषदों में मनुष्य जीवन को चार भागों में बांट दिया गया है । प्रथम अवस्था में ब्रह्मचारी रहकर विद्‌यार्थी जीवन व्यतीत करना, दूसरी अवस्था में वैवाहिक जीवन व्यतीत

करना, तीसरी अवस्था में वानप्रस्थ लेना एवं चौथी अश्स्था में सन्यास ले लेना । दान-दक्षिणा भारतीय चिन्तन का प्रमुख विषय है । मोक्ष प्राप्ति के लिए दान-दक्षिणा देना आवश्यक माना है लेकिन ऐसा करते हुए किसी भी प्रकार की फल प्राप्ति की कामना का निषेध किया गया है ।

विवाह सम्बंध स्थापित कर परिवार का निर्माण एक धार्मिक कार्य माना गया है । बिना पत्नी एवं बच्चों के व्यक्ति अपूर्ण माना जाता है एवं मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं माना जाता है । एक विवाह प्रथा यहाँ का आदर्श है । यहां विवाह को जीवन-भर का स्थायी सम्बन्ध माना है। और प्रधानत: यह स्त्री के लिए आवश्यक है । पली के मरने पर पुरूष अन्य स्त्री से पुन: विवाह कर सकता है लेकिन पति के मरने पर स्त्री ऐसा नहीं कर सकती । अन्तर्विवाह यहां की प्रधान विशेषता है । अन्तर्जातीय विवाह को पूर्ण निषिद्ध माना गया है । हिन्दू परिवार पूर्णत: पितृसत्तात्मक पितृस्थानी एवं पितृवंशीय होते हैं । पिता परिवार का मुखिया या कर्ता कहलाता है । वैदिक युग में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे । लेकिन बाद में उन अधिकारों में कमी आ गई और स्त्रियो को दूसरों पर आश्रित रहना पडा । बचपन में माता-पिता पर, युवावस्था में पति पर एवं वृद्धावस्था में बच्चों पर आश्रित होती है । उसकी स्वतंत्रता के ऊपर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं ।

1.3 भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि

भारतीय सामाजिक चिंतन पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि एक और तो विभिन्न क्षेत्रों, नृजातियों, भाषा भाषियों और धर्मावलम्बियों की अपनी विशिष्टताएँ हैं जो उनके चिंतन में दिखाई पड़ती है । दूसरी और सदियों के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक तथा पारस्परिक तथा अन्तःक्रिया के बीच से विनिमय तथा समन्वय की प्रक्रिया भी प्रस्फुति होती रही है । इसके फलस्वरूप भारत में समान सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक संस्थाएं विकसित हुई । एक स्थान तथा समय विशेष में विकसित होने पर धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों का समूर्ण देश में दीर्घकालिन प्रभाव पड़ता रहा । एक तरफ निजत्व व वैशिष्ट्य, दूसरी तरफ की समन्वय व सम्पर्क दोनों तरह चिन्तन परम्परा भारत में दिखाई देती है ।

भारत में एक विशिष्ट विषय के रूप में समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव के पूर्व, प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक सामाजिक विचारों की लम्बी परम्परा हैं । 1920 के पश्चात् ही समाजशास्त्रीय परम्परा विकसित हुई अन्यथा उसके पूर्व के विचारों को समाजिक तो कह सकते हैं, समाजशास्त्रीय नहीं । कुछ ऐसे लेखक ऐसे हैं जिनके विचारों को सामाजिक तथा समाजशास्त्रिय दोनों के अन्तरगत देख सकते है । जैसे विनयकुमार सरकार, भगवानदास, केवल मोरवानी, पी.एन. प्रभु बजेन्द्रनाथ शील, राजाराम शास्त्री इत्यादि ।

भारत के समाजशास्त्रीय चिंतन की परम्परा को कालक्रम से समझने में राधाकमल मुखर्जी, डी.एन. मजूमदार, डी.पी मुखर्जी एस.ड्यूमा, ए.के. सरन, एफ.जी. बेली, टी.के. उन्नीथान रामकृष्ण मुखर्जी, योगेन्द्रीसंह, डी.एस. धनाग्रे, योगेश अटल एस.पी. नागेन्द्र की कृतियाँ उल्लेखनीय है । (धनागरे, 1993)

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित भारत के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का आदि रूप वेदों में मिलता है । वेदों में आरम्भिक भारतीय जनों-दर्स्तुओं तथा आर्यो के परस्परिक संघर्ष और सम्पर्क, परिवार, विवाह, कर्मकाण्ड, वर्ण आश्रम आदि का वर्णन है । वैदिक काल में ही भारतीय सामाजिक संरचना के चार प्रमुख स्तरों -वर्ण व्यवस्था, ग्राम समुदाय, कृषि पर आधारित व्यवस्था और संयुक्त परिवार प्रणाली की नींव पडी ।

प्राचीन भारत के सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था थी, ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के एक मंत्र में वर्णो की उत्पत्ति का विवरण मिलता है । महाभारत में वर्षो से जातियों की उत्पत्ति के सयम्र में बताया गया है ।

प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था में चार वर्णो का जिक्र किया गया है जो इस प्रकार है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र । ये चार वर्ण व्यक्तियों के व्यवसाय के द्योतक थे जो बाद में जातियों के रूप में परिवर्तित हो गये जो आजतक भारत में प्रचलित है ।

परिवार प्राचीन काल से ही परिवार को समाज की एक अति महत्वपूर्ण संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है । इसकी महत्ता का अनुभव करते हुए वैदिक युग में शिक्षा समाप्त करने पर प्रत्येक स्नातक को आचार्य यह उपदेश देता था - प्रजतन्तु मा व्यवच्छेत्सी तैतरीय उपनिषद 1/11/1 अर्थात सन्तानरूपी तन्तु विच्छेद मत करो ।

भारत में जितनी भी सामाजिक संस्थाएं हैं उनमें हिन्दू विवाह विशेष उल्लेखनीय है । इसका कारण यह है कि उत्तरवैदिक युग से ही एक हिन्दू के जीवन में गृहस्थ आश्रम को बहुत महल दिया गया है । मनु ने स्वीकार किया है कि जैसे सब वायु के सहारे जीते है, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ आश्रम से जीवन धारण करते है । (हुसैन, 1976, 33)

1.3.1 वेदिक हिन्दू दर्शन के विचार

वैदिक हिन्दू-दर्शन में सामाजिक चिन्तन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है । वैदिक साहित्य के सूक्ष्म अवलोकन से पता चलता है कि उस समय समाज व्यवस्था काफी उन्नत थी और जीवन के आवश्यक मूल्यो पर चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था । साथ ही उस सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने वाले आवश्यक तलों पर भी गंभीरता से विचार चल रहा था । उस समय वर्णाश्रम अवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को संचरित कर रही थी । यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय का उत्तम उदाहरण है ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरूषार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे' जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता था और अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाज जीवन को उन्नत बनाने के योग देता था । कक्ष को हिन्दू जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है । वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज में स्त्रियों की स्थिति उनके आत्मविकास, शिक्षा, विवाह, सम्पति आदि विषयों में प्राय: पुरूषों के समान थीं । पत्नी के रूप में तो उनकी स्थिति बहुत उँची थी ।

1.3.2 जैन और बौद्ध सामाजिक विचार

वैदिक संस्कृति धर्म, वर्ण, आश्रम, कर्मकाण्ड बलि तथा यज्ञ पर आधारित थी । ईसा पूर्व छठी की सदी में वर्ण पर आधारित सामाजिक असमानता पुरोहितों द्वारा विकसित कर्मकाण्ड की पद्धति, बलि तथा हिंसा के विरुद्ध आवाज उठायी गयी । इनमें महावीर स्वामी एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का नाम महत्वपूर्ण हैं ।

इस तरह जैन और बौद्ध धर्म की विचारधारा और चार्वाक् के भौतिकबादी दर्शन में वैदिक परम्परा से असहमति के स्पष्ट लक्षण उपलब्ध है । बौद्ध ग्रंथों में पहला बर्थ ब्राह्मण नहीं बल्कि क्षत्रिय है । जैन ग्रंथों में वैश्यों को श्रेष्ठ तथा महाजन की संज्ञा दी गयी है । बौद्ध संधों तथा विहारों में वर्षा पर आधारित व्यवस्था या जातिगत- असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था । बौद्ध धर्म ग्रंथों में पिटक, जातक, पालि बोद्ध और संस्कृत बौद्ध ग्रंथ प्रमुख है । जातक ग्रंथों में बौद्धकालिन भारत की सामाजिक. आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का विवेचन मिलता है । पालि बौद्ध और संस्कृत ग्रंथों में अशोक महान के समय की समाज व्यवस्था का उस समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक बिशेषताओं का पता चलता है । (पी.एन.प्रभु : 1954)

जैन धर्म के साहित्य में मानव जीवन का लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष-प्राप्त करना बतलाया है । जैन धर्म का सामाजिक दर्शन नकारात्मक है जैसे 'जीव हिंसा नहीं करनी चाहिए' ' "झूठ नहीं बोलना चाहिए' "चोरी नहीं करनी चाहिए' आदि । इस प्रकार जैन धर्म का सामाजिक चिन्तन व्यक्ति को पाप में न पड़ने देने एवं पापरहित जीवन के लिए नकारात्मक नियमों से सम्बन्धित है । जैन मत के अनुसार खेती करना पाप माना जाता है क्योंकि ऐसा करने में जीवों की मृत्यु होने की पूर्ण सम्भावना है और जो कोई ऐसा करता है वह अच्छा जैनी नहीं होता है । इस दृष्टि से जैन धर्म के अधिकतर अनुयायी व्यापारी है । जैन धर्म में जाति-पाति, छुआछूत आदि के अन्तर का कोई स्थान नहीं दिया गया है ।

बुद्ध ने एक ऐसे दर्शन की स्थापना की जो व्यक्ति में किसी अव्यक्त शक्ति के निवास में विश्वास करता है और उस शक्ति का विकास करके मनुष्य "निर्वाण" अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । बुद्ध धर्म के सामाजिक विचार नकारात्मक न होकर सकारात्मक है । इस धर्म में "दया" को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और इसी को निर्वाण प्राप्ति का स्त्रोत माना गया है । दयालुता के अतिरिक्त आत्म-नियंत्रण एवं संयम पर भी इसमें अधिक जोर दिया गया है । बुद्ध धर्म जाति-पाति के भेद में विश्वास नहीं करता और उसकी यह मान्यता है कि जन्म एवं व्यवसाय के आधार पर वर्ग भेद करना गलत एवं अनावश्यक कार्य है ।

1.3.3 मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम

मध्यकाल को हम राजपूत काल एवं मुस्लिम काल दो भागों में बांट सकते है । सातवी सदी से बारहवी सदी तक उत्तरी भारत में राजपूतों का शासन रहा । इस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य बने जो परस्पर जुडते रहते थे । इस युग में धार्मिक कर्म काण्डों की वृद्धि हुई । उच्च वर्ग का नैतिक पतन हुआ । वे विलासी जीवन जीने लगे । दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा का प्रचलन हुआ । बाल विवाह एवं जौहर का प्रचलन था । विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध एवं

सत्ती प्रथा का प्रचलन था । ग्यारहबीं सदी में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज चौहान को हराकर मुस्लिम राज्य की नींव डाली ।

मध्यकालीन धार्मिक, सामाजिक चिंतन की धाराएँ भारत में दिखाई पडती है । पहली धार के अन्तर्गत शास्त्रीय परम्परा से प्रभावित संत प्रचारक, सुधारक आदि है । इन लोगों ने स्थापित परम्पराओं को -स्वीकार किया । स्थापित और स्वीकृत सामाजिक मर्यादा को शक्तिशाली करना इन संतों का प्रमुख उद्देश्य था । दूसरी धारा के अन्तर्गत ' हिन्दू धर्म के उन धार्मिक आन्दोलनों को सम्मिलित किया जा सकता है, जिन्होंने जात-पात, छुवाछूत तथा पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती दी । कर्नाटक के वीर शैव और असम के नव वैष्णव की परपंरा इसी के अन्तर्गत आती है । बारहवीं सदी में उदभूत वीर शैव सम्प्रदाय के अधिकतर मर्हत और पुरोहित गैर ब्राह्मण है ।

मध्यकालीन चिंतन की तीसरी विचारधारा इस्लाम के शास्त्रीय पक्ष से सम्बन्धित है । मध्यकालीन चिंतन की चौथी धारा सशक्त असहमति और प्रतिरोध की है । इस विचारधारा के लोगों ने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मो की धार्मिक कट्टरता, पुरोहितों की संकीर्णता पर प्रहार किया । इसके साथ ही उन लोगों ने दोनों धर्मो के मानवीय पक्ष निगुर्ण एकेश्वरवाद तथा सामाजिक समानता को स्वीकार किया । मध्यकालीन चिंतन की पांचवी धारा उन असंख्य भक्त एवं कवियों की है, जिन्होंने सारे देश में छूआछूत, जातिगत असामनता और धार्मिक कट्टरता का विरोध किया । इस काल की चिंतन की अंतिम धारा सूफी और फकीरों की थी । ये लोग इस्लामकी विचारधारा से प्रभावित थे ।

1.4 भारत में समाजशास्त्र का विकास

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया उपनिवेवद से प्रभावित रही है । औपनिवेशिक प्रशासकीय आवश्यकताओ के मद्दे नजर सामाजिक जीवन के अध्ययन पर जोर दिया गया । 1 820-50 के बीच तत्कालीन भारत में शिक्षा, जनसंख्या, धर्म, जाति, जनजाति, ग्राम और नगरों की संरचना पर व्यापक प्रकाश डाला गया है । 19 वीं और 20 वीं शताब्दी के मध्यान्तर पर्याप्त मात्रा में मानवजाति के अध्ययन हुए ।

भारतीय सामाजिक संरचना का मुख्य आधार जाति रहा है । उपनिवेश काल में जो ब्रिटिश शासन रहा हैं, उससे जुडा हुआ समूर्ण ज्ञान वस्तुत: मानवशास्त्र या मानवजाति अध्ययनों से जुडा हुआ है । जब रिजले ने मारते के लोगों पर अपनी पुस्तक लिखी तब उन्होंने उल्लेख किया कि ब्रिटिश राज को भारत के बारे में जो भी ज्ञान था, वह उन्हें ब्राह्मणों से प्राप्त हुआ था । यह ब्राह्मण ही थे जिन्होने द्विज की अवधारणा को रखा था । मतलब हुआ कर्म ही मनुष्य के जन्म को निर्धारित करता है । अगर अच्छा कर्म किया तो ब्राह्मण जाति में ही अगला जन्म होगा । हरबर्ट रिजले ने भारत के लोगों की मनोभावना को व्यक्त करते हुए कहा था कि भारत की प्रभावी जाति ब्राह्मण ही है । सम्पूर्ण उपनिवेशकाल में अंग्रेजों के लिये धर्म और जाति विवादास्पद मुद्दे रहे हैं ।

19 वी व 20 वी शताब्दी के आरम्भ में मध्यवर्ग ने भारतीय समाज में सुधार और आधुनिकीकरण के विषय में प्रयास शुरू किया, अर्थात् सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के माध्यम

से सुधारकों ने सामाजिक व्यवस्था के प्रत्येक उस पक्ष में परिवर्तन का आग्रह किया, जिसमें तार्किकता का अभाव था, अन्याय व असमानता का पुट था और जडता का बोध था । अत: समाज सुधार आन्दोलनों ने विशेष करके हिन्दू जातियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन की पहल की जिसके माध्यम से सती प्रथा बाल विवाह और वैधव्य जैसी अमानवीय प्रथाओं पर इन आन्दोलनों ने निशाना साधा तथा अंधविश्वास एवं कुरीतियों का विरोध किया ।

दयानन्द सरस्वती आर्य समाज आन्दोलन के प्रणेता थे । उन्होंने वेदों की शुद्धता को अपनाने पर जोर दिया । जातिवाद को संकीर्णता एवं अंधविश्वासों को दूर करने पर बल दिया । दयानन्द एंग्लों वैदिक कालेजों (D.A.V.) ने उत्तर भारत में बडे पैमाने पर शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया । राजाराममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना करके तत्कालीन समाज की उन बुराइयों पर प्रहार किया, जो व्यवस्था में विभेद, शोषण व अन्याय पर आधारित थी । इसी समय महाराष्ट्र के न्यायाधीश गोविन्द रानाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना की । इन्होंने रूढिवादी हिन्दुओं का नेतृत्व किया । कूंकइ राज़राममोहन राय ने पाश्चात्य उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया अत: रूढिवादी परम्पराओं एवं आधुनिकता के बीच एक द्वंद प्रारम्भ हो गया (उनीथान, 1965) इनके अतिरिक्त सैयद अहमद खां, केशवचन्द्र सेन, ज्योतिवा फुले, नारायण गुरू आदि ने एक नये सांस्कृतिक वैचारिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया । धर्म के क्षेत्र में इन आन्दोलनों ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और कहा कि धार्मिक कर्मकाण्ड को बहुत सरल तथा सामान्य बना देना चाहिये । इन आन्दोलनों ने धार्मिक व्यापकता पर जोर दिया । किसी भी संस्था और प्रथा की प्रासंगिकता को इन आन्दोलनों ने तर्क तथा विवेक की कसौटी पर कसने की सलाह दी ।

1.5 सारांश

प्रत्येक विषय का उदय किसी विशेष परिवेश के स्वरूप और स्तर से जुड़ा होता है, और उसी परिवेश में उस विषय के मुख्य विचारों से आकार मिलता है । समाज व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-विषय को भी नए आयाम मिलते हैं । भारत में समाज पर नैतिक विचारों का प्रभाव की समृद्धशाली परम्परा रही है । विभिन्न बौद्धिक धाराओं की प्रष्ठभूमि में आधुनिक समाजशास्त्र का विकास हुआ, और उसकी विषय वस्तु का निर्धारण हो सका । इस संदर्भ में हमने भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि भारतीय विद्याशास्त्र (Indology) एवं प्राचीन मूलपाठ (Textual) परिप्रेक्ष्य तथा भाषायी अध्ययनो के द्वारा की है जो प्राचीन इतिहास, महाकाव्यों, धार्मिक हस्तलिखित साहित्य आदि स्त्रोतों पर आधारित है ।

हमने इस इकाई में प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय शास्त्रीय साहित्य में समाजशास्त्रीय विचारों की व्याख्या की है । प्राचीन भारत में महाभारत, रामायण, मध्यकाल में अनुभवाश्रित अभिलेख एवं यात्रा-विवरण तथा सामाजिक सुधार आन्दोलनों के साथ-ही-साथ औपनिवेशिक शासन में सामाजिक अध्ययन भारत में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि के आधार रहे है ।

1.6 शब्दावली

भारतीय विद्याशास्त्र एवं प्राचीन मूल पाठ - यह प्राचीन इतिहास, महाकाव्यो धार्मिक हस्तलिखित साहित्य आदि स्त्रोतों पर आधारित है ।

आर्य समाज की स्थापना दयानन्द सरस्वती ने की जिसके द्वारा जातिवाद की संकीर्णता एवं अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया ।

ब्रह्मसमाज - की स्थापना राजाराम मोहन राय ने करके तत्कालीन समाज की उन बुराइयों पर प्रहार किया जो व्यवस्था में विभेद, शोषण ब अन्याय पर आधारित थे ।

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारों में सामाजिक एवं समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि की व्याख्या कीजिये ।

2 भारतीय शास्त्रीय साहित्य में विभिन्न बौद्धिक धाराओं द्वारा किस प्रकार समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ ।

3 प्राचीन सामाजिक चिंतन में वैदिक हिन्दू दर्शन के विचारों की व्याख्या कीजिये ।

4 जैन और बौद्ध धर्म के सामाजिक विचार किस प्रकार समाजशास्त्रीय है? व्याख्या कीजिये ।

5 भारत में समाजशास्त्र के विकास की पृष्ठभूमि सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों की भूमिका की चर्चा कीजिये ।

1.8 संदर्भ ग्रंथ

1 धनागरे, डी.एन. (1998) थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिब इन इंडियन सोशियोजी : रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर

2 डक, टी.एम. (1991) सामाजिक चिन्तन (भाग 2), हरियाणा साहित्य अकादमी, चडीगढ

3 दोषी, एस. एल. (2009) भारतीय सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर

4 उनीथान टी.एम.के. (1965) फार ए सोशियोलॉजी इन इंडिया : प्रेन्टिस हाज ऑफ इंडिया, नई दिल्ली

5 नागला बी.कै. (2008) हंडिवन सोशियोलॉजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर

6 प्रभु पी.एन. (1954) हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन

7 सिंह योगेन्द्र (1973) माडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रडिशन : थामप्सन प्रेस ऑफ इंडिया, दिल्ली

इकाई 2

स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास

2.2.1 प्रथम चरण (1769-1900)

2.2.2 द्वितीय चरण (1900-1950)

2.3 स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विश्वविद्यालयों में विकास

2.3.1 कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

2.3.2 बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

2.3.3 लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

2.3.4 दक्षिण भारत में समाजशास्त्र

2.4 समीक्षा एवं सारांश

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.6 संदर्भ ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रापूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास कैसे हुआ इसका व्यवस्थित वर्णन देता है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको निम्न बिन्दुओं की स्पष्ट जानकारी होगी ।

- स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास किन कारणों से हुआ ।
- स्वतंत्रता पूर्व भारत में किस प्रकार के अध्ययन समाजशास्त्र में किये गये ।
- स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास विश्वविद्यालयों में कैसे हुआ?

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र का जन्म यूरोप में 19 वी शताब्दी में हुआ । औद्योगिक क्रांति और फ्रांस की क्रांति ने समाज की धारणा के बारे में लोगों को सोचने की प्रेरणा दी । समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की धारणा से आम आदमी भी परिचित हो गया । इसके साथ न केवल औद्योगिक क्रांति ही हुई । क्लार्क मलिन बस्तियां बढ़ी और कारखाने के कामगारों का जीवन विपरीत रूप से प्रभावित हुआ । उनके परम्परागत व्यवसाय समाप्त हो गए । औद्योगिकरण नगरीकरण और पूँजीवाद ने समाज की नई संरचना तो बनाई किन्तु यह संरचना अपने दुष्परिणामों से बच न सकी । अत: नई सृजित परिस्थितियों को समझना भी अवयशक हो गया और इन्होंने समाजशास्त्र के विषय के आविर्भाव को अनिवार्य बना दिया, जिनके अधीन इनका अवस्थित

अध्ययन हो सके । इसका मुख्य लक्ष्य समाज के ऐसे निर्माण से था जो उद्योगों के दुष्परिणाम से मुक्त हो ।

जिन सिद्धान्तवेत्ताओ ने समाज की उपरोक्त समस्याओं के बारे में पहल करके व्यवस्थित रूप से विचार किया, उन्हें समाजशास्त्र का संस्थापक जनक माना जाता है । इस नाते अगस्त कोट, हरबर्ट स्पेन्सर, ईमान दुर्खीम, कार्ल मार्क्स और मेक्स वेबर को बिना किसी ववाद के संस्थापक जनक माना जाता है और समाजशास्त्र की उत्पत्ति के बारे में इनका चिंतन समय की कसौटी पर खरा उतरा है । इन संस्थापकों ने समाजशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयास किया है । इसकी प्रकृति का विश्लेषण किया है और इसकी विषय वस्तु के अध्ययन के लिए सामाजिक प्रघटना और पद्धतिशास्त्र आधार भी प्रस्तुत किए । यदि समाज एक वास्तविकता है तो वैज्ञानिक विधि से ही इसका अध्ययन किया जाना चाहिए । इस संदर्भ में स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास कैसे हुआ, इसका अध्ययन हम इस इकाई में करेंगे ।

2.2 स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास

स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम चरण 1789-1900 जिसमें अंग्रेजों ने अपने शासन में भारतीय समाज को समझने के लिसे विद्वानों समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिये प्रेरित किया । दूसरे चरण में 1900-1950 में समाजशास्त्र की उत्पत्ति एक विषय के रूप में हुई तथा कॉलेजों छ विश्वविद्यालयो में समाजशास्त्र का अध्यापन एवं अनुसंधान किया जाने लगा ।

इन्हीं चरणों को एम.एन. श्रीनिवास 1973 ने अपने एक पंख में 1773 से 1900 तक के काल को भारतीय मानवशास्त्र के साथ-साथ समाजशास्त्र का प्रारम्भिक काल माना है लेकिन समाजशास्त्र के विकास के इस प्रथम कालखण्ड को सही मायने में समाजशास्त्र का प्रारंभिक काल नहीं माना जा सकता है । इसके असहमति के दो कारण है - 1 जब समाजशास्त्र एक विषय के रूप में 19 वी सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में जन्म दिया है तो भारत में इसका उद्गम 16 थी सदी में खोजना अवैज्ञानिक है । 2 19 वीं सदी तक भारतीय समाज और संस्कृति पर जितने भी काम किये गये हैं वे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बित्कुल ही गैर समाजशास्त्रीय थे वे तमाम मुख्य रूप से इतिहास, धर्मशास्त्रीय साहित्य एवं नृजाति विज्ञान वे अंग थे । समाजशास्त्र की स्थापना भारत में 20 दी सदी के प्रारम्भ में हुई है जिसे एम.एन. श्रीनवास ने समाजशास्त्र के विकास का दिवतीय काल खण्ड (1900-1950) माना है । सही मायने में दिवतीय काल खण्ड ही समाजशास्त्र के विकास का प्रथम काल खण्ड ही था। समाजशास्त्र के क्षेत्र में मानवशास्त्रियों का काफी बोल बाला था । फिर भी हम इन दोनों चरणों के बारे में व्याख्या करेंगे जिनके बारे में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचाररखे है ।

2.2.1 प्रथम चरण

इस चरण में सबसे पहले प्रयास 1769 में हेनरी बेरेलस्ट की देख-रेख में किया गया जो तत्कालिन बंगाल एवं बिहार के गवर्नर को फ्रांसीसी बुशान ने 1907 में मानव सेर्वेक्षण

किया। 1916 में अपनी पुस्तक हिन्दू मेनर्स. कस्टमस एवं सेरे मोनिज में एवं ड्यूबों जो एक मैसूर फ्रेंच मिशनरी के सदस्य थे ने जाति व्यवस्था की विशेषताओं एवं विभिन्न 'जातियों के व्यक्तियों के बीच अन्त:क्रियाओं का वर्णन किया है । ए जाग्राफिक्स स्टेटिसकल एंड हिस्यटिकल डिसकृपसन ऑफ हिन्दोस्तान एंड एज्जेसेन्ट कंट्रीज के नाम से 1820 में हकमिल्टन गजेटियर प्रकाशित हुई जिसमें भारत की जनसंख्या का अनुमान लगाया गया ।

इस प्रकार के कार्यो ने 19 वीं सदी के मध्य में व्यवस्थित अध्ययनों के लिये आधार बताया । 1871 में ब्रिटिश सरकार ने प्रथम सम्पूर्ण भारत की जनगणना की । इसकी आवश्यकता कुछ समस्याओं के बारे में सूचना एकत्रित करना तथा इसका उद्देश्य उन समस्याओं को हल करता था । इनमें से मुख्य समस्याएँ अकाल, महामारी, स्वास्थ्य इत्यादि से जुडी हुई थी । इसके अलावा उन मनुष्यों के बारे में विस्तृत जानकारी लेना जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन से विलिन हो रहे थे । उपनिवेशीय सरकारी सदस्यों जिनमें मुख्य विलसन, रीजले, बेन्स ब्लन्ट थर्सटन, ओ माले हटन इत्यादि के प्रयासों से जनसंख्या, समाज एवं सांस्कृतिक जीवन के बारे में सूचना का जनगणना एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बना ।

ब्रिटिश प्रबंधकों ने जनमानस के जीवन शैली को समझने के लिये भारतीय शास्त्रीय साहित्य को समझने की जिज्ञासा ने भी मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों में रूचि दिखाई । इन प्रबन्धको ने धार्मिक व्यवहारों, रीति-रिवाजों एवं कानून संबंधी मसलों को सुलझाने में संस्कृत एवं अरेबिक विद्वानो की सहायता न्यायधीशों को प्रदान की । 1176 में ब्रिटिश न्यायधीशों के लिये संस्कृत विदवानों की सहायता से एक अंग्रेजी मे हिन्दू लॉ पर एक पुस्तक तैयार की गई । बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के संस्थापक अध्यक्ष विलयन जोन्स की संस्कृत में खास रूचि थी । उनका सोसायटी ऑफ बंगाल 1784 के लिए संस्कृत एवं अरेबिक साहित्य के अध्ययनों के आधार पर लेख प्रकाशित करना था । 19 वीं सदी में मेक्समूलर एवं जर्मन विद्वान ने कई भारतीय शास्त्रीय ' साहित्य का जर्मन में अनुवाद किया । जिनका बाद में अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया । इस प्रकार के साहित्य का 19 वीं सदी के अन्तिम दशकों के विद्वानों ने अपने अध्ययनों में प्रयोग किया । उदाहरण के तौर पर, अपनी दो पुस्तकों मे हैनरी मेन ने, एनशियेन्ट ली तथा विलेज कम्यूनिटिज इन द इस्ट एंड बेस्ट 1871 पुस्तकों में भारत पर किये गये अध्ययनों में उपरोक्त कहे गये साहित्य का जिक्र किया । वे भारत भी आये । कार्ल मार्क्स एव मेक्स वेबर के अध्ययन समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण है उनमें भी इस साहित्यों के द्वारा भारत के बारे में सूचनाओं का उपयोग किया गया ।

इन अध्ययनों के आधार पर अंगेजों ने भारत में शासक के सरल संचालन में उपयोग किया । अत: भारत में शासन करने के लिये, ब्रिटिश पदाधिकारियों ने भारतीय समाज एवं संस्कृति के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक समझा जो शासक के संचालन में एक सरल साधन बना । उन्होंने पूँजीपति परिवारों एवं उनके रिवाजों के बारे में सूचनाएँ एकत्रित की जिनमें उन्हें एकत्रित में सहायक हुई । यह सोचा गया कि स्थानीय समाजों के नियमों एवं रिवाजों के अनुसार शासित किया जाएगा तो शान्ति एवं सांमजस्य बना रहेगा । इसी विचार से भारत में समाजशास्त्र का उदभव हुआ ।

2.2.2 द्वितीय चरण - (1900-1950)

प्रारम्भ से ब्रिटिश पदाधिकारियों ने भारतीय जनता के नियमों, रिवाजों तथा जीवन शैली के अध्ययनों को जारी रखा । क्रुक, शेरिग थर्सटन, रसेज, ही शलाल इवेट्सन तथा अन्य कई विद्वानों से जाति एवं जनजातियों पर ग्रंथ तैयार करवाये । हर ग्रंथ में भारत के विभिन्न समाजों उनकी जनसंख्या एवं फैलाव का संक्षिप्त विवरण था । कुछ ग्रंथों में जनजातियों के जातियों में बदलाव को अंकित किया है । सर हर्बट रिजेल ने अपनी पुस्तक पीपल ऑफ इंडिया 1916 में सर्वप्रथम जनजाति-जाति की निरन्तरता की चर्चा की । इसके साथ ही यूरोप के मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने 1991-1902 में गहन क्षेत्रिय कार्य किया । 1906 में डब्लू.एच. रिवर्स ने टोडा, निलगिरी के चरागाही समुदाय पर एक मोनोग्राफ प्रकाशित किया । उन्होंने बाद में अपने विद्यार्थी ए.आर. ब्राउन को अंडमान आइलैण्ड के क्षेत्रियकार्य के लिए भेजा। यह ब्राउन बाद ए.आर. रेड्किल्फ ब्राउन के नाम से जाना गया । ब्राउन ने दो वर्ष 1906-08 अंच्मानिज के साथ बिताये लेकिन वहां के लोगों पर मोनोग्राफ 1922 में प्रकाशित हुआ । रिवर्स को सबसे प्रथम कलकत्ता मानवशास्त्र दिमाग के अध्यक्ष के लिये चुना गया लेकिन उनकी मृत्यु 1921 में होने के कारण दिमाग का पदभार ग्रहण नहीं कर पाये । उन्होंने जो व्याख्यान कलकत्ता में देने के लिए लिखे थे उनका प्रकाशन 1924 में सोशियल आर्गनाइजेशन के नाम से प्रकाशित हुए । भारतीय समाजशास्त्र में उनका प्रभाव उनके शिष्यों मुख्यतया: जी.एस धुर्र एवं के. पी. चटटोपाध्याय के कार्यो के द्वाराबता रहा ।

20 वी सदी के प्रथम दो दशकों में, एल.के. अनन्त कृष्णन अभ्यर एवं एस.सी.राय का मुख्य योगदान रहा । अययर ने केरल के सिदियन क्रिश्चिन के उपयोगी सर्वेक्षण के अलावा कोचिन एवं मैसूर जाति एवं जनजाति का ब्यौरा दिया । एस.सी. राय, जो पेशे से बकील थे, ने ओराव, मुंडा एवं बिरहारे जनजातियों का अध्ययन किया । इसी काल में भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के शैक्षणिक विषय के रूप में प्रारंभ करने के प्रयास किये गये ।

इसी काल में भारतीय समाज पर भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने कई महत्वपूर्ण अध्ययन किये । एस. सी.राय के अलावा जे.एच. हटन एवं जे.सी. मिल्स ने नागा पहाड़ियों की जनजातियों का विस्तृत अध्ययन किया । बेरियर एलविन एवं क्रिस्टोन बोन फ्यूर - हेमन्डॉर्फ ने जनजातियों की दशा में सुधार करने के लिये कुछ निश्चित उपागमों एह तरीकों को सुझाये । डी.एन.मजूमदार ने उत्तर एंव पश्चिम भारत में क्षेत्रिय कार्य किये एवं उत्कृष्ट कार्यो को प्रकाशित किया । उन्होंने 1947 में इस्टर्न एन्धोप्रोसोजिस्ट शैक्षणिक पत्रिका प्रकाशित करने की शुरुआत की । इस चरण के अन्तिम दशक में एम.एन. श्रीनिवास ने कुउर्स का अध्ययन किया जो 1942 में मेरिज एवं फ्रेमिली इन मैसूर के नाम से प्रकाशित हुआ ।

2.3 स्वतंत्रतापूर्व भारत में समाजशास्त्र का विश्वविद्यालयों में विकास

भारत में समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी दर्शन और वैज्ञानिक परंपराओं के आपसी टकराव का परिणाम है, फिर भी समाजशास्त्र पर भारत की अगणित आतंरिक प्रक्रियाओं का प्रभाद भी पडा है । इन प्रक्रियाओं में भारत वर्ष में ब्रिटिश उपनिवेशवाद तथा स्वतंत्र गणतंत्र की स्थिति भी सम्मिलित है । भारत वर्ष में समाजशास्त्र के प्रवर्तक किन्हीं अन्य विशिष्ट शैक्षिक विभागों में कार्यरत थे । समाजशास्त्र का कलकत्ता विश्वविद्यालय के राजनीतिक, आर्थिक और राजनीतिक दर्शन विमा में 1988 में प्रारंभ हुआ। शुरू में इन दिमागों में समाजशास्त्र के दो पर्चे विषय के रूप में रखे गये । हालांकि कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र एंव अलग विषय के रूप में 1976 में शुरू हुआ, इससे पहले समाजशास्त्र के विषयों को अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, मानव भूगोल और मानवशास्त्र के साथ पढ़ाया जाता था । कलकत्ता में समाजशास्त्र के प्रवर्तक दार्शनिक प्रशासनिक ब्रजेंद्रनाथ सील (1864-1938), अर्थशास्त्र विनयकुमार सरकार (1887-1949), मानवशास्त्र के.पी चट्टोपाध्याय (1887-1963) मानव भूगोलवेक्ता निर्मल कुमार बोस (1904 - 1972) थे ।

2.3.1 कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

बी.एल. सील के प्रयासों से 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के साथ समाजशास्त्र की पढ़ाई एक ऐच्छिक विषय के रूप में प्रारम्भ की गयी । बाद में इस विषय के साथ राधाकृष्ण मुकर्जी एंव विनयकुमार सरकार जैसे लोग जुड गये । 1921 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में के.पी चटोपाध्याय की अध्यक्षता में मानवशास्त्र के विभाग की स्थापना हुई और 1926 में बी.एस. गुहा जैसे मानवशास्त्री इस विभाग आ गये । लेकिन कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानवशास्त्रियों के एकाधिकार के कारण समाजशास्त्र एक विषय के रूप में कभी नहीं पनप सका ।

2.3.2 बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

भारत में समाजशास्त्र की वास्तविक उत्पत्ति का इतिहास बंबई (अब मुम्बई) विश्वविद्यालय के स्कूल इकोनॉमिक्स से आ हुआ है । अत: 1914 में बंबई विशवविद्यालय में समाजशास्त्र अध्यापन की शुरूआत हुई । उस समय इसकी पढ़ाई अर्थशास्त्र के साथ एक ऐच्छिक पत्र के रूप में की गयी । वहाँ 1919 में नागरिक शास्त्र के साथ समाजशास्त्र का संयुक्त विभाग स्थापित किया गया ओर पेर्टिक गेडिस इसके प्रथम अध्ययक्ष बने । इस प्रकार पेर्टिक गेडिस समाजशास्त्र के संस्थापक माने जाते हैं । जिनकी परम्परा को जी.एस. घुर्ये एंव के.एम. कपाडिया जैसे लोगों ने आगे बढ़ाया । पर ये लोग बुनियादी रूप से मानवशास्त्री ही थे । इनका प्रशिक्षण इंग्लैण्ड के मानवशास्त्र के क्षेत्र में ही हुआ था ।

वर्ष 1919 में बंबई विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र के साथ राजनीतिकशास्त्र को जोडा जाना महत्वपूर्ण था । किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण जानकारी जो बाद

में हुई जिसके आधार पर यह तथ्य प्रकाया में आया कि पेर्टिक गेडिस से भी पूर्व श्यामजी-कृष्ण वर्मा नाम के एक स्वतंत्रता सेनानी हुए थे, जो कि सामाजिक क्रान्तिकारी थे । समाजशास्त्र पर लिखा की स्वतंत्रता सेनानी होने के नाते उसकी रूचि भारतीय समाज को समझने और उसका विश्लेषण करने में थी । श्याम जी कृष्ण वर्मा ने एक शोध पत्रिका निकाली जिसका नाम इंडियन सोशियोलॉजिस्ट रखा । यह शोध पत्रिका अधिक समय तक नहीं चल सकी ।

2.3.3 लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र

मुम्बई के बाद समाजशास्त्र की पढ़ाई 1921 में बी.एन.सीज के प्रयास से लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रारभ हुई । साधाकमल मुखर्जी इस विभाग के प्रथम अध्यक्ष बने जिन्होंने अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के संयुक्त विभाग में समाजशास्त्र का विधिवत अध्ययन एवं शोध प्रारंभ किया । एक वर्ष बाद, डी.पी मुखर्जी भी विभाग मे नियुक्त हुए तथा 1928 में डी.एन मजूमदार की नियुक्ति आदिम अर्थ व्यवस्था की पढ़ाई के लिये हुई । लखनऊ विश्वविद्यालय के तीनों प्रखर अध्यापक राधाकमल मुखर्जी, धुर्तरिप्रसाद मुखर्जी तथा अवध किशोर सरन का निजी एवं विशिष्ट योगदान है । 1951 में समाजशास्त्र के एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई जो समाजशास्त्र एंव सामाजिक कार्य के नाम से जाना गया ।

भारत में इन तीनों केन्द्रों - कलकत्ता बम्बई एवं लखनऊ से समाजशास्त्रियों की पहली पीढ़ी तैयार हुई । इन्होंने भारत में इसके विकास के लिये अध्यापन और शोध दोनों ही कार्य किये । भारत में समाजशास्त्र के क्षेत्र में अत्यंत प्रतिष्ठित नाम है एम.एन. श्रीनिवास, के.एम. कपाड़िया इरावती कर्वे, एस. सी. दुबे, ए.आर. देसाई, इत्यादि ।

2.3.4 दक्षिण भारत में समाजशास्त्र

दक्षिण भारत में, 1928 बी.एन. सीज एंव ए.फ.वाडिया के प्रयासों से मैसूर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की शुरुआत हुई । उसी वर्ष उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में समाजशास्त्र में पूर्व स्नातक की पढ़ाई प्रारंभ हुई । जर्मनी में शिक्षा लेने के बाद जफर हसन नुस्मानिया विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विनाग में आये । पूणे विश्वविद्यालय में इस विषय की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में की गई जिसकी प्रथम अध्यक्षा ईरावती कर्वे हुई । 1920 से लेकर 1950 के बीच मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र में कई विद्वत-शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ ।

1917 से लेकर 1946 के बीच समाजशास्त्र का विकास एक विषय के रूप भारत में सभी विश्वविद्यालय में समान रूप से नहीं रहा और किसी रूप में उत्साहवर्धक भी नहीं रहा । इस चरण में केवल बम्बई समाजशास्त्र का एक केन्द्र रहा । बम्बई स्कूल भारतविद् एवं नृजातिविज्ञान का एक मिले जुले दृष्टिकोण का स्वरूप रहा । इस काल में बम्बई के कई विद्वानों का समाजशास्त्रीय अध्ययनों एंव अनुसंधानों में योगदान रहा । उनमें से मुख्य के.एम. कपाडिया, इराबती कर्वे, एस.वि. करनदीकर एम.एन. श्रीनिवासए ए.आर. देसाई, आई.पी देसाई, एम.एन. गोरे, डी.एन. दामले इत्यादि । आगे चलकर बम्बई विश्वविद्यालय के छात्र विद्वानों के

रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के विभागों की स्थापना में प्रयास किया और उनको विकसित किया ।

प्रारम्भ में मानवशास्त्र समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र इत्यादि साथ-साथ चल रहे थे. लेकिन 20 वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षो में तमाम विषय एक दूसरे से धीरे-धीरे अलग होने लगे । मानवशास्त्र और समाजशास्त्र जो एक दूसरे से विशेष रूप से जुड़ा हुआ था वह भी एक दूसरे से दूर होने लगा । इसके बावजूद मानवशास्त्री समाजशास्त्र के विकास पर काफी प्रभावपूर्ण ढंग से दखल देते रहे, जिसका अवशेष अब भी स्पष्ट रूप से भारतीय समाजशास्त्र में देखने मिलता है ।

2.4 समीक्षा एवं सारांश

यूरोप में विशेषकर फ्रांस एंव इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र का उदय औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक एह राजनैतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हुआ, लेकिन भारत में औद्योगिक क्रांति बहुत देर से प्रारम्भ हुई और समाजशास्त्र की उत्पत्ति में उपनिवेवादी के परिणामस्वरूप होने वाले पश्चिमीकरण एंव आधुनिक शिक्षा का प्रचार प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका रही ।

यूरोपीय शासकों एंव व्यापारियों ने अपने देश के मानवशास्त्रियों प्रशासकों एंव इतिहासकारों एंव इसाई धर्म के प्रचारकों को भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था, जनजातियों ग्रामीण समुदायसंयुक्त परिवार, धर्म, साहित्य एंव संस्कृति का अध्यापन करने के लिये काफी प्रोत्याहित किया ताकि वे भारत पर सफलतापूर्वक प्रमुख कायम रख सकें । इस प्रयास में अन्तर्राष्ट्रिय स्तर के भारतविद् या प्रात्येक्ता पैदा हुए । इन विहानों ने भारतीये समाज और संस्कृति का चित्र प्रस्तुत किया उससे ऐसा लगता है कि भारत एक बहुत ही पिछड़ा प्राचीन, दकियानूस विचित्र एंव स्थिर सभ्यता एवं संस्कृति वाला देश है ।

प्रारंभिक पाश्चात्य विहानों की कृतियों ने बहुत सारे भारतीयों को भी अपने समाज एंव संस्कृतिक का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया । भारतीय शिक्षा जगत में एक नये प्रकार की बौद्धिक क्रांति हुई । भारतीय शिक्षा प्रणाली का पाठशाला से विश्वविद्यालयों तक विस्तार हुआ । अत: पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों से काफी भारतीय लोग प्रभावित हुए और एक नये बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ । उनमें से कुछ लोगों ने, अन्य विद्वानों की कूतियों से काफी भारतीय लोग प्रभावित हुए और एक नव बुद्धिजीवि वर्ग का उदय हुआ । उनमें से कुछ लोगों ने अन्य विषय के अलावा, भारतीय दर्शन, सामाजिक एंव सांस्कृतिक विषयों में विशेष रूचि दिखायी। बे लोग प्राय: स्राभाविक तौर पर उच्चजाति एंव जमींदार परिवार से जुडे हुए थे । वे आर्थिक रूप से इतने सम्पन्न और सामाजिक दृष्टि से इतने जागरूक थे कि भारतीय महानगरों एंव इंग्लैण्ड जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके । प्रारम्भ में बुद्धिजीवि अंग्रेजी शासन के समर्थक थे और अग्रेजों की मदद से भारतीय समाज में सुधार तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार प्रसार में विशेष रूचि लेते थे । उस काल के विद्वानों को मुख्यत: दो भागों में बांटा जा सकता है - एक तो दे काल जो घोर राष्ट्रवादी थे और दूसरे बे मार्क्सवादी थे ।

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास किन कारणों से हुआ तथा किस प्रकार के अध्ययन समाजशास्त्र हुए उनकी व्याख्या कीजिए ।
2. स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र का विकास विश्वविद्यालयों में कैसे हुआ है? वर्णन कीजिये।
3. स्वतंत्रता पूर्व भारत में समाजशास्त्र के विकास की व्याख्या करते हुए समीक्षा कीजिये ।

2.6 संदर्भ ग्रंथ

1 Dhangare, D.N. (1998)Themes Pesspenchves in India Sociology Jaipur, Rawat Publication

2 Mukharjee, Ramkrishna (1979)Sociology to Indian Sociology Bombay : Allied Publication

3 Nagla, B.K. (2008) Indian sociological Thought Jaipur : Rawat Publication

4 Singh, Yogender (1986) Indian Sociology New Delhi: Vistar Publication

इकाई 3

स्वाधीन (स्वतंत्रता के पश्चात्) भारत में समाजशास्त्र का विकास

इकाई को संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारत में समाजशास्त्र का विकास

3.2.1 1970 के दशक में भारत में समाजशास्त्र का विकास

3.2.2 1980 के दशक में भारत में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

3.2.3 1990 के दशक में भारत में समाजशास्त्र का क्रियात्मक स्वरूप

3.3 भारत में समाजशास्त्र की शिक्षा

3.4 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान

3.5 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान संकट की अवस्था

3.6 सारांश

3.7 अभ्यास प्रश्न

3.8 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप - भारत में समाजशास्त्र का विकास कैसे हुआ?

- भारत में विश्वविद्यालयों और कालेजों में समाजशास्त्र की शिक्षा में विकास कितना हुआ?
- भारत में सामाजिक अनुसंधान कैसे हो रहा है?
- भारत में सामाजिक अनुसंधान से किस प्रकार का संकट है?

3.1 प्रस्तावना

पिछले पाठ में हमने स्वतंत्रता के पूर्व में समाजशास्त्र के विकास की चर्चा की है । अब हम उसी चर्चा को स्वतंत्रता के बाद भारत में समाजशास्त्र के विकास के रूप में करेंगे । वास्तव में स्वतंत्रता के बाद ही समाजशास्त्र एक विषय के रूप में भारत में कॉलेजों और विश्वविद्यालयों मे पढ़या जाने लगा । अक्षमता (1974) में समाजशास्त्र के विकास को तीन भागों मे विभाजित किया । प्रथम 1917-1948 दूसरा 1947-1988 तथा तीसरा और उसके बाद प्रथम काम की चर्चा हम इससे पूर्व पाठ में कर चुके हैं जिसमें यह बताया गया है कि भारत में 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की पढ़ाई प्रारंभ हुई जिसकी विस्तृत जानकारी इससे पहले पाठ में दी जा चुकी है । यहाँ पर अगले कार्यो की चर्चा करेंगे ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में समाजशास्त्र का विकास

वास्तव में समाजशास्त्र का विकास भारत में स्वतंत्रता के पश्चात ही हुआ जिसकी चर्चा सक्षमता में अपने लेख "भारत में समाजशास्त्र की शिक्षा एवं अनुसंधान (1974) के दूसरे और तीसरे भाग में की है । उनके अनुसार पहले चरणों में देश के विभिन्न राज्यों में समाजशास्त्र की पढ़ाई क्षेत्रिय भाषाओं में की जाने लगी । कॉलेज एंव विश्वविद्यालयों में पढ़ाई क्षेत्रीय भाषाओं में की जाने लगी । कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों में पढ़ाई के अतिरिक्त केन्द्रिय सरकार ने सामाज विज्ञान शोध के लिए औपचारिक संगठनों की भी स्थापना की । इस तरह समाजशास्त्री दो स्तरों पर शैक्षणिक अन्त:क्रिया करने लगे । एक और पठन-पाठन का कार्य तो दूसरी और शोध संस्थाओं द्वारा समाज के विभिन्न विषयों पर अनुसंधान करने लगे । इसी समय में बम्बई भारतीय समाजशास्त्रीय संस्था-स्थापित की गई जिसके द्वारा सोशियोलॉजिक बुलेटिन नामक शोध पत्रिका प्रारंभ की गई जिसमें समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित होने लगे । जिसका आज तक समाजशास्त्र कि विकास में विशेष योगदान रहा । इसके साथ लखनऊ स्कूल ने अखिल भारतीय वर्षिक समाजशास्त्रीय कान्फ्रेस करने का शुभारम्भ किया जिसमें समाजशास्त्रीय अध्यापकों-छात्रों तथा अन्य समाजशास्त्रियों को शैक्षणिक अन्त:क्रियाओं का अवसर मिलने लगा ।

लगभग 1974 में समाजशास्त्रीय अनुसंधान के विकास तीन स्तरों पर व्याख्या की है । प्रथम, विश्वविद्यालयों में तहत् स्तर पी.एच.डी. की शैक्षणिक डिग्री के लिये अनुसंधान किये गयें। दूसरा, एक तरफ योजनों के लिये अनुसंधान ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के शोधों के वृद्धि की । तीसरा, समाज विज्ञान अनुसंधान के महत्व को पहचानते हुए अनुसंधान की संस्थाओं की स्थापनाएँ भी इस चरण में होने लगी । अनुसंधान के विकास से रोजगारों के अवसरो में भी वृद्धि होने लगी ।

इसके साथ-साथ विश्वविद्यालयो एंव कॉलेजों की संस्थाओं में भी वृद्धि हुई । 1950 तक समाजशास्त्र की पढ़ाई विभिन्न विश्वविद्यालयों में की जाने लगी । इस संदर्भ में राव (1982 ने बातें कही के इस प्रकार है - प्रथम, समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में दर्जा मिल गया और विभिन्न क्षेत्र सैद्धान्तिक रूप से विकसित होने लगे । दूसरा समाजशास्त्र विषय के रूप में स्वतंत्र पहचान बनी जबकि इससे पूर्व समाजशास्त्र की पढ़ाई मनोविज्ञान, मानवशास्त्र दर्शनशास्त्र सामाजिक कार्य आदि विभागों के साथ की जाती थी । समाज की आवश्यकताओं को समझने के लिये विभिन्न पाठ्यक्रम तैयार किये गये जैसे ग्रामीण-नगरीय समाजशास्त्र, नातेदारी का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र शान का समाजशास्त्र, आर्थिक समाजशास्त्र राजनैतिक समाज, जनसंख्या, स्तरीकरण, आयुविजान का समाजशास्त्र आदि । तीसरा, इस विशिष्ट विभिन्नताओं से सामाजिक जीवन का समाजिक जीवन का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाने लगा । यह स्वतंत्र भारत की बढ़ती हुई आवश्यकताओं से सम्बन्धित थे । प्राचीन साम्राज्यवादी पीरवेश को ध्यान में रखते हुए प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा स्तर पर लागू किया गया । समाजशास्त्रियों का झुकाव, गाँव, शहर एंव जनजातियों की समस्याओं को समझने के लिए हुआ इस पर काफी शोध किये गये जिसमें मुख्य ग्रामीण विकास, औद्योगिकरण शिक्षा में विकास, जनसंख्या नियंत्रण, नई राजनैतिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक राजनैतिक आन्दोलन आदि।

इन विभिन्न क्षेत्रों में समाजशास्त्रीय अनुसंधानों से विकास की संरचना, गतिशीलता एंव समस्याओं की जानकारी हुई । इसी आधार पर समाजशास्त्र की शिक्षा विभिन्न स्तरों पर दी जाने लगी ।

भारत में स्वतंत्रता के पूर्व, एक वर्ष में समाजशास्त्र की शिक्षा में विदेशी विद्वानों का प्रभाव, रहा जैसे कि खासतौर से स्वतंत्रता के पूर्व ब्रिटिश समाजशास्त्रियों या मानवशास्त्रियो का था । स्वतंत्रता के बाद हम अमेरिकन समाजशास्त्रियों के सम्पर्क में आए और उनके सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाने लगा । उदाहरण के तौर पर पारसन्स एवं मर्दन के संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों का उपयोग किया जबकि इससे पूर्व मेलितोस्की इत्यादि ब्रिटिश समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्री के प्रसारवाद एवं प्रकार्यवाद सिद्धान्तों का प्रभाव रहा । ब्रिटिश एवं अमेरिका के अलावा फ्रेन्च, जर्मन के समाजशास्त्रियों ने भी प्रभावित किया । इसी तरह प्रकार्यवाद के अलावा मार्क्सवाद पर भी अध्ययन, किया जाने लगा । इन्हीं विदेशी सिद्धान्तों पर धीरे-धीरे भारतीय समाजशास्त्री आलोचनाएँ करते हुए इनमें परिवर्तन एवं भारतीय संदर्भ के उपागमों की चर्चा होने लगी ।

3.2 भारत में समाजशास्त्र का विकास

3.2.1 1970 के दशक में भारत में समाजशास्त्र का विकास

1970 एवं इसके बाद में कई विद्वानों ने भारत में समाजशास्त्र के विकास का विश्लेषण किया । उनमें मुख्य उन्नीथान सिंह एंव इन्द्रदेव (1965); आई.सी.एस.आर. (1971, 1974, 1985 आदि) लेले (1981)ए, ओमन एंव मुखर्जी (1988), धनागरे(1993), सिंधी (1996), नानला (2003) इत्यादि । इनमें राधाकुष्ण मुखर्जी (1979) एंव योगेन्द्रसिंह (1986) ने काफी सारगर्भित समाजशास्त्र के विकास का विश्लेषण किया ।

सत्तर के दशके में भारत में समाजशास्त्र की पढ़ाई एंव अनुसंधान विभिन्न उद्देश्यों विशिष्टताओं एवं सारगर्भित क्षेत्रों में हुआ जबकि इसके पूर्व 1960 तक समाजशास्त्रियों को रूझान केवल ग्रामीण समुदायों के अध्यन से रहा जबकि सत्तर के दशक में कृषक सम्बन्धों, भूमिसुधार, कृषक श्रम मजदूर, अनुसूचित जाति एवं जनजाति आदि विषयों पर समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ सत्तर के दशक में ग्रामीण समुदायों का अध्ययन न केवल प्रकार्यवाद सिद्धान्त से बल्कि मार्क्सवाद के सिद्धान्त के द्वारा भी किया जाने लगा । इस दशक में दो ऐसे क्षेत्र थे जिनपर समाजशास्त्रियों का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ । ये क्षेत्र इस प्रकार थे, व्यवसाय का समाजशास्त्र, संगठन का समाजशास्त्र, स्त्रियों पर अध्ययन, मुस्लिम समुदाय एंव उनके हिन्दुओं के साथ सम्बन्धों का अध्ययन । इसके अलावा ऐसे कई नई क्षेत्रों का जाति जनजाति नातेदारी धर्म, राजनीति, आदि के संदर्भो में अध्ययन और समाजशास्त्र की शिक्षा दी जाने लगी ।

3.2.2 1980 के दशक में भारत में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

1980 के दशक में उत्तर के कई विभिन्न एवं विशिष्ट क्षेत्र पर अत्यधिक गहराई से अध्ययन किये गये । उनमें से खासत्तौर से जनसंख्या तक स्वास्थ्य पर अधिक बल दिया गया। इस चरण में विचलना का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, विज्ञान एंव तकनीकी का समाजशास्त्र, ऐतिहासिक समाजशास्त्र आदि नये क्षेत्र उभर के आये । जिन पर समाजशास्त्रीय अध्ययन किये गये ।

दामले (1982) ने समाजशास्त्र के कार्य को तीन प्रकार से पूर्वानुमानित करके विश्लेषण किया - प्रथम, भारतीय समाज में परिवर्तन का प्रभाव । इस संदर्भ में नये विचारों एवं आलोचनात्मक आन्दोलनों का विशेष महत्व रहा । विद्वानों ने समाजशास्त्र के बहुत से विकसित नये क्षेत्रों में कुछ खास तौर से अलग अलग रूप में अध्ययन किये और इन अध्ययन के आधार आगे 1990 के दशक में समाजशास्त्रीय विचार एंव अनुसंधान करने की प्ररेणा दी । योजना एंव विकास का समाजशास्त्र, व्यवसाय का समाजशास्त्र, संगठन का समाजशास्त्र, गरीबी के विभिन्न दृष्टिकोणविधि एंव सामाजिक परिवर्तन, राष्ट्रीयता एकता एंव सम्पूर्णता इत्यादि विषयों पर अनुसंधान एंव शिक्षा के लिये सुझाव दिये गये ।

3.2.3 1990 के दशक में भारत में समाजशास्त्र का क्रियात्मक स्वरूप

स्वरूप

इस चरण में देश मूलभूत राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन से गुजरने लगा । भारतीय समाजशास्त्र का क्षेत्र भी इसी संदर्भ में विकसित हुआ । इसी तरह के विकास के प्रभाव में भारतीय सरकार की जो मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा जनसाधारण के हित की नितियाँ का ह्वास होने लगा एंव बाजार से संबंधित नितियाँ बन गई । इस नये उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सरकार ने अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण करने में 1991 में एक नई उदारवादी आर्थिक सुधार नीति को अपनाया । इस नई उदारवादी निति से विदेशी कंपनियों और पूँजी को भारतीय बाजार में जगाने की स्वतंत्रता प्राप्त की गई । नये वैश्वीकरण के विषयों को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किया गया । वे इस प्रकार है :- पर्यावरण एंव समाज, मानवाधिकार के मुद्दे, प्रबंध का समाजशास्त्र. मानव विकास के साधन, संचार एवं समाज, क्रियाशील समाजशास्त्र इत्यादि । 2000 के दशक के पार करते हुए और नये विषयों के अध्ययन की आवश्यकता समाजशास्त्रियों ने महसूस की जो बदलते हुए परिदेश के लिये महत्वपूर्ण है इनमें मुख्य है - जन व्यवस्था का समाजशास्त्र, विकास, सुरक्षा प्रबंध तथा, संचार तकनीकी इत्यादि । ये विषय न केवल शिक्षा और अनुसंधान के लिये ही उपयोगी नहीं है, अपितु समाज के निर्माण और नये व्यवसायों के अनुसंधान के लिये भी महत्वपूर्ण है ।

3.3 भारत में समाजशास्त्र की शिक्षा

भारत में समाजशास्त्र का प्रारंभ एक विशिष्ट विषय के रूप में लगभग 1920 में हुआ। समाजशास्त्र की शिक्षा बम्बई विश्वविद्यालय में 1914 में शुरू हुई । इसके बाद में लखनऊ,

मैसूर इत्यादि विश्वविद्यालयों में भी इस विषय की शिक्षा दी जाने लगी । लेकिन 1950 में स्वतंत्रता के बाद ही समाजशास्त्र की एक विषय मे पश्चात् हो पायी तथा एक्ट बहुत ही प्रचलित विषय के रूप में इसकी पढ़ाई होने लगी । 1950 के बाद लगातार समाजशास्त्र के विभाग देश के कई विश्वविद्यालयों में खुलने लगे । 1960 तक 23.8 प्रतिशत समाजशास्त्र विभाग भारत के विश्वविद्यालयों में खुल चुके थे जो बढ़कर 1965 में 29.6 प्रतिशत हो गये थे । इसके बाद लगातार समाजशास्त्र की शिक्षा में लगातार वृद्धि होती गई । समाजशास्त्र की पढ़ाई न केवल विश्वविधियाल में अपितु कृषि विश्वविद्यालयों, तकनीकी संस्थाओं, प्रबंध संस्थाओं, भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता टाटा का सामाजिक विज्ञान संस्थान बम्बई गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद आदि समाजशास्त्र विषय की शिक्षा दी जाने लगी ।

आज भारत के कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र काफी प्रचलित विषय है । समाजशास्त्र के अन्य विषयों के साथ जनसंख्या का एवं स्त्रियों का अध्ययन भी किया जाने लगा अधिकाशत: बीए. के विद्यार्थी अन्य विषयों के साथ एक विषय समाजशास्त्र का भी अध्ययन के लिये चयन करते है । यह माना जाता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये यह एक आसान विषय है । जो लड़कियाँ -नौकरी के लिये चिंतित नहीं होती वे अवश्य समाजशास्त्र का अध्ययन करती । इसी तरह एम.ए. के लिये भी बहुत सारे विद्यार्थी यह विषय अपने अध्ययन के लिये चुनते है । अत: समाजशास्त्र की पढ़ाई बी.ए., एम.ए., एम.फिल., पी.एच.डी. तथा हर स्तर पर होने लगी । समाजशास्त्र, सामाजिक मनोवैज्ञानिक आदि का मुख्य विषयों के साथ शिक्षा दी जाने लगी । अनेक मुख्य विषयों के साथ शिक्षा दी जाने लगी । अनेक विशिष्ट विषयों की पढ़ाई भी समाजशास्त्र में होने लगी उदाहरण के तौर पर राजनैतिक समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र, नातेदारी का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, परिवार एंव विवाह इत्यादि । इन विषयों एकीकरण की कमियाँ है तथा कई स्थानों पर आज भी पुराने पाठ्यक्रम के आधार पर समाजशास्त्र की पढ़ाई होती है । समाज की आवश्यकता एवं तार्किक आधार पर आज भी कुछ स्थानों नये पाठ्यक्रम के द्वारा समाजशास्त्र की शिक्षा दी जाती है । अत: आज के समाज के संदर्भ नये पाठ्यक्रमों के निर्माण की आवश्यकता है जो समाज की वास्तविकता की जानकारी दे सकें ।

3.4 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान

स्वतंत्रता के बाद, भारतीय विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में समाजशास्त्र की शिक्षा तीव्र विकास हुआ और साथ समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों पर शोध में भी काफी वृद्धि हुई जिसके परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों पी.एच.डी. के लिये विभिन्न विषयों पर अनुसंधान किये तथा कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ और शैक्षणिक पत्र-पत्रिकाओं शोध पों का प्रकाशन भी हुआ ।

भारत में समाजशास्त्र के विकास दर कई सर्वेक्षण किये गये है । उनमें से मुख्य बेकर कार्नस (1961) सरन (1958) बॉटमोर (1982) क्लिनार्ड एवं एएडर (1965), विद्यार्थी व 1972 तथा इंडियन कोन्सिल ऑफ सोशियल साइन्स रिचर्स के विभिन्न प्रतिवेदन है । इसके

बावजूद भी समाजशास्त्र के शोध के आन भी उचित सिद्धान्त तथा पद्धतियों का अभाव महसूस होता है ।

अक्सर विश्वविद्यालयों के विभागों में अनुसंधान की सुविधाएँ तो दिखाई देती है लेकिन ये सुविधाएँ कॉलेजों मे अपर्याप्त है । कई विश्वविद्यालयो एवं कॉलेजों के अनुसंधान करने के लिये शिक्षकों को अवकाश लेने के लिये प्रावधान भी नहीं है । समाजशास्त्र के अनुसंधान के लिये क्षेत्रीय कार्य आवश्यक है । और यह बिना अवकाश के सम्बन्ध नहीं है । जबकि इंडियन कान्सिल ऑफ सोशियल साइन्स रिचर्स तथा यूत्रजी.सी ने इस तरह की सुविधाओं का प्रावधान दिया है । शिक्षा एवं अनुसंधान का काफी परस्पर संबंध है । अनुसंधान से शिक्षा के नये-नये विषयों को पढ़ाने के लिये मदद मिलती है ।

स्वतंत्रता के बाद समाजशास्त्र में अनुसंधान को बढावा मिला है । इसके लिये कई ऐजेन्सियों द्वारा आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती है । बी.ए. स्प एम.ए. में सामाजिक अनुसंधान की पद्धतियां की पढ़ाई भी की जाती है । यह महसूस किया गया है कि विभिन्न अनुसंधान की पद्धतियां विवाद की एक दूसरे के लिये पूरक है । 1970 के शुरूवात में सर्वेक्षण एंव सहमाकर अवलोकन पद्धतियों को लेकर विवाद रहे हैं । आज सांख्यिकी पद्धतियों के अतिरिक्त ऐतिहासिक विश्लेषण वैयक्तिक अध्ययन तथा सहभागीकरण अवलोकनों की तकनीकियों की अध्ययनों में वृद्धि हो रही है ।

3.5 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान : सकट की अवस्था

समाजशास्त्र की शिक्षा एवं अनुसंधान को लेकर इकोनोमिक एण्ड पालटिक्ल्मी के पिछले अंकों में कई लेख प्रकाशित हुए हैं ।

बीना दास (1993) ने भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान के संकट के तीन आधार बताये है, वे इस प्रकार है

प्रथम, संस्थात्मक संरचनाएँ, दूसरा विश्वविद्यालय तथा तीसरा - यू.जी.सी. एंव अन्य शैक्षणिक संस्थाएँ जैसे भारतीय समाजशास्त्रीय संस्था । यदि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान के स्तर की गिरावट का आरोप लगाया जाय तो यू.जी.सी. जैसे संस्थाएँ भी इस तरह जिम्मेदारी से बच नहीं सकती है । अन्य शैक्षणिक संस्थाएँ कोई अच्छा हल नहीं ढूँढ पा रही है ।

3.6 सारांश

इस इकाई में हमने स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में समाजशास्त्र के विकास की चर्चा कीं हैं । इस संदर्भ में समाजशास्त्र के विकास स्वतंत्रता के पश्चात् से लेकर 1970 तक के विकास का मिश्रण दिया । तत्पश्चात, 1980 के दशके के समाजशास्त्र के दृष्टिकोणों की व्याख्या की । अन्त: में 1990 के दशक के बाद के समाजशास्त्र के क्रियात्मक स्वरूप की चर्चा की । इस इकाई में समाजशास्त्र की शिक्षा के विकास के साथ साथ भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान एंव इसके संकट की अवस्था पर भी अलोचनात्मक व्याख्या की । भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् समाजशास्त्र का काफी विकास हुआ तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा विद्यार्थियों का रूझान समाजशास्त्र की तरफ अधिक रहा है । आज वैश्वीकरण के युग में भी समाजशास्त्र का काफी महत्व है तथा समाज में बदलते हुए प्रतिमानों की जानकारी होती है ।

3.7 अभ्यास प्रश्न

1 स्वतंत्रता के पश्चात भारत में समाजशास्त्र के विकास का विवरण दीजिये ।

2 भारत में 1970 के दशक तक समाजशास्त्र का विकास के स्वरूप की व्याख्या कीजिये ।

3 भारत में 1960 एंव 1990 के दशकों समाजशास्त्र के कौन से दृष्टिकोणों से समाज का अध्ययपन किया गया है । व्याख्या कीजिए ।

4 भारत में समाजशास्त्र के अनुसंधान एवं इसके संकट की व्याख्या कीजिये ।

3.8 संदर्भ ग्रंथ

1 मुखर्जी, रामकृष्ण (1979) सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन

2 सोशियोलॉजी बम्बई: अलाइड पब्लिसर्स

3 नागला बी.के., इंडियन सोशियोलॉजीकल्स थाट, जयपुर : राहत पब्लिकेशन्स

4 शर्मा, सुरेन्द्र (1985), सोशियोलॉजी इन इंडिया जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

5 सिंह योगेन्द्र (1986), इंडियन सोशियोलॉजी नई दिल्ली : विस्तार पब्लिकेशन्स

इकाई 4

भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की प्रकृति एवं दिशाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 समाजशास्त्र की प्रकृति

- 4.2.1 प्रत्यक्षवाद
- 4.2.2 प्रत्यक्षवाद और वैचारिकी
- 4.2.3 मानववादी समाजशास्त्र

4.3 भारत में समाजशास्त्र अनुसंधान की प्रकृति

- 4.3.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
- 4.3.2 भारतीय विद्याशास्त्र / मूल पाठ विषयक परिपेक्ष्य
- 4.3.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिपेक्ष्य
- 4.3.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
- 4.3.5 अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य
- 4.3.6 तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

4.4 भारत में समाजशास्त्रिय अनुसंधान की दिशाएँ

- 4.4.1 सामाजिक आन्दोलन पर समाजशास्त्रीय अध्ययन की धाराएँ
- 4.4.2 समाजशास्त्र की ज्ञानात्मक संरचना

4.5 सारांश

4.6 मुख्य शब्दावली

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.8 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- समाजशास्त्र की प्रकृति तथा इसके विभिन्न उपागमों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- भारत में समाजशास्त्र के अनुसंधान की प्रकृति एंव इसके विभिन्न पीरप्रेक्ष्यो की व्याख्या कर सकेंगे हैं ।
- भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की दिशाएँ एंव विभिन्न धाराओं का विश्लेषण कर सकते हैं ।

4.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र की प्रकृति एक विज्ञान की है । इसी कारण इसे एक समाज विज्ञान कहते है । यथार्थता समाजशास्त्र समाज की पड़ताल करता है और इसमें यह व्यवस्थित विधियों को काम में लेते है । ऐसा करने में वह अनुभाविक प्रमाण और इसके निर्वहन को ध्यान में रखता है । लेकिन इसे प्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक विज्ञान के ढांचे में नहीं ढाला जा सकता । इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यवहार प्राकृतिक वस्तुओं से भिन्न होता है । कई अन्य स्तरों में एक अन्तर यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों की विषय सामग्री अपेक्षित रूप से स्थायी और अपरिवर्तनशील होती है जबकि समाजशास्त्र के मानवीय व्यवहार की विषय सामग्री लचीली और गतिशील होती है । समाजशास्त्र के संस्थापक जैसे आगस्ट काम्ट दरखाईम मार्क्स और वेबर का सरोकार समाज की व्यवस्था और परिवर्तन के अध्ययन से था । वे यह भी चाहते थे कि समाज के एक विज्ञान या समाजशास्त्र का ऐसा प्रारूप बनाया जाये जो इसे प्राकृतिक विज्ञानों की तरह एक निश्चित विज्ञान का दर्जा दे सके।

4.2 समाजशास्त्र की प्रकृति

समाजशास्त्र की प्रकृति कैसी है - इस पर मुख्य रूप से दो तरह के मत को देखने को मिलते हैं, कुछ विचारको के अनुसार समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है, जबकि कुछ के अनुसार इसकी प्रकृति मानवीय है । यह मनुष्य के व्यवहार को वैज्ञानिक रूप से समझ सकें ।

जिन विचारको का यह मानना है कि समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है उन्होंने संवत: विज्ञान को एक संकुचित रूप में देखने का प्रयास किया है । उनके विचारों में समाजशास्त्र भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र की तरह विज्ञान नहीं है । इस संदर्भ में टीकी वॉटे ने कहा है कि समाज विज्ञान की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध एक तर्क यह दिया जाता है कि यह विज्ञान प्रकृति नियम से मिलती जुलती कोई तथ्य पैदा नहीं कर पाता है, यह सही है कि भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र, समाजशास्त्र से अधिक विकसित है, लेकिन इसके साथ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि समाजशास्त्र का इतिहास एक वैज्ञानिक अन्वेषण के रूप में लगभग सौ वर्ष से अधिक पुराना है और इसी अध्ययन पद्धति का वास्तविक विकास तो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद में प्रारंभ हुआ है । इसकी तुलना में भौतिकशास्त्र का इतिहास काफी पुराना है । ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों का वैज्ञानिक स्वरूप एक नहीं हो सकता है । बोटेमोर का यह तर्क स्वीकार करना कठिन है कि समय के साथ समाजशास्त्र का भी स्वरूप प्राकृतिक विज्ञानों जैसा हो पाएगा।

इस संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान क्या है? वस्तुत: विज्ञान एक प्रघटना को समझने की एक विधि है । किसी समन्दक, परिस्थिति या तथ्य को सुव्यवस्थित ढंग से समझने के प्रयास को हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण कह सकते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान अपने आप में एक विषय-वस्तु नहीं है, बल्कि विश्लेषण की विधि का एक नाम है । स्ट्रअर्ट चेस ने स्पष्ट रूप से कहा है कि विज्ञान का सम्बन्ध पद्धति से है, न कि विषय वस्तु से । (Science goes with the matter, not with the subject matter) यहाँ यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिकता है । विधिशास्त्र की दृष्टि से अपने ढंग का

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है । इसी कारण समाजशास्त्रीय अनुसंधान में सामाजिक यथार्थता को आनुभाविक स्वरूप में जानने पर जोर दिया जाता है । यह सही है कि समाजशास्त्र के अन्वेषणों में सर्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण अब भी संभव नहीं हो पाया है, इसके बावजूद समाजशास्त्र में भी अनुसंधान का सत्य एक ऐसे विस्तुनिष्ठ ज्ञान को प्राप्त नहीं है जो प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों को प्राप्त है । ऊपर की बातों की पुष्टि बीयरस्टेट के विचारों से भी होती है । उन्होंने समाजशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं की चर्चा की है, जिससे समाजशास्त्र की प्रकृति पर प्रकाश पडता है । उन्होंने कहा कि हम लोगों को सबसे पहले यह घ्यान में रखना होगा कि समाजशास्त्र एक समाज वीज्ञान है, प्राकृतिक नहीं । उन्हीं के शब्दों में Sociology is a social and not a nature science Bierstidt प्राकृतिक विज्ञानों और समाजशास्त्र में अध्ययन पद्धति को लेकर कोई भिन्नता नहीं है । जो भी भिन्नता है, वह केवल विषय-वस्तु को लेकर है । भारतीय समाजशास्त्र की प्रकृति भी ऐसी है ।

बी.के. नागला (2006) ने अपनी पुस्तक समाजशास्त्र में समाजशास्त्र के अनुसंधान की प्रकृति का चार उपागमों में उल्लेख किया है । ये इस प्रकार हैं-

1. प्रत्यक्षवाद (Positivism and Idealogy)
2. प्रत्यक्षवाद और वैचारिकी (Positivism)
3. व्याख्यात्मक समाजशास्त्र (Descripitive Sociology)
4. मानवादी संदर्श (Humanistic Perpective)

4.2.1 प्रत्यक्षवाद

सामान्यतया प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध आगस्त काम्ट के साथ हैं । काष्ट का कहना था कि जिस तरह प्राकृतिक विज्ञानों में तथ्यों को प्रस्तुत किया जाता है वैसे ही समाज विज्ञानों में इन्हें रखा जाता है । प्राकृतिक विज्ञानों के विश्लेषण में विशुद्धता पर जोर दिया जाता है । वैसे ही समाज की समझ और विश्लेषण में भी तथ्यात्मकता पर वस दिया जाता है । वैज्ञानिक अनुसंधान पर आधारित शान की उपलब्धि समाजशास्त्र को दी है । एकत्र तथ्यों का सत्यापन और प्रमाणीकरण जिसमें मत, अभिवृत्तियाँ और विश्वास भी सम्मिलित है, विश्लेषण और समझ के आधार हैं । इस तरह की विधि सार्वभौमिक है और सभी इसे काम में लेते हैं । प्रत्यक्षवाद एक प्रकार के सोच के अतिरिक्त आनुभावकिता भी है । अनुभव की यह अभिव्यक्ति सहज ज्ञान है । मानव विज्ञानों में आनुभाविकता एक प्रमाणित आधार है ।

4.2.2 प्रत्यक्षवाद और वैचारिक

सामाजिक यथार्थता के अध्ययन में दरखाईम ने काम्ट की तरह प्रत्यक्षवादी उपागम के बारे में सोचा था । उन्होंने कहा कि "समाज उतना ही यथार्थ है जितना प्राकृतिक" । इस कारण दरखाईम का तर्क है कि समाज का वैज्ञानिक ज्ञान प्राकृतिक वस्तुओं के ज्ञान के सामन है । इसके अनुसार विज्ञान और विचारधारा दोनों की सामाजिक जीवन में प्रमुखता है । विचारधारा आन्तरिक रूप से व्यावहारिक आवश्यकताओं और हेतुओं से जुडी होती है और विज्ञान का समाज वाहरी हार से जुडा होता है । सामाजिक तथ्य में दोनों तल होते है।

1. एक दबाव आन्तरिक और दूसरा, राह्ययता (बाहरी शक्ति) । यह बाहरी शक्ति व्याक्ति पर दबाव डालती है । दरखाईम लिखते हैं - सामाजिक तथ्य की वैधता उसके बाह्य दबाव पर समझी जाती है । वह दबाव अस्तियों पर पडता है । दबाव की इस शक्ति को तब समझा जाता है जब इसके न करने पर किसी दंड की व्यवस्था होती है । यह दंड तब समझ में आता है जब सामाजिक तथ्य की अवहेलना की जाती है ।

4.2.3 व्याख्यात्मक समाजशास्त्र

सामाजिक प्रघटना के समझने में मेक्स वेबर व्यक्ति की क्रियाओं को विशेष स्थान देते हैं । बेवर ने विश्लेषण में व्याख्या या वेस्टहेन को महत्वपूर्ण स्थान है । यह व्याख्या शक्ति से जुडी हुई संस्थाओं, संगठनों, प्राधिकार, धर्म अधिकार तंत्र क्रिया प्रतिक्रिया आदि के बारे में होती है । यह व्याख्यात्मक उपागम वेबर की प्रमुखता है । और यही इसे दरखाईम और मार्क्स से भिन्न करती है । इस तरह व्यक्तियों के व्यवहार का संचयीकरण किया जाता है, विधि की दृष्टि से यही एक वैज्ञानिक प्रतिमान है । बेग के व्याख्यात्मक समाजशास्त्र का मतलब यह है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है । यह सामाजिक क्रिया को व्याख्यात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास करता है और क्रिया के पीछे जो कारण और उसके जो परिणाम होते हैं, उनका विश्लेषण करता है ।

4.2.4 मानववादी उपागम

मार्क्स का इतिहास और समाज का सिद्धान्त प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक है । यह तथ्यों पर आधारित है और इसका सरोकार पर दजीय कोणों से है । इस कारण मार्क्स का अवधारणातक परिवेश बताता है कि उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग की वैज्ञानिक विधि पर अपने आपको केन्द्रित किया है । लेकिन इन सब के पीछे आदमी को समझने का प्रयास उनका मुख्य मुद्दा है । उन्होंने तर्क दिया है कि शोषण के पंजे से आदमी को मुक्ति दी जानी चाहिये । आदमी को शोषण से मुक्त करने के लिये मार्क्स ने एक अच्छे सिद्धान्त को रखा जिसे पप्रेसिस अर्थात् घबहार कहा गया है । उनका पेसिस का यह सिद्धान्त भी वस्तु निष्ठावाद और मानवतावाद का मिश्रण है ।

4.3 भारत में समाजशास्त्र अनुसंधान की प्रकृति

उपरोक्त धाराएँ पाश्चात्य है जो भारत के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में लाग नहीं होते है क्योंकि भारत में सामाजिक संरचना पाश्चात्य संरचना से भिन्न है । भारतीय सामाजिक संरचना बहु विध एंव जटिल है अत: भारतीय सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिये इसी संदर्श की विधाओं को काम में लेना होता है । सब माने तो किसी पाश्चात्य ' विधि से भारतीय सामाजिक प्रघटना को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता ।

यहाँ की प्रघटनाओं को यहीं के संदर्भो में ही देखना होगा

बी.के. नागला ने अपनी पुस्तक इंडियन सोशियोलॉजिकल थॉट (2008) में भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययनों में निम्नलिखित दृष्टिकोणों का विश्लेषित किया है जो भारतीय अनुसंधान की प्रकृति को दर्शाते है । ये इस प्रकार हैं -

1 ऐतिहासिक पीरप्रेक्ष्य

2 भारतीय विधिशास्त्र

3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य

4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

5 अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य

4.3.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

1 ऐतिहासिक प्रीरप्रेत्य

ऐतिहासिक परिप्रेत्य का मूल स्त्रोत इतिहास की गहराई होती है । समाजशास्त्रीय अध्ययन में इतिहास का प्रयोग एक विघा की तरह दो प्रकार से होता है । इस परिप्रेक्ष्य का एक प्रकार गैर मार्क्सवादी ऐतिहासिक अध्ययन है और दूसरा प्रकार मार्क्सवादी ऐतिहासिक अध्ययन है । गैर मार्क्सवादी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य वस्तुत: समाज के उद्विकास की व्याख्या सन् संवतों के माध्यम से करता है जबकि मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य मार्क्स द्वारा प्रयुक्त उत्पादन सम्बन्ध, उत्पादन शक्तियों, अलगाद वर्ग संघर्ष, ऐतिहासिक भौतिकवाद आदि अवधारणाओं द्वारा करता है ।

हमारे प्रांरभिक समाजशास्त्र दर्शन शास्त्र के इतिहास से अत्यधिक प्रभावित थे । इसके बाद इन पर जैवकीय सिद्धान्त के उद्विकास का प्रभाव पडा । वास्तव में ऐतिहासिक विधि मनुष्य के आदि कार्य से लेकर वर्तमान समय के उद्विकास और इतिहास को अपने परिवेश में सम्मिलित करता है । ऐतिहासिक विधि सामाजिक संस्थाओं परिवार, विवाह, कामुकता आदि के अध्ययन को ऐतिहासिक दृष्टि से देखता है ।

अनुसंधान की वह विधि जिसमें ऐतिहासिक दस्तावेजों तथा अन्य लिखित अथवा पुरातात्विक स्त्रोतों का प्रयोग शोध की अपीरष्टृत सामग्री के रूप में किया जाता है । यह ऐतिहासिक विधि कहलाती है । यह विधि एक और विकास के जैविक सिद्धान्त से तो दूसरी और इतिहास के दर्शन से प्रभावित है । इस विधि में संगुणित सामग्री के आधार पर सैद्धान्तिक एवं तुलनात्मक विश्लेषण कर सामान्यीकरण निक्षेप जाते है। समाजशास्त्र में इस विधि के प्रयोग द्वारा सामाजिक संस्थाओं, समाजों, सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और रूपान्तरण का कार्य क्रमानुसार अध्ययन किया गया है ।

वास्तव में इतिहास सामाजिक जीवन को समझने का एक विश्वास पूर्ण तरीका है । इतिहास जहाँ एक और राजाओं महाराजाओं और उनकी सेनाओं के कारनामों का बौरा है, वहीं इतिहास अतीत के सामाजिक जीवन, धर्म, संगीत और परिवर्तन का आईना भी है । इतिहासकार यह जानने का प्रयत्न भी करते है कि मानद और मानव समाज का विकास किस भाँति सिलसिले में हुआ है । यह इतिहास के माध्यम से ही समाजशास्त्र अतीत को सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं से रूबरू होता है ।

इतिहासकार ऐतिहासिक विधि द्वारा संकलित तथ्यों से अतीत का वैज्ञानिक मूल्यांकन करता है । समाजशास्त्र इन तथ्यों का वर्तमान समाज के विश्लेषण में प्रयोग करता है । अत: ऐतिहासिक विधि केवल अतीत को नहीं बल्कि वर्तमान को समझाने में भी सहायक होती है ।

संचाई यह है कि समाज की वर्तमान व्यावस्था के लिये उसका अतीत भी जिम्मेदार है । इस अतीत की सामाजिक शक्तियाँ जो परिवर्तन के लिये उत्तरदयी हैं उनका परिचय इस पद्धति द्वारा मिलता हे । समाजशास्त्रियों की विशेष रूचि परिवर्तन में होती है । जब सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक संगठनों में भी परिवर्तन आते हैं, तब उनके रूप बदल जाते है । ऐतिहासिक उपागम इन बदलते स्वरूपों के अध्ययन में बहुत सहायक सिद्ध होता है ।

भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, जापान आदि एशिया के देशों की सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिये ऐतिहासिक विधि अत्यधिक सहायक है । उदाहरण के लिये, जाति व्यवस्था को कोई भी अध्ययन ऐतिहासिक उपागम के अभाव में अहा रहेगा । दूसरा इन देशों में उपीनवेशादी हुकूमत सदियों तक रही है । ऐसी पृष्ठभूमि में किसान आन्दोलन, सामन्तवाद और पूँजीवाद के विकास को ऐतिहासिक उपागम के द्वारा ही तर्क पूर्ण ढंग से समझा जा सकता हे । अब तो ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह आनुभाविक विधि द्वारा भी किया जाने लगा है । विपन चन्द्रा, शहीद अमीन तथा कई अधिनस्थ समूहों का इतिहासकारों ने आनुभादिक उपागमों को अपने अध्ययन का माध्यम बनाया है ।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में गैर-मार्क्सबादी उपागम को प्रयोगत्मक के अध्ययनों में हुआ है। जिस भाँति देवर ने शहर और उद्योग का विकास ऐतिहासिक संदर्श में रखा है, वैसे ही आधुनिक समाजशास्त्री औद्योगिकरण और पूँजीवाद का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखते हैं । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हाल के कई समाजशस्त्रियों ने भारतीय गाँवों, जाति व्यावस्था, वर्ग और गैर बराबरी का अध्ययन ऐतिहासिक उपागम द्वारा किया है । मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम का उल्लेख हमने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया है ।

4.3.2 भारतीय विंद्याशास्त्र/मूल पाठ विषयक परिपेक्ष्य

भारतीय संस्कृति और समाज के विभिन्न पक्षों के अन्वेषण में भारतविद्या शास्त्र के स्त्रोतों का प्रयोग किया जाता है । भारतीय विद्याशास्त्र प्रार्चान मूलपाठ तथा भाषायी अध्ययन। के द्वारा भारतीय संस्कृति को समझने की विधि है । भारतीय विद्याशास्त्र वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें भारतीय समाज को मूल पाठकों के आधार पर ऐतिहासिक एंव तुलनात्मक अध्ययन करने की विधि है । अत: भारतीय समग़ीजक संस्थाओं के अध्ययन में भारती विद्याशास्त्र प्राचीन इतिहास, महाकाव्यों, धार्मिक हस्तलिखित साहित्य इत्यादि स्त्रोतों का प्रयोग करते हैं । जिसमें मूलपाठ विषयक मुख्यतया बदे, पुरान मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि आते है । इन प्राचीन उच्च साहित्य द्वारा भारतीय समाज की अध्ययन विधि ही भारतीय विद्या शास्त्र एवं मूलपाठ विषयक है । गोविन्द सदाशिव घुर्ये ने अपने अध्ययनों में भारत विद्याशास्त्र (इन्डोलॉजी) परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया है । उनका भारतीय साधुओं (1964), धार्मिक चेतना (1966) दो ब्राह्मणवादी में संस्थाओं के रूप में गोंग एक चरण (1972) नामक अध्ययनों में भारत के पौराणिक एंव कई धार्मिक ग्रंथों का प्रयोग किया गया है । यह निर्विवाद है कि घुर्ये का भारत विद्याशास्त्र पीरप्रेस्य के प्रति काफी मोह था । इनके अलावा कई भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारत विद्याशास्त्र परिप्रेक्ष्य को अपने अध्ययन की एक महत्वपूर्ण विधि के

रूप में काम में लिया है । उनमें से मुख्य एस.वि.केतकर, बी. एन. सील, बीके. सरकार, लुई ड्यूमों, के.एस. कपाडिया, पी.एन. प्रभु इरावती इत्यादि है।

4.3.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिपेक्ष्य

संरचनात्मक किसी घटना की विषयवस्तु की अपेक्षा अनेक स्वरूप पर अधिक दल देता है । यह परिप्रेक्ष्य संख्यात्मक समचों के विभिन्न अंगों के बीच सम्बन्ध पर बल देता है । एक संरचनावादी की रूचि यह जानने में होती है कि किसी व्यवस्था में उसके अंगों के आपसी सम्बन्ध क्या हैं, वे किस प्रकार एक दूसरे में तालमेल बिताते हैं । "संरचनावाद" एक पद्धति है जिसका मानवशास्त्र में सर्वाधिक विशिष्ट रूप में प्रयोग फ्रांसीसी मानवशास्त्री क्लाउड लेवी स्ट्रास ने किया है ।

प्रकार्यवाद सावयविक सादृश्यता पर आधारित एक सिद्धान्त, एक परिप्रेक्ष्य या एक उपागम है जो प्रथाओं या सामाजिक संस्थाओं के प्रकायों (प्रयोजनो) के अध्ययन पर जोर देता है। यह सिद्धान्त इस मौलिक प्रश्न पर आधारित है कि किस प्रकार कोई संस्था अथवा विश्वास दूसरी संस्थाओं यस विश्वासों से पारस्परिक जुड़े होते हैं और किसी सीमा तक यह सम्पूर्ण सामाजिक संस्कृति अवस्था अथवा उसके किसी भाग को बनाये रखने में अपना योगदान करते है ।

आजकल यह उपागम संरचनात्मक - प्रकार्यवाद के नाम से जाना जाता है । समाजशास्त्र ने इस उपागम के प्रश्रय देने वालों में मर्टन एंव पार्सन्स मुख्य है । भारत के संदर्भ में संरचनाविधि का प्रयोग फ्रांन्सीसी समाजशास्त्री लुईयूमो (Louis Dumount) ने अपनी पुस्तक होमो हेरारकिकस (Homo-Hierarchicus, 1970) में किया है । उन्होंने भारतीय जाति व्यवस्था का अध्ययन इस विधि द्वारा किया है । इसमें ड्यूमों ने विचारधारा, द्वन्द्व और तुलना जैसी अवधारणाओ को काम में लिया है । यह पुस्तक, कहना चाहिये, संरचनात्मक विधि के प्रयोग के लिये बहुत चर्चित रही है । इसमें ड्यूमों ने जाति व्यवस्था का अध्ययन पवित्र और अपवित्र, गैर-बराबरी और समानता आदि दोहरी विषमताओं के आधार पर रखा है । इसी पर उन्होंने स्तरीकरण के सिद्धान्त के संरचनात्मक उपागम द्वारा प्रस्तुत किया है । जब ड्यूमों की पुस्तक प्रकाशित हुई तब हमारे देश में टी.एन. मदान, ओबेराय, बीनादास आदि समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक विधि का उपयोगिता पर कई प्रश्नचिन्ह खडे किये ।

ड्यूमों के संरचनात्मक उपागम को प्रयोग 20 वीं शताब्दी के आठवें दशक के कई अन्य भारतीय और विदेशी समाजशास्त्रियों ने यहाँ की सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन में काम किया है । उदाहरण के लिये होमस्ट्रोम (Mark Hotmstrom) 1927 ने बैगलोर के एक गाँव में जाति व्यवस्था का अध्ययन जातीय विचारधारा के आधार पर किया है । अन्य उल्लेखनीय संरचनात्मक विधि द्वारा किये गये अध्ययनों में ओडेन, रोचेर, ओबरॉय,, बीनादास आदि हैं । इन संरचनावादियों ने शक्ति, पविगता तथा अपविगता अनुपरक तथा प्रतिकूल आदि अवधारणाओं का प्रयोग किया है । भारतीय समाज में संरचनात्मक विधि द्वारा किये गये अध्ययन प्रमाणित करते हैं कि हमारे यहाँ इस तरह के विश्लेषण की बहुत बडी उपयोगिता है ।

दरखाईम रेडक्लिफ ब्राउन और मेजिनोस्की ने प्रकार्यात्मक का मुख्यधारा को समाजशास्त्र में एक उपागम की तरह स्थापित किया । इस प्रकार्यवादी-पीरप्रेत्य को सुदृढ़ करने का काम टेलकट पारसन्स तथा रोबर्ट मर्टन ने किया । पारसन्स ने संरचनात्मक प्रकार्यवाद के स्थान के यह प्रकार्यवाद परिप्रेक्ष्य को एक उपागम के रूप में प्रयोग किया । उन्होंने प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य उपागम को सामातिक व्यवस्था के सिद्धान्त के माध्यम से रखा है । उनके अनुसार व्यवस्था वह है जो निरन्तर है, जिसमें मतैक्य तथा जिसके विभिन्न भागों में एकीकरण है । पारसन्स का कहना है कि किसी भी व्यवस्था मे सम्बद्धता लाने का काम अवस्था के मूल्य और प्रतिमान करते हैं । इस व्यवस्था को उसकी समग्रता में देखना चाहिये । हमारे देश में भी 20 वीं शताब्दी के पाँचवें दशक में जो ग्रामीण अध्ययन हुए, त्रिजोकीनाथ मदन कहते हैं कि वे सभी उपागम की दृष्टि से प्रकार्यवादी हैं । हमारे यहाँ अक्षय देसाई, रामकृष्ण मुखर्जी, केथलीन गफ आदि को छोडकर सभी समाजशास्त्री प्राय: प्रकार्यवादी है ।

संरचनात्मक-प्रकार्यवाद विधि में सामाजिक वास्तविकता को जानने के लिये क्षेत्रीय कार्य के माध्यम से प्रभावित सामग्री एकत्र की जाती है । अत: यह विधि सामाजिक प्रघटनाओं को प्रासंगिक या 'क्षेत्रिय दृष्टिकोण के पीरप्रेहम में अध्ययन करने वाले मुख्य समाजशास्त्रियों में एम.एन.श्रीनिवास, एस.सी.दुबे मेकिम मेरियट, आई.पी. देसाई, डी.एन. मजूमदार इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है ।

संरचनावाद और संरचनात्मक प्रकार्यशद में कुछ तथ्यों में समानताएं है, जैसे दोनों ही वस्तुओं या घटनाओं के बीच सम्बन्धों का अध्ययन करते है, किन्तु दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं । संरचनात्मक प्रकार्यवाद सामाजिक सम्बन्धों के बीच एक व्यवस्था देखता है । संरचनावादियों की सामान्यत: सभी समाज की संरचनाओं को भी जानने में होती है । रेडक्लिफ ब्राउन का सरचनात्मक-प्रकार्यवाद मुख्यत: आगमनात्मक विधि पर आधारित है, जबकि संरचनावादी प्रकार्यशद मुख्यत: आगमनात्मक विधि पर आधारित होती है । वे बहुधा पहले तार्किक संभावनाओं को खोजते हैं और बाद में उन्हें यथा स्थान पर लगाने की कोशिश करते हैं । जहाँ ब्राउन इस बात पर बल देते है कि किसी समाज के विभिन्न तत्व किस प्रकार कार्य करते है, वहाँ केबी स्ट्रास ने इस तथ्य का उजागर किया है कि प्राणियों का उद्भव कैसे होता है।

4.3.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

प्रकार्यवाद और संरचनावाद की तरह समाजशास्त्रीय अध्ययन में मार्क्सवाद भी एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक पीरप्रेस्य है । मार्क्स ने अपने सामाजिक विरलेषण में उत्पादन प्रणाली, उत्पादन के साधन, आर्थिक संरचना, अधिसंरचना वर्ग, वर्ग चेतना, वर्ग-संघर्ष, भौतिकवाद जैसी अनेक अवधारणाओं का प्रयोग कर उन्हें नये अर्थ दिये । ये ही अवधारणाएँ बाद में मार्क्सवादी पद्धति का मूलाधार बन गई ।

मार्क्सवादी समाजशास्त्र, समाज की यथास्थिति वादी विश्लेषण का विरोधी है । सांमजस्य एंव संतुलन की अपेक्षा संघर्ष की प्रक्रिया इसका दार्शनिक आधार है । यही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा स्थायित्व की

अपेक्षा परिवर्तन को अधिक महत्व देता है । मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों की रूचि मुख्यत: सामाजिक घटनाओं की खोज एवं व्याख्या करने, आर्थिक कारकों की भूमिका, वर्गो के आपसी सम्बन्धों और अन्तर सामूहिक संघर्ष जैसे विषयों में रहती है । मार्क्सवादी समाजशास्त्र का भौतिकवादी आयाम आर्थिक निर्धारणवाद को आश्रय देता है । इसके अनुसार यह माना जाता है कि किसी भी समाज की आर्थिक संस्थाएं अन्य सामाजिक संस्थाओं तथा संस्कृति की अन्तर्वस्तु का निर्धारण करती है ।

एक उपागम के रुप मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में बहुत कुछ योगदान किया है । इस परिप्रेक्ष्य के प्रवर्तकों में कोहेने, यूजर आदि समाजशास्त्री है । हमारे देश में भी कतिपय समाजशास्त्रियों ने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है । ए.आर. देसाइ डेनियन थार्नर, चार्ल्स वेटेलहैम केथेलीन गफ तथा राधाकृष्ण मुखर्जी ने मार्क्सवादी पीरप्रेक्ष्य को बहुत समाजों के अध्ययन के लागू किया है । ग्रामीण समुदायों के अध्ययन में मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग न्यूनतम हुआ है ।

समाज की वास्तविकता के विश्लेषण में मार्क्स के ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया जाता है । मार्क्स के अनुसार, उत्पादन के सम्बन्ध आवश्यक रूप में वर्ग-संघर्ष को जन्म देते हैं । मार्क्स ने दो प्रकार के वर्गो की बात कही है । एक जिन व्यक्तियों का उत्पादनों के साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण होता है, वह बुर्जआ या पंजीपती वर्ग कहलाता है । दूसरा ऐसे व्यक्ति जो केवल अपने श्रम पर निर्भर करते है, वह सर्वहारा या कामगार श्रमिक वर्ग कहलाता है । इन दोनों वर्गो में संघर्ष का कारण उत्पादन के साधनों के मालिकों द्वारा श्रमिकों के श्रम -से उत्पादित वस्तुओं का अपने हितों की भूमि के लिये मनचाहे रूप में अधिकाधिक शोषण किया जाता है । यह वर्ग संघर्ष ही इतिहास का चालक है । वर्ग-समाजों में निहित संघर्ष या विरोध स्वाभाविक रूप से सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त हुआ है । उभरते हुए पूँजीपती वर्ग ने जिस प्रकार सामंती कुलीनतंत्र को उखाड फैंका उसी प्रकार एक दिन कामगार (श्रमिक) वर्ग इस पूँजीपति वर्ग का स्थान ले लेगा ।

मार्क्स ने इसी परिप्रेक्ष्य में कई भारतीय समाजशास्त्रियों इतिहासकारों तथा अन्य ने भारतीय समाज की वास्तविकता को समझने के लिये अध्ययन किये हैं । उनमें से मुख्य एम.एन.एन. दत्ता, एस.ए. डांगे, डी.डी कोसाम्बी, ए.आर. देसाई, डी.पी मुकर्जी, पी.सी.जोशी आर.एस.शर्मा, इरफान हबीब, डी.पी ध्येपोध्याय आदि है । डी.पी. मुखर्जी, ए.आर. देसाई, एंव राधाकृष्ण मुखर्जी इत्यादि प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज का द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य अध्ययन किये है ।

4.3.5 अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य

इतिहास और साहित्यिक आलोचना का एक दृष्टिकोण दलित वर्गीय परिप्रेक्ष्य के नाम से जाना जाता है जो प्रभु समूह (Daminant Grop) के स्थान पर मातहत एंव अपेक्षित समूह के दृष्टिकोण पर बल देता है । यह पीरप्रेस्य मुख्य रूप से दक्षिणी एशिया और भारत में प्रभावशाली रहा है । इस परिप्रेक्ष्य को लेकर आजकल महिलाओं तथा अन्य शोषित वर्ग एवं जातियों के अध्ययन किये जा रहे है ।

आक्सफोर्ड कोश में 'सबआर्लन' का अर्थ निम्न पद या दरजा बताया गया है, अर्थात् वे व्यक्ति जिनकी वर्ग, जाति, आयु लिंग और पद किसी अन्य तरह से मातहत अथवा अधीनता की स्थिति होती है, वे सबआर्ल्टन की कोटि में आते हैं । अधीनता का द्विआधारी संबंधों के रूप में देखा जा सकता है जिसका दूसरा सिरा प्रमुखता से निर्मित होता है । बिना प्रभुत्वता के अधीनता का सवाल ही नहीं आता । दबे-वुचवे समूह हर समय प्रभुत्व प्राप्त या प्रभु समूहों के अधीन होते है । ऐसे समूह चाहे विद्रोह करें और उनका उत्थान भी हो जाये, फिर भी उन पर प्रभु समूहों का वर्चस्व बता रहता है ।

साधारणतया अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य "जनता" या "आम नागरिक" का द्योतक है । इस परिप्रेक्ष्य से जनजाति तथा किसान आन्दोलन, भूमिहीन श्रमिक तथा गरीब वर्गो का अध्ययन किया जाता है । भारत में इस उपागम के मुख्य प्रर्वतक रणजीत गुहा एक ऐसे इतिहासका हैं जो परम्परागत इतिहास को महत्वपूर्ण नहीं समझते । ये इतिहास राजा, महाराजाओं और समूसंबंलों के है । हाशिये के लोगों पर वे मौन रहते है । ऐसा व्यवस्था में आधिनस्थों का इतिहास महत्वपूर्ण बन जाता है । बी.आर आम्बेडकर, डेवीड हार्डिमेन, कपिल कुमार इत्यादि है । उदाहरण के तौर पर गुहा ने अधीनस्थों का इतिहास अधिनस्थों के दृष्टिकोण से लिखने का प्रयास किया है । डेविड हार्डिमेन ने प्रभुत्व एंव अधीनस्थों के संबंधों का विश्लेषण इस उपागम के द्वारा किया है ।

उपरोक्त वीधियाँ मुख्यता वृहद समाजों का अध्ययन करने में सहायक होती है । अब हम तुलनात्मक विधि का उल्लेख करेंगे जिसमें एक सामाजिक इकाई की तुलना दूसरे समाज या समुदाय की इकाइयों से की जाती है ।

4.3.6 तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

समाजशास्त्र में तुलनात्मक पद्धति एक वीश्वसनीय अध्ययन समझी जाती है । यदि कोई घटना घटती है तो इसके पीछे कौन से कारण हैं इसका पता, तो दरखाईम कहते हैं, तुलनात्मक विधि से मिल सकता है । दरखाईम ने धर्म का तुलनात्मक अध्ययन है । मक्स बेबर ने धर्म का इसी संदर्भ में समझा है । वे आदर्श प्रारूप रखते हैं । समाजशीस्त्री जब तुलनातक उपागम को काम में लेते हैं तो समान्यत तथा वे किसी एक समाज की संस्था से हैं । उदाहरण के लिये, भारत के परिवार की तुलना जापान के परिवार से या भारत में शहरी, तुलना कम से कम वहत् समाजों की तो नहीं की जा सकती । सामान्यतया एक आदिम समाज की तुलना दूसरे आदिम समाज से या एक गाँव की तुलना दूसरे गाँव से करते है ।

हमारे देश में भी तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग पर्याप्त रूप से किया गया है । ग्रामीण अध्ययनों मे कई अध्ययन ऐसे हैं जो अनिवार्य रूप से तुलनात्मक है । इप्सटीन (T.S. Epstein, 1979) ने दक्षिण भारत के दो गाँवों का तुलनात्मक अध्ययन आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में किया है । इप्सटीन का एक गाँव वह है जहाँ नहर द्वारा सिंचाई की सुविधा है और दूसरे गाँव में, ठीक विपरित सिंचाई की कोई सुविधा नहीं है । इस प्रकार के ग्रामीण समुदायों के तुलनात्मक अध्ययन का हमारे यहाँ कोई अभाव नहीं है । इस संदर्भ में योगेद्रीसंह और के.एलं शर्मा द्वारा किये गये गाँवों के तुलनात्मक अध्ययन विशेष रूप

से उल्लेखनीय है । बी के. नागला (1984) ने राजस्थान के उदयपुर जिले के दो गांवों का तुलनात्मक अध्ययन किया है ।

पिछले पृष्ठों में हमने प्रकार्यवाद, संरचनावाद, मार्क्सवाद, ऐतिहासिकता, अधीनस्थ और तुलनात्मक समाजशास्त्रीय अध्ययन विधियों का विवेचन दिया है । ये विधियाँ, उपागम या परिप्रेक्ष्य समान्यतया बडे या वृहद समाजों के अध्ययन में प्रयुक्त होती है । इन परम्परागत विधियों के अतिरिक्त हाल में यूरोप और अमेरिका में प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावादी विधि भी लोक प्रियता पा रही है । हमारे देश में इस विधि द्वारा किये गये अध्ययनों का अभाव है ।

4.4 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की दिशाएँ

समाजशास्त्र के लिये सामाजिक औचित्य और देशज प्रतिमान के लिये अन्वेषण के दौरान गतिशीलता प्रदर्शन करते हुए भी भारत में 1970 और 1980 के दशकों में अनेकों दिशाओं को चिन्हित किया गया है जिनका विश्लेषण योगेन्द्रीसह ने अपनी पुस्तक इन्द्वियन सोशियोलॉजी (1966) में किया गया है, जिनमें अवधारणाओं के चुनाव और अनेक उपयोग में नहीं समझ को बताया गया है । जैसे तो वे सामाजिक संरचना के बदलते ढाँचे के विश्लेषण के स्तरों के विचार के विश्लेषण की और बढ़ते है, अवधारणात्मक स्वरूपों, ऐतिहासिक आकडों और भाषाई व प्रतीकात्मक संरचनात्मक तकनीक के प्रयोग, सामाजिक संरचना और श्रमिक संगठनों पर अध्ययन की श्रृंखला पर जोर देने के कारण विश्लेषण की मार्क्सवादी ऐतिहासिक पद्धति को गति प्राप्त होती है।

जाति के कर्मकाण्डी रूपों और उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक क्रियाओं अथवा जाति और वर्ग के बीच सामान्य विभाजनात्मक के स्थान पर सैद्धान्तिक दिशाओं जैसे संरचनात्मकता संदर्गी समाजशास्त्र, प्रणालीविश्लेषण और मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक भौतिक पद्धतियों और नव-मार्क्सवाद के प्रति सजग अनेकों नवीन अध्ययन किये गये ताकि विशेष क्षेत्रीय और आपक राष्ट्रीय स्तरों पर सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया जा सके । ऐसे अध्ययन मात्र वर्णन है जो कि 1950 की समाजशास्त्रीय परम्परा में सामान्य थे । इन अध्ययनों से और अधिक विश्लेषणात्मक और वर्णन के उद्देश्य पर बल देने की वृत्ति दिखाते है।

इन नई सैद्धान्तिक प्रवृतियों ने यूरोप और अमेरिकी समाजशास्त्र की दिशाओं और धाराओं के साथ कुछ समानताएँ दर्शाई गई है लेकिन व्यापक तौर पर भारतीय समाजशास्त्रियों और सामाजिक वैज्ञानिकों ने एक नवीन आन्तरिक गीतवाद और आत्मनिर्भरता प्रदर्शित की है । 1970 और 1960 के दशकों ने सामाजिक वैज्ञानिकों के लिये बड़े पैमाने पर संस्थाओं में सहयोग को देखा । भारतीय सामाजिक विज्ञान और शोध परिषद्, भारतीय ऐतिहासिक शोध परिषद्, भारतीय दार्शनिक शोध संस्थानों की स्थापना इस काम में हुई । इन संगठनों ने धन और शोध सुविधा के उपलब्ध कराई ताकि वीद्वान व्यवसायिक रूप में भी इनके प्रतिभागी बन सकें । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस प्रक्रिया को और सुदृढ़ किया । प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में किये गये शोध संस्थानों और शोध संगठनों के योगदान के अतिरिक्त इसके सामान्य रूचियों के क्षेत्रों में सामाजिक शोध के विकास में सहयोग दिया ।

4.4.1 सामाजिक आन्दोलन पर समाजशास्त्रीय अध्ययन की धाराएँ

भारत में विभिन्न सामाजिक आन्दोलन जो 1970 के दशक में आरम्भ हुए थे, समाजशास्त्रीय अध्ययन की धारा को मजबूत किया । व्यक्तित्व संरचना और समाजीकरण को प्रक्रिया पनपते आधुनिक स्वभाव, सामाजिक रूढ़ियों की समस्याएँ और रूढ़िवाद धारणा के और मिथकों की मनोवैज्ञानिक खोजें, पौराणिक गाथाएं, विश्वास प्रणालियां और मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये कर्मकाण्डी व्यवहारों के अध्ययनों के उद्भव से विभिन्न प्रकार के उत्पादों को आपसी प्रयोग का क्षेत्र मिला ।

राजनीतिक संस्थाओं, दलों और विचारधाराओं और राजनीतिक भागीदारी की प्रक्रियाओं के विश्लेषण के लिये, राजनीतिक वैज्ञानिकों ने व्यवहार वादियों से प्रभावित होकर समाजशास्त्र के साथ निकट के संबंध स्थापित किए । राजनीतिक नेतृत्व, दल संरचना मत व्यवहार पर उनके अध्ययनों ने समाजशास्त्रियों की शक्ति संरचना सामाजिक आन्दोलनों और भारतीय ग्रामीण शहरी और जनजातिय समुदायों के विकास और परिवर्तन की समझ में योगदान किया । 1970 और 1980 के दशक में हुए सामाजिक-वैज्ञानिक विकास, उनके प्रतिमानालक परिवर्तन और तुलनात्मक दिशाओं में जो सामाजिक विज्ञान के पास उपलब्ध साधनों के कारण हुए थे । इन्होंने नई सामाजिक परिस्थितियों को परिभाषित किया जिसमें समाजशास्त्रीय शोधों की अवधारणाओं और तात्विक विषयों पर नये दृष्टिकोणों की प्राप्ति हुई ।

सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन के विकास के साथ उस सामाजिक संरचना के अध्ययन का भी विकास किया जिसने नई अवधारणाओं एवं दृष्टिकोणों को अपनाया था । कृषि और ग्रामीण संरचना के अध्ययनों ने प्रचुर मात्रा में सामाजिक ऐतिहासिक कानून प्रणालियाँ, कपार, वाणिज्या और उनके राजनीतिक अर्थशास्त्र से संबंध, रक्त संबंध, नीति और संस्कृति के आँकड़े लिये । एक गाँव के वर्णात्मक अध्ययन अथवा एकल सामाजिक व्यवस्थाओं में वह चाहे ग्रामीण हो या शहरी, एक राजनीतिक इकाई (पंचायती राज) अथवा परिवार के अध्ययन के स्थान पर समय और क्षेत्र की सीमा से परे सामाजिक संरचनाओं के विश्लेषणात्मक तुलनात्मक अध्ययन किये गये । ऐसे अध्ययन को इसने उनके चरित्र को अधिक व्याख्यात्मक बनाया । विशिष्ट अस्थायित्व, क्षेत्रियता और मात्र वर्णन पर बस देने के स्थान पर सामाजिक संबंधों, तत्रों और अर्थो की प्रतीकात्मक व्यापक पर अस दिया गया जो अवधारणाएँ इन अध्ययनों के प्रयोग के लिये आरम्भ हुई थी उनका स्त्रोत नये सैद्धान्तिक प्रीतमनों में था ।

समाजशास्त्रीय शोध के विषय क्षेत्र जैसे विकास का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, स्वास्थ्य और ओषधि का समाजशास्त्र, व्यवसायों का समाजशास्त्र और समाज के कमजोर वर्गो तथा अनुसूचित जनजातियाँ, अनुसूचित जातियों, स्त्रियों, ग्रामीण और शहरी निगमों की समस्याओं के विश्लेषण में विस्तार हुआ ताकि सामाजिक पुननिर्माण और विकास को बढ़ावा दिया जा सके । इन समस्याओं की प्रकृति को समझने में भारतीय समाज में सामाजिक ढांचे, संस्कृति और गतिशीलता के संबंध में समाजशास्त्रीय समझ में वृद्धि हुई संरचनात्मक संवर्गीय समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग करके धर्म संबंधी अध्ययन किये गये और इन पद्धतियों को गति और नव अवधारणात्मक आधुनिकता दोनों प्राप्त हुई । इन अध्ययनों ने समाज के

अध्ययन के किये गये और इन पद्धतियों को गति और नव अवधारात्मक आधुनिकता दोनों प्राप्त हुई । इन अध्ययनों ने समाज के अध्ययन के लिये नये दृष्टिकोण आरम्भ लिये जिनका क्षेत्र एक और स्वर्गीय पद्धति से लेकर संरचनात्मक और दूसरी और गुणात्मक और गणितीय (गणनात्मक) प्रतिमानों के विकास में था ।

4.4.2 समाजशास्त्र की ज्ञानात्मक संरचना

अत: 1970 और 1960 के दशक के मध्य में हम भारतीय समाजशास्त्र की ज्ञानात्मक संरचना में पनपती दो दिशाओं को पोत हैं । और ये दोनों दिशाएँ विचारधारा के प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं । इनमें से सबसे पहली दिशा व्यक्तिगत समाजशास्त्रियों के कौशल और मोलिक विषयों जिनका मूल्यांकन आदर्श पद्धतियों और ज्ञान शास्त्र के संदर्भ में किया गया था जो आलोचनात्मक एंव आलकथानात्मक विचारोंपर आधारित थी । अधिकांश आत्कथालक योगदान इस परम्परा से जुडे हुए थे । दूसरी दिशा मैं ऐसे अध्ययनों के समूह शामिल थे जिन्होंने आरम्भ विचार के ढांचे में समाजशास्त्रियों के ज्ञानात्मक और शिक्षाशास्त्रियों ने इस तिपरा पर वहस की । इन अध्ययनों में विषयों का संबंध पद्धति संबंधी और अवधारणा संबंधी क्षेत्रों से नही था वरन वे सीधे तौर पर समाजशास्त्रीय अवधारणाओं एंव पद्धतियों के अनुकूलन पर निर्भर थे । अत: यह बल का विषय था । महत्व का स्थानान्तरण पर आधारशिला, पर जिसमें विचारधारा का ज्ञान का प्रमुख था से हटकर ऐसी आधार शिलार पर हुआ जिसमें ज्ञान पर विचारधारा का प्रमुख था । बाद के अध्ययनों के स्वरूपों में बहुत से परिवर्तन आए । एक वर्ग समाजशास्त्र की सामाजिक उत्पत्ति जो प्राय: उच्च जाति अथवा वर्ग में आती है, को उसकी प्रभुता संबंधी स्थापित करने का प्रयास करता है । अत: ऐसा माना जाता है कि समाजशास्त्रि सें का संबंध के ढाँचों का दृष्टिकोण ग्राम अथवा समुदाय में जाति और वर्ग प्रवासी में साधनों से वंचित रहने अथवा शोषण की सीमा, समस्याओं के सैद्धान्तिक निर्माण अथवा पहचान का समन्वय उसकी अपनी सामाजिक उत्पत्ति के स्वभाव द्वारा निश्चित होते हैं । जाति और सामाजिक असमानताओं के अध्ययन में इसके आमूल परिवर्तन के दृष्टिकोण के स्थान पर उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लिये तुष्टि के दृष्टिकोण को जन्म दिया । दूसरे वर्ग ने अपना ध्यान भारतीय वास्तविकता को जानने के लिये भारत में अनुसूचित जाति और समुदायों के मध्य व नव बौद्ध धर्मालम्बी आन्दोलनों अथवा दलित आन्दोलनों के प्रचारकों द्वारा प्रचुरमागा में भारतीय वास्तविकता में देखा गया । जाति समाज की यह गैर ब्राह्मणौंय विचारधारा जो ज्योतिका फूले और अम्बेडकर जैसे समाज सुधारकों के विचार से प्रभावित है, जाति को वर्ग, प्रभुत्व और संस्कृति अधीनता समझती है ।

फिर भी, सामाजिक मानवशास्त्रियो के जाति विशेष संबंध होने के कारण अनेक महत्वपूर्ण कार्यो पर ब्राह्मण केन्द्रित होने का आरोप लगाया जाता है । शिक्षा के समाजशास्त्र में यह उस सीमा को व्यक्त करता है जिस तक भारत में पनपती सामाजिक स्थितियाँ समाजशास्त्र के शिक्षाशास्त्र में टकराने की बढ़ती हुई वृत्ति को अभिव्यक्त करती है ।

भारत में इस विचारधारा और सामाजिक बदलाव से जुडे तनाव के साथ-गैर ब्राह्मणीय प्रतिमान जिन्होंने दलित (शोषित) समूहों में पुर्नजागृति उत्पन्न की अनेक सामाजिक आन्दोलनों

और किस सीमा तक उनका सामाजिक उत्थान हुआ है जो उनकी सामाजिक चेतना की वृद्धि में सहायक है और दूसरी और उनमें नये बौद्धिक वर्ग (चाहे यह मार्क्सवादी हो या गैर मार्क्सवादी) के विकासे के द्वन्द्व को दर्शाता है जिसने गहनता से भारत में जाति और समुदायों के सामाजिक शोषण और संस्कृति प्रबलता को ढूँढने का प्रयास किया है । अत: उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विचारधारात्मक दोनों में हैं ।

4.5 सारांश

पिछले पृष्टों में हमने सर्वप्रथम समाजशासत्र के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की चर्चा की है । तत्पश्चात भारत में समाजशास्त्र के अनुसंधान की प्रकृति की व्याख्या की है जिसमें हमने संरचनावाद, प्रकार्यवाद मार्क्सवाद, ऐतिहासिकता, अधीनस्थ इतिहास और तुलनात्मक समाजशात्र अध्ययन विधियों का विवेचन किया । अन्त में भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की दिशाओं का विश्लेषण किया ।

4.6 शब्दावली

विज्ञान	–	विज्ञान एक विधि है । किसी समस्या, परिस्थिति या तथ्य को सुव्यवस्थित ढंग से समझाने के प्रयास को हम वैज्ञानिक विधि कह सकते है ।
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	–	अनुसंधान की वह विधि जिसमें ऐतिहासिक दस्तावेजों तथा अन्य लिखित अथवा पुरातात्विक स्त्रोतों का प्रयोग शोध की अपरिष्कृत सामग्री के रूप में किया जाता है ।
भारतीय विद्याशास्त्र	–	यह वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें भारतीय समाज का मूलपाठको के आधार पर ऐतिहासिक एंव तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है । इसमें प्राचीन इतिहास, महाकाव्यों, धार्मिक हस्तलिखित साहित्य इत्यादि स्त्रोतों का प्रयोग करते ।
संरचनावाद	–	यह परिप्रेक्ष्य संरचनात्मक समझो समाज के विभिन्न अंगों के बीच सम्बन्ध पर बदल देता है ।
प्रकार्यवाद	–	यह परिप्रेक्ष्य एक उपागम है जो प्रथाओं या सामाजिक संस्थाओं के प्रकायों (प्रयोजनो) के अध्ययन पर जोर देता है ।
मार्क्सवाद	–	समाज ही वास्तविकता के विश्लेषण में मार्क्स के ऐतिहासिकद्वन्द्वात्मक भौतिकवाद परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया जाता है ।
अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य	–	इसमें प्रमुख समूह के स्थान पर मातहत या दीनहीन समूह के दृष्टिकोण पर बल दिया जाता है ।
तुलनात्मक विधि	–	वह परिप्रेक्ष्य हे जिसमें एक सामाजिक इकाई की तुलना दूसरे समाज की इकाइयों से करते है ।

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 विज्ञान क्या है? समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की चर्चा करें ।

2 भारत में समाजशासत्रीय अनुसंधान की प्रकृति तथा इसके विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की व्याख्या करें ।

3 भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान की दिशाओं का विश्लेषण कीजिये ।

4 समाजशास्त्र किस रूप में वैज्ञानिक विषय है? भारत में समाजशास्त्र की प्रमुख अध्ययन पद्धतियों एंव परिप्रेक्ष्यों की चर्चा करें ।

5 संक्षिप्त में टिपणियाँ लिखिये ।

(अ) प्रत्यक्षवाद

(ब) मानववादी उपागम

(स) भारतीय विद्याशास्त्र परिप्रेक्ष्य

(द) अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य

4.8 संदर्भ ग्रंथ-

1 बोटोमोर टी.बी. (1978) सोशियोलॉजी, मुंबई ब्लेकी एंड सन्स पब्लिर्स

2 दोसी एस.एल. तथा पी.सी. जैन 2000 समाजशास्त्र : नई दिशाऐं, जयपुर नेशनल पब्लिशिंग हाउस

3 नागला बी.के. (2006) समाजशास्त्र : एक परिचय, चंचकुणा हरियाणा साहित्य अकादमिक

4 नागला बी.कै.(2008) इंडियन सोशियोलॉजीकल थॉटु, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स

5 सिंह, योगेन्द्र (1986) इंडियन सोशियोलॉजी करेन्ट सोशियोलॉजी 34 नं. 2 समट ।

6 सिंह, योगेन्द्र एंव मंजू भट्ट (संपादक), समाजशास्त्र की सहभागी पुस्तक, नई दिल्ली राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

इकाई 5

भारत में समाजशास्त्रींय अध्ययन से संबंधित विभिन्न उपागम

इकाई की संरचना

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 प्राकृतिक विज्ञान बनाम समाज की वहस

5.2.1 किसे कहते है

5.2.2 क्या समाज शास्त्र दर्शनशास्त्र का एक भाग हे?

5.2.3 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक विधि

5.3 भारतीय समाजशास्त्र के मुख्य सैद्धान्तिक अभिस्थापनाओं का चौरहा अभिधारणा

5.4 भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन से संबंधित विभिन्न उपागम

5.4.1 दार्शनिक सैद्धान्तिक अभिस्थापन

5.4.2 सांस्कृतिक अभिसगपन

5.4.3 सैद्धान्तिक संस्थनात्मक अभिस्थापन

5.4.4 द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थापन

5.5 सारांश

5.6 शब्दावली

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.8 संदर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- प्राकृतिक विज्ञान एवं समाज विज्ञान में भेद कर सकेंगे ।
- विज्ञान किसे कहते हैं और यह बता पाऐंगे कि समाजशास्त्र दर्शनशास्त्र का कहीं तक भाग है ।
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक विधि और उसके लक्षणों की जानकारी ले पायेंगे ।
- भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक अभिस्थापनों का अवधिकरण क्या है तथा इनके आधार पर कौनसे विभिन्न उपागम है जिनके द्वारा भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन किये गये हैं।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक संरचना में जो बदलाव विभिन्न अवधियों में आया है उसकी व्याख्या करेंगे । व्याख्या करने में हम यह देखगे कि बदलवा वा कारण कहाँ तक

नवाचार अदधारणाओं और श्रेणियों के सर्वव्यापीकरण से है । यह बदलावकिस सीमा तक और किस अवधि में आया है ।

5.2 प्राकृतिक विज्ञान बनाम समाज की बहस

समाज विज्ञान का अध्ययन मानव समूह के सदस्य के नाते करते हैं । समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र सम्मिलित हैं । समाज या मानव विज्ञानों में आदमी का अध्ययन इस बात पर केन्द्रित होता है कि समूह के प्रति उनकी कौन सी गीतविधियां है । प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक घटनाओं जैसे कि गैस और जानवरों आदि का अध्ययन करते है । प्राकृतिक विज्ञानों की बुनियादी अध्ययन विधि अवलोकन और प्रयोग है । प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की वैज्ञानिक दिशा है, वह समाज विज्ञानो का भी वस्तुनिष्ठ और मूल्यनिरपेक्ष अध्ययन करने के लिए प्रेरित करती है । प्राकृतिक विज्ञान की विधि प्रत्यक्षवादी अर्थात यथार्थता को बिना किसी व्यक्तिनिष्ठ पूर्वग्रह के समझने की है । कुछ इसी तरह समाज वैज्ञानिक भी सामाजिक यथार्थता को समझने के लिए प्रत्ययवादी विधि को काम में लाते है और ऐसा करने में दे व्यक्तिगत तथा व्यक्तिनिष्ठ दरीयता और पूर्वग्रह को छोड़ देते है । अब प्रश्न है 1 विज्ञान किसे कहते हैं।

5.2.1 विज्ञान किसे कहते है

विज्ञान सोचने का ऐसा तरीका है जिसमें वस्तुनिष्ठ और तटस्थता होती है । जब किसी प्राकृतिक या सामाजिक घटना का अध्ययन वैज्ञानिक विधि से किया जाता है तब वस्तुनिष्ठ और तटस्थता के लक्क्ष को प्राप्त हो जाते है ।

एक बात अवश्य है कि किसी तरह प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित किया जा सकता है और यह सब संभव इसीलिये है कि ये प्रघटनाएँ बेजान है । दूसरी तरफ, सामाजिक प्रघटनाऐं जैसे कि परिवार, विवाह, जाति, वर्ग आदि भिन्न तरह की हैं । इनका निर्माण और निर्वाह सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों द्वारा होता है । वैज्ञानिक विधि जब दोनों पर लागू की जाती है तब प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन में अधिक सुनिश्चित होती है और सामाजिक प्रघटनाओं में अनुरूपता आ जाती हैं ।

यहाँ हमें इस बात को भी स्पष्ट करना होगा कि एक समाज विज्ञान के नाते क्या समाजशास्त्र किसी भी प्राकृतिक विज्ञान की तरह जान का उत्पादन कर सकता है? इसका थोडे में उत्तर यह है कि सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञान दोनों ही आनुभाविक रूप से देखी गई प्रघटनाओं की संख्या करते हैं । यह इसलिये कि कोई भी अध्ययन विधि इसे प्राकृतिक विज्ञानों में वैध समझी जाती है, समान रूप से समाज विज्ञानों में भी वैध मानी जाती है । समाज विज्ञान भी ज्ञान का भंडार है, उसके भागीदार है । वैधानिक विधियों में एक एकता होती है । कई बार अध्ययन की समानता भी कहते हैं । इसके पीछे तर्क यह है कि समाजशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों की विधियां अपने आप में मूल में समान हैं । लेकिन यहाँ यह भी कहना चाहिये कि समाजशास्त्र की विधि को भौतिकशास्त्र पर लागू नहीं किया जा सकता । सच्चाई यह है कि समाजशास्त्र और भौतिकशास्त्र अपने अपने ढंग से अध्ययन में वस्तुनिष्ठ को लाग करते हैं ।

5.2.2 क्या समाज शास्त्र 'दर्शनशास्त्र का एक भाग है? दर्शनशास्त्र को परस्पर रूप से जुडे हुए कई प्रश्नों के साथ तार्किक, भाषाई और कार्येकारक संबंध होता है । इस तरह की बौद्धिक गतिविधि प्राकृतिक और समाज विज्ञान दोनों में पाई जाती है और इसलिए यह अवधारणाओं और सिद्धान्तों की बुनियाद में दर्शन होता है । समाजशास्त्र में सिद्धान्त और अवधारणायें अंत में चक्कर आदमी और समाज के संबंधों पर ही आधारित होती है । आखिर दर्शनशास्त्र यर्थाथ के अस्तित्व के मसले पर चर्चा करता है और इसी मसले पर यानी सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं के यर्थाथ पर समाजशास्त्र भी चिन्तन करता है ।

किसी भी एक प्रघटना के वारे में ज्ञान को बढ़ाने के लिए विज्ञान अपनी पड़ताल, कार्यकारण और तर्क में वस्तुनिष्ठ विधियों को काम में लेता है । विज्ञान के तीन सक्ष्य होते है। पहला तो यह हे कि वस्तुएँ घटित क्यों होती है । दूसरा यह है कि विज्ञान व्यक्तिगत घटनाओं से परे समान्यीकरण करता है, जो सम्पूर्ण सामूहिकता पर लागू होता है । इसका तीसरा उद्देश्य- भविष्यवाणी करना होता है । यह भविष्यवाणी उपलब्ध ज्ञान के भंडार के आधार पर की जाती है ।

इस तरह प्रमाणित ज्ञान का एक निकाय है जिसमें भौतिक या सामाजिक यथार्थता होती है और इसकी प्राप्ति वैज्ञानिक विधि द्वारा होती है । वैज्ञानिक विधि एक ऐसी युक्ति है जिसका प्रयोग इस प्राप्त करने के लिये, प्राक्कल्पना की जाँच के लिये और तथ्य सामग्री के नये विश्लेषण के लिये किया जाता है । विज्ञान वस्तुनिष्ठ तथा सही सूचना को पेश करता है तथा प्राकृतिक दुनिया को समझने का अवसर देता है । यह विधि तथ्य एकल करने, व्यवस्थित करने और उनका निर्वचन करने में तार्किक, बुद्धि संगत, प्रभावशाली तथा कुशल है । इसमें कई चरणों की श्रृंखला होती है । जिसे अनुसंधान करते हुए अनुसंधानकर्त्ता काम में देता है । समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि सामाजिक यथार्थता के वस्तुनिष्ठ तथा बुद्धि संगत बुनियादी जानकारी की आवश्यकता को पूरा करता है ।

5.2.3 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक विधि

इसे हम एच.एम.जॉनसन द्वारा अपनी पुस्तक समाजशास्त्र में दिये गये वैज्ञानिक विधि के चार चरणों के आधार पर देख सकते हैं ।

1 **अनुभववाद** -

समाजशास्त्र अनुभवाश्रित है । मोटे रूप से इसका मतलब अनुभव को समझना है । यह अववोकन तथा तर्क पर निर्भर है न कि इसकी खोज का विषय कल्पनात्मक, अति प्राकृति और अटकण में प्रकटण पर है । समाजशास्त्रीय ज्ञान के सभी पहलू सामाजिक व्यवहार के मूल्यांकन पर निर्भर होते है और इन्हें अनुभाविक प्रमाण की कसोटी पर परखा जा सकता है ।

2 सिद्धान्त

समाजशास्त्रीय जान का सिद्धान्त बंधा हुआ है । इसमें सिद्धान्त प्रमुख है । यद्यपि सिद्धान्त शब्द के कई अर्थ है फिर भी यह सामान्य सहमति है कि यह एक भव्य या महान विचार है, इसका बुनियादी तार्किक और आनुभाविक दोनों है । यदि सिद्धान्त द्वारा दिया गया तर्क अनुभाविक प्रमाणों के समाने सही नहीं उतरता तब यह सिद्धान्त अटकण के रूप में रह

जाता है । सिद्धान्त और पारस्परिकता होती है । भिन्न-भिन्न तथ्यों से जटिकता को हटाकर उसे संक्षिप्त रूप में विज्ञान ही प्रदान करता है । इसके अन्तर्गत तथ्यों में कार्यकरण सम्बन्धों की खोज की जाती है । विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर आप समाजशास्त्र में बहुत सारे सिद्धान्त विकसित हो चुके है ।

3 संचयी ज्ञान -

समाजशास्त्र एक संचयी ज्ञान है समाजशास्त्र के रूप नये सिद्धान्तों का ही निर्माण नहीं करता है, बल्कि पुराने सिद्धान्तों को नई परिस्थितियों में जाँचता भी है, उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन भी करता है और उसे पीरष्कृत करता है । अर्थात समाजशास्त्र ज्ञान को श्रृंखला बद्ध ढंग से संचय एंव विकसित करने की क्षमता है । इस तरह समाजशास्त्र संचयी है । संचयी इसलिए कि इसके सिद्धान्त एक दूसरे पर बनते हैं । पुरानक सिद्धान्तों को संशोधित किया जाता है और उस पर नये सिद्धान्त बनाये जाते हैं । इस भांति समाजशास्त्रीय विरचना का उद्देश्य एकीकरण को प्राप्त करना होता है ।

4 मूल्य तटस्थता

समाजशास्त्र नीति निरपेक्ष है । - नीति निरपेक्षता का अर्थ है कि विज्ञान नैतिकता जैसी बातों से अलग रहता है । तथ्यों को केवल तथ्यों के रूप में रखना ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है । वैज्ञानिक खोज में हम यह नहीं कहते हैं कि कौन सा तथ्य अच्छा या बुरा है या कौनसा तथ्य होना चाहिए या नहीं होना चाहिए । यह विशेष मूल्यों आचारों को भजा ब्रूश नहीं कहता । यह मुद्दों पर बात करता है और इसके लिए मानव सम्बन्ध सर्वोपरि है । इस सन्दर्भ में गिन्जवर्ग का कहना है कि समाजशास्त्र को आचार संबंधी समस्याओं का अध्ययन, तटस्थता, वस्तुनिष्ठता और बुद्धिसंगतता से करना चाहिये । ऐसा करने से इसे स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये । यह दृष्टिकोण ही इसे विज्ञान, का दर्जा दे सकता है ।

5.3 भारतीय समाजशास्त्र के मुख्य सैद्धान्तिक अभिस्थापनाओं का चौरहा अभिधारणा

भारतीय समाजशास्त्र पर योगेन्द्र सिंह (1993) ने जो चोरहा अधिकरण 1952 से 1977 का दिया है शायद वह हमें यह पहचान दे सकें कि किस भाँति प्रत्येक अवधि में प्रभावी सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक व्यवस्थाएँ पैदा हुई हैं । लेकिन भारतीय समाजशास्त्र सामान्य सामाजशास्त्र की तरह इस अवधि में सिलसिले से किन्हीं पैराडाइम को बता सका है । जो कुछ देखने को मिलता हे वह यह है कि कुछ प्रतिस्पर्धा पैराडाइम और सैद्धान्तिक अभिस्थापना दोनों ही अपने सहअस्तित्व को बनाये रखते हैं । इस सम्पूर्ण अवधि में भारतीय समाजशास्त्रियों ने सामान्य सिद्धान्त के निर्माण से कम सरोकार रखता है । उन्होंने तो अपना मतलब कतिपय अवधारणात्मक विन्यासों, सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण के लिये प्रयोग में लिया जाता है । इसके अपवाद राधाकमल मुखर्जी हैं । उन्होंने समाज विज्ञान के दर्शन (1960) और भारतीय समाजशास्त्रीय काफ्रेन्स (1958) के अध्यक्षीय भाषण के अक्सर पर यह प्रस्ताव किया कि सामाजिक यथार्थताओं की समझ और विश्लेषण के लिये हमें सभी समाज विज्ञानों का एकीकरण

करना चाहिए । तब से अब तक समाज विज्ञानों का कोई ऐसा एकीकरण नहीं हो पाया है । हमारे अधिकांश समाजशास्त्री केवल अवधारणात्मक विन्यासों के प्रयोग से सन्तुष्ट है।

भारतीय समाजशास्त्र के मुख्य सैद्धान्तिक अभिस्थापनाओं में पिछले वर्षों में विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव आये हैं । जिन क्षेत्रों में ये उतार-चढ़ाव आये है - दर्शनशास्त्र, संस्कृतिशास्त्र संरचनात्मक और द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक उपागम । सिद्धान्त के निरूपण के आधारों पर इन अभिस्थापनों में कोई भी व्यवस्थित स्वरूप से अस्तित्व नहीं रखता । इनमें से अधिकांश विन्यास केवल विश्लेषण की एक शैली की तरह काम करते हैं और इनका विन्यास अवधारणाओं की एक अभागी व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है । जो चार सैद्धान्तिक अभिस्थापन है जिन्हें योगेन्द्रसिंह ने बार अवधियों में बांटा है, वे 1952 या उससे भी पहले भारतीय समाजशास्त्र में उपलब्ध थे और इन्हें विभिन्न स्वरूपों में लागू किया जाता है । केवल दार्शनिक अभिस्थापन ऐसा है जो पिछले कुछ वर्षो से कमजोर हुआ है और इसकी कमजोरी का कारण यह है कि समाजशास्त्री अध्ययन की वास्तविक समस्याओं के साथ कोई सावयवी जुड़ाव नहीं है । यहाँ उसकी व्याख्या करेंगे । व्याख्या करने में हम यह देखेंगे कि बदलाव का कारण यहाँ तक नवाचार, अवधारणाओ और श्रेणियों के सर्वव्यापीकरण से हैं । यह बदलाव किस सीमा तक विशिष्ट तनावों को देखता है और किस अवधि में कितना-बदलाव आया हे ।

भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक दिशाओं का विज्ञान के प्रारंभ से ही जो बुनियादी तनाव रहे हैं, उनके माध्यम से हम विश्लेषण कर सकते हैं । ये तनाव जितने सैद्धान्तिक है, उतने ही वैचारिक भी है । सैद्धान्तिक रूप से समाजशास्त्र और अवधारणात्मक विन्यास और दूसरी और उन अवधारणाओं और प्रस्तावों के विशिष्टकरण और संदर्भ परकता सर्वव्यापीकरण के बीच के हैं । ऐसा महसूस होता है कि समाजशास्त्रियों की सिद्धान्त के बारे में जो प्रतिबद्धता है, वह बराबर बढ़ती-घटती रही है । इसके लिये ने केवल सिद्धान्त निर्माण के क्षेत्र में इसकी खोजें, सफलताओं और असफलताओं की प्रकृति उत्तरदायी है बल्कि समाजशास्त्र के निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हैं । इसके कारण समाजशास्त्र की और विवेचनात्मक तनाव के रूबरू होता है जिसका संबंध ज्ञानात्मक संरचना और विचारधारा की भूमिका से है । दूसरी और अवधारणाओं के सर्वव्यापीकरण या विशिष्टीकरण तथा समाजशास्त्र की जो भी श्रेणियां बनायी जा रही है उनका सरोकार भी इन तनावों का आधार है ।

भारत में समाजशास्त्र इन ज्ञानात्मक तनावों का अनुभव तब से कर रहा है जब से इसका प्रारंभ हुआ है । ऐसा लगता है कि 1952 से 1977 तक इन तनावों से उतार-चढ़ाव विशेष रूप से आया है । इसका कारण यह रहा है कि हमारे यहाँ इतिहास और ज्ञान की वास्तविकताओं की शक्तियाँ बराबर बदलती रही है । समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक दिशाओं और विचारों की बदलती हुई संरचना के विश्लेषण के लिये यह लाभदायक होगा अगर हम 1952 से 1960 तक अवधि का विश्लेषण करें । यह अवधि मुख्यतया नवाचरों और परिवर्तन के अनुकूलन की थी । दूसरी अवधि 1960 से 1965 की है । इस अवधि में हमारी सैद्धान्तिक वरीयता में खिसकन आई है और समाजशास्त्र की विचारधारा तथा सिद्धान्त में कुछ विश्लेषणात्मक तनाव आये । आगे की अवधि 1966 से 1970 की है । इस अवधि में समाजशास्त्र में स्वयं चेतना आई तथा सिद्धान्त और वास्तविकता के योगदान के क्षेत्र में नई

दिशाओं में जन्म लिया । अंतिम अवधि 1970 से 1977 की है । इस अवधि में समाजशास्त्र नई परिवक्ता की और मुड़ा है और तब से यह बराबर ज्ञान से सैद्धान्तिक और वास्तविक आयामों की खोज है ।

5.4 भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन से संबंधित विभिन्न उपागम

उपयुक्त चार खण्डों (1952 से 1977) का वर्णन योगेन्द्र सिंह ने चार सैद्धान्तिक उपागमों के रूप में पेश किया है जो भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन से संबंधित विभिन्न उपागमों को दर्शाते हैं । यह इस प्रकार हैं

1 दार्शनिक सैद्धान्तिक अभिस्थापन

2 सांस्कृतिक अभिस्थापन

3 सैद्धान्तिक संस्थनात्मक अभिस्थापन

4 द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थापन

5.4.1 दार्शनिक सैद्धान्तिक अभिस्थापन

भारतीय समाजशास्त्र में दार्शनिक अभिस्थापन लखनऊ स्कूल के समाजशास्त्र से जुड़ा है। इस स्कूल में राधाकमल मुखर्जी, डी.पी. मुकर्जी और ए.के. सरन के योगदान महत्वपूर्ण हैं । इनमें से अधिकांश योगदानों का संबंध 1952-60 की अवधि में हैं । इस अवधि के बाद तो वह ए.के. सरन ही इस अभिस्थापन के प्रणेता रहे हैं ।

दार्शनिक अभिस्थापन ने भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक प्रकृति पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला हो, ऐसा नहीं है । इसका कारण शायद यह है कि इन तीनों समाजशास्त्रियों की दार्शनिक सैद्धान्तिक क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ है, वे एकीकृत और जुड़ी हुई नहीं है । उनकी कृतियों में जो सैद्धान्तिक तनाव है वे एक समान नहीं हैं

राधाकमल मुखर्जी ऐसा समझते हैं कि समाजशास्त्र में ऐसे सर्वव्यापी अवधारणाओं और समान्य कोटियों की संभावना है जो न केवल समाजशास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जोड़ सके लेकिन समाज विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों को भी सम्मिलित कर सकें । इस भाँति राधाकमल मुखर्जी सर्वव्यापी श्रेणियों के निर्माण की सम्भावना देखते हे । दूसरी और डी.पी. और विशिष्ट समाजशास्त्रीय श्रेणियों में बारे में संदेहपूर्ण है । रूचिकर बात यह है कि वे प्रभावी रूप से मार्क्सवाद की तरफ झुकाव रखते हैं लेकिन जब भारतीय समाजशास्त्र के मॉडल की बात होती है । तब वे विशिष्टवाद की तरफ मुड़ जाते हैं । उनका जोर परम्परा और इतिहास की और है । उनकी कृतियों पर डिल्थे और मार्क्स का प्रभाव है । देखा जाये तो इन दोनों विचारकों के अभिस्थापन परस्पर विरोधी है । इसी कारण डी.पी. मुखर्जी का द्वन्हात्मकता के प्रति जो बोध है और जिसे के विश्लेषण की बहुत बड़ी विधि मानते हैं, के सर्वव्यापी अर्थ नहीं है । तीसरी और ए.के. सरन समाजविज्ञानों और समाजशास्त्र की दार्शनिक और विचारधारा संबंधी प्रकृति पर जबरदस्त तार्किक स्थिति अपनाते है । वे भारतीय समाज के लिये एक ऐसे उपागम को स्वीकार करते हैं जो इस समाजशास्त्र को विशिष्ट दर्जा देता है । इस कारण हम चाहें तो यह भी कह सकते है कि इस तीनों समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण में एक नैरन्तर्य है । इसमें

राधाकमल मुखर्जी समाजशास्त्र को अपने अंतिम छोर में सर्वव्यापी अभिस्थापन देते हैं ए.के. सरन समाजशास्त्र के अतिविशिष्ट समाजविज्ञानों का दर्जा देते है और डी.पी. मुखर्जी इन दोनों दृष्टिकोणों के मध्य में हैं।

राधाकमल मुखर्जी ने आपनी पुस्तक Philosophy Social Science में वस्तुओं को समझने के लिए द्वन्द्व के सिद्धान्त का प्रयोग किया । मुखर्जी ने अपने द्वन्द्व के बोध में ही गये वेदान्त ओर बौद्ध धर्म में बहुत कुछ देते हैं । वे तो यहाँ तक कहते है "मनुष्य द्वन्द्वात्मक रूप में सोचता है और इसी तरह जीवित रहता है । " द्वन्द्व का मतलब आदमी के लिये यह है कि वह विरोधी शक्तियों के उतार-चढ़ाव से ऊपर उठकर उँचे और अधिक ऊँचे स्तर पर अपनी नैतिक और संज्ञातात्मक पहचान करें । इस तरह मौलिक तत्व समाज के माध्यम से ही संभव है । मुखर्जी कहते है कि "आदमी जो मौलिक तत्व होता है, उसकी प्राप्ति समाज के माध्यम से होती है और इसी कारण उसमें आन्तरिक तनाव होता है । वे कहते हैं 'यह आदमी की प्रकृति है कि लोकातीत बन जाये । यह इसलिये कि उसका स्वयं का स्व आगे बढ़ जाता है और पड़ोसी से वह आगे हो जाता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से वह आगे निकल जाता है ।

जब हम समाज की सुदृढ़ता के मॉडल की बात करते हैं तब मुखर्जी और प्रजातांत्रिक प्रतिमान और मार्क्सवादी मॉडल दोनों को अपर्याप्त मानते हैं । वैकल्पित तीसरे मार्ग का सुझाव देते हैं । इसके अनुसार आदमी की स्वतंत्रता का सिद्धान्त और सामान्य आदमी की गरिमा का सिद्धान्त एक उदार विचारधारा की तरह उभर जाता है । तब आदमी समाज से जुड़े हुए जितने भी स्त्रोत होते हैं, उनमें भागीदारी करता है जैसा कि हम श्रमिक वर्ग में देखते हैं, ऐसा प्रतिमान मार्क्सवाद ने भी किया है । मुखर्जी ने प्रत्यक्षवाद का विरोध किया और दार्शनिक द्वंद्ववाद तथा ऐतिहासिक बाद के प्रयोग पर अधिक बल दिया है । इनके सिद्धान्त को हम भौतिकवाद सिद्धान्त कह सकते है । इस सिद्धान्त पर कोई आनुमानिक अध्ययन नहीं किया गया है । यद्यपि मुखर्जी ने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में ऐसे कई अध्ययन किये है । दूसरे शब्दों में अपने दार्शनिक मॉडल पर उन्होंने अपना कोई अध्ययन नहीं किया ।

इधर, दूसरी और डी.पी. मुखर्जी कोई सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त या नैतिक दर्शनशास्त्र पर वृहद सामाजिक सिद्धान्त बनाने का प्रयास नहीं करते । वे अपनी कृतियों में द्वन्द्व की विचारधारा को काम में जाते हैं, और यह धारणा अपने प्रतिपादन में मार्क्सवादी है, वे इसे मार्क्सवादी तर्क या माक्सेलॉजिक्स कहते हैं । डी. पी. मुखर्जी की प्रसिद्ध पुस्तक डाईवर्सिटिज है। इसमें अनेक निबन्ध सम्मिलित है जो अधिकांशत: सैद्धान्तिक है । इस पुस्तक में वे आग्रहपूर्वक कहते है कि सामाजिक विश्लेषण में इतिहास का प्रयोग होना चाहिए । इसका कारण यह है कि वर्गो के निर्माण, वर्ग संघर्ष और संरचनात्मक तनाव में भारतीय समाज में ऐतिहासिक सन्दभों, परम्पराओं और प्रतीकों की बड़ी छाप है । देखा जाए तो डी.पी. मुखर्जी ने जो समाजशास्त्र मॉडल प्रस्तुत किया है, उसमें डिल्थे और मार्क्स का संश्लेषण है ।

समाजशास्त्र विश्लेषण में ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक विधि की अपेक्षा डी.पी. मुखर्जी आनुभाविकवादी तथा प्रत्यक्षवादी विधि को पसन्द करते हैं । मुखर्जी का कहना है कि विश्लेषण

की आनुभाविक विधि अपने मूल में पश्चिम से आई है । केवल मार्क्सवाद का भारतीय रूपान्तरण ही यहाँ के समाजशास्त्र के लिये प्रासंगिक है, पश्चिम की और विधियाँ नहीं । मुखर्जी इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं करते कि ऐतिहासिक रूप में विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने वाले समाजों को समाजविज्ञान की वस्तुनिष्ठा की तुलना की दृष्टि से प्रासंगिक समझा जाए । उनका तो कहना है कि. हमें ऐसी समाजशास्त्रीय श्रेणियों की चेतना होना चाहिए जिनका विकास परम्पराओं से हुआ है।

ए.के. सरन, डी.पी. मुखर्जी के विद्यार्थी थे । बाद में पढ़कर वे उनके सहकर्मी भी बन गये । यद्यपि सरन मुखर्जी की कृतियो से प्रेरित थे. फिर भी वे मुखर्जी ने जो कुछ समाजशास्त्र और वृहत सिद्धान्त में प्रतिपादन किया है उससे तार्किक रूप से और अधिक नितान्त दृष्टिकोण अपनाते है । सरन, डी.पी. मुखर्जी की विभिन्नता की आलोचना करते हैं और ऐसा - करके वे योजनाबद्ध सामाजिक अवस्था 'को धारणा का मूल्यांकन करते हैं ।

सरन के कथन की दो दिशाएँ है । पहली दिशा यह है कि उन्होंने भारत के समाजशास्त्र के लिये पश्चिमी विचारको जैसे लुई ड्यमों और डेविड पीकॉक ने जो वैकल्पित संरचनाएँ दी है उनका विरोध करते हैं । दूसरा उन्होंने बडी तीव्रता से भारतीय समाज को पश्चिम के साथ में जिस तरह से जोड़ा गया है इसका विरोध किया है । सरन की कुछ टिपणियों को भारतीय समाजशास्त्र पर लिखे गये ड्यमों के निबन्ध के सिलसिले में देखा जा सकता है । ड्यमो ने हिन्दुत्व के धर्म, अर्थ और काम की जो व्याख्या पाश्चात्य संदर्भो में की है, उसका सरन ने विश्लेषण करके विरोध किया है । ड्यमों ने सरन के सिद्धान्तों का खंडन करते हुए कहा है कि सरन ने सांस्कृतिक सापेक्षता तथा सार्वभौमिक भाषा को समझने में गलती की है ।

यह बहस जो भारतीय समाजशास्त्र को लेकर आज एक मुद्दे के रूप में उठाई जा रही है इसका वैचारिक और सैद्धान्तिक महल है । इसका सबसे बड़ा योगदान यह है कि भारतीय समाजशास्त्र को लेकर ड्यमों ओर पोकॉक भारत के लिये समाजशास्त्र के विवाद को चलाया है, यह विवाद अब भी चल रहा है । इस तरह के विवाद के कई आशय निकलते हैं और इनका सम्बन्ध भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक अभिस्थापन से जुड़ा हुआ हैं ।

5.4.2 सांस्कृतिक अभिस्थापन

जिसे हम संस्कृतिक अभिस्थापन कहते है इसकी शुरूआत श्री निवास की कृति ' 'रिलिजन एण्ड सोसायटी अमंग कूर्ज ऑफ साएथ इंडिया. (1955) से है । इस कृति में श्रीनिवास ने “ब्राह्माणीकरण” की अवधारणा को रखा है । इससे तात्पर्य यह है कि निम्न हिन्दु जातियाँ ब्राह्मणों की जीवन पद्धति और उनके कर्मकाण्ड का अनुकरण करती है । लेकिन बाद में चलकर श्रीनिवास और कई अन्य विद्वानों को लगा कि "ब्राह्माणीकरण ' की अवधारणा बहुत सीमित है और इसके स्थान पर ' संस्कृतिकरण' ' की अवधारणा को अधिक व्यापक बताया और इसका “पश्चिमीकरण” के साथ अन्तर किया ।

यद्यपि इस दो अवधारणाओं को प्रयोग अनुसंधान प्रणाली एक उपागम के रूप में किया है फिर दोनों में एक व्यवस्थित तर्क है । संस्कृतिकरण का आशय ऐसे परिवर्तन से है जिसमें निम्न जातियाँ उच्च जातियों यानी द्विज जातियों के कर्मकाण्ड पद्धति और रीति-रिवाजो को

अपनाती है। दूसरी तरफ, उच्च जातियाँ ब्रिटिश या दूसरी पश्चिमी परम्पराओं की सांस्कृतिक जीवन शैली और संस्थाओं का अनुसरण करती है । इसका परिणाम पश्चिमीकरण है । श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक "सोशल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया" 1966 में इन दोनों अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है । इन दोनों अवधारणाओं के प्रयोग को उन्होंने भारत में होने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया । इस तरह की अवधारणात्मक योजना में संरचनात्मक दृष्टि से सांस्कृतिक सीमाएँ हैं । ये सीमाएँ विशेषाधिकार और शक्ति के संस्तरण और असमानता से जुडी हुई है । सीमा इसलिये है कि इन अवधारणाओं का संबंध उन जातियों से है जो सामाजिक सौपान में निम्न या उच्च है । यह निम्नता और उच्चता सामाजिक और आर्थिक स्तर की प्रतिष्ठा से हो सकती है ।

'संस्कृतिकरण' और "पाश्चात्यकरण की अवधारणाओं के साथ साथ श्रीनिवास ने धर्मनिरपेक्षीकरण" की अवधारणा को भी काम में किया है । "धर्मनिरपेक्षीकरण" एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका आदर्श सर्वता संविधान में मिलता है ओर जिसे विभिन्न प्रकार के सामाजिक विधानों में संहिता बद्ध किया गया है । ऐसा करने का प्रयास इसलिये किया गया है कि लोगों में धार्मिक सहिष्णुता और विचारधारा का यह अस्तित्व स्थायी बनाए जा सके, इस तरह की धर्मनिरपेक्षीकरण को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक राष्ट्रीय विचारधारा के रूप में रखा गया ।

एक और प्रयास भारत में परिवर्तन की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को विश्लेषण का हुआ है। मिल्टन सिंगर ओर मेकिम मेरियट ने रैडफील्ड मॉडल बनाया है । यह मॉडल लघु तथा महान परम्पराओं के द्विभागीकरण पर आधारित है । वृहद परम्परा का आधार बडी संरचना से है । जो अभिजात वर्ग की है, जिसका केन्द्र नगर है और जिसका एक औपचारिक चरित्र है । दूसरी और लघु परम्परा का आधार है । जिसका सरोकार गाँवों में रहने वाले और अनपढ़ सामान्य लोगों से है कि विभिन्न विषय, विचार या प्रतीत एक परम्परा को दूसरी परम्परा की और प्रवाहित होते हैं । कही पर परम्परा के तत्वों का सर्व व्यापीकरण होता है और ही पर देहातीकरण या स्थानीकरण । यह प्रक्रिया आन्तरिक और बाह्य दोनों कारकों द्वारा पैदा होती है। इस प्रक्रिया में संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण या आधुनिकीकरण को जोड़ा जा सकता है ।

जिस तरह की अवधारणात्मक योजना की संरचना श्रीनिवास ने की है उसका भारतीय समाजशास्त्र पर सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के विश्लेषण में बहुत बड़ा असर पड़ा है । 1952 से 1968 तक भारत में जो ग्रामीण अध्ययन हुए हैं उनके विश्लेषण में इन अध्ययनों ने एक रूप रेखा का काम किया है । और बाद में चलकर भारतीय समाजशास्त्र में जो उतार-चढ़ाव आये हैं उन्हें समझने में भी इन अवधारणाओं ने सहयोग दिया है । आधुनिकीकरण ओर परम्परा की अवधारणाओं के विश्लेषण के लिये इन प्रक्रियाओं (संस्कृतिकरण-पाश्चात्यकरण) को काम में लिया जाता है । ये प्रक्रियाऐं समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक तथ्यों को समझने के लिए उपयोगी है ।

5.4.3 सैद्धान्तिक संस्थनात्मक अभिस्थापन

ऊपर हमने सांस्कृतिक अभिस्थापन की भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक विश्लेषण में योगदान की चर्चा की है । यह अभिस्थापन ग्रामीण समुदायों, जाति संरचना और इससे

संस्थागत रूप से जुड़े हुए जाति, नातेदारी और धार्मिक विचारों के विश्लेषण में सहयोगी । एफ.जी. बैली का अध्ययन इसी का एक उदाहरण है । रैली संरचनात्मक प्रकार्यवादी है न कि सांस्कृतिक प्रकार्यवादी।

संरचनात्मक अध्ययन की एक और महत्वपूर्ण दिशा है । ये अध्ययन तुलनात्मक संबंधों की श्रेणियों जैसे कि भारत में जाति और वर्ग के संबंध पर केन्द्रित होते हैं । इस तरह से उपागम से दो बातें स्पष्ट होती है - एक तो तुलना में और दूसरा सामान्यीकरण । उदाहरण के लिये बैली ने भारत के संरचनात्मक परिवर्तन की व्याख्या तुलनात्मक श्रेणियों से की है जैसे कि 'जनजाति'' ''जाति' और 'राष्ट्र'' 'वर्ग'' और 'शक्ति' की विश्लेषणात्मक श्रेणियों द्वारा किया है ।

सातवें दशक में अर्थात् 1957 से 1969 में जो शहरी सर्वेक्षण हुए है उनमें भी समाजशास्त्रीय संरचनात्मक अभिस्थापन देखने को मिलता है । ये शहरी सर्वेक्षण मुख्य रूप से योजना आयोग की अनुसंधान कमेटी द्वारा प्रतिभूत थे । बल सारा (1964) ने नौ शहरों के अध्ययन को जोड़ा है। इन सर्वेक्षणों 'में जनसंख्या, भाषा, शिक्षा, व्यवसाय, उद्योग, आन्तरिक स्थानान्तरण, आय, रोजगार, आवास और सामाजिक जीवन की दिशाएँ जो शहरों में मिलती है, उन्हें सम्मिलित किया है । इन सर्वेक्षणों में सांख्यकीय मॉडल को अध्ययन के लिये काम में लिया गया है और आकड़ों को एक चुने हुए निदेशन से अनुसूची और प्रश्नावली द्वारा एक वर्ग आयोजाकों के लिये उपयोगी है। देखा जाये तो संरचनात्मक अभिस्थापन ने भारतीय समाज की बुनियादी प्रक्रियाओं को समझने में न केवल हमें गहरी अर्न्तदृष्टि प्रदान की है, लेकिन इसने इतिहासकारों, राजनैतिक वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों को समाजशास्त्र के निकट ला दिया है ।

5.4.4 द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थापन

द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थान का संबंध प्राथमिक रूप से मार्क्सवादी विधियों से है । यहाँ हमने द्वन्द्वात्मक अभिस्थापन की बात कही है, मार्क्सवाद की नहीं । यह इसलिये कि भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवाद उपागम के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं । वास्तव में पाँचवे और छठे दशक में भारत में मार्क्सवाद पर बुनियादी-चिन्तन किया गया था और चिन्तन समाजशास्त्रियों का नहीं, गैर समाजशास्त्रियों का था । प्रारंभ के समाजशास्त्री जिन्होंने द्वन्द्वात्मक मॉडल के महत्व पर जोर दिया उनमें डी.पी. मुखर्जी और रामकृष्ण मुखर्जी प्रमुख थे। डी.पी. मुखर्जी जिनके समाजशास्त्रीय योगदान में प्रारंभ में उल्लेख किया है, उनके अनुसार समाजशास्त्रीय चिन्तन में ऐतिहासिक रूपरेखा और द्वन्द्वात्मक अभिस्थापन दोनों का होना अनिवार्य है । लेकिन उन्होंने स्वयं इस तरह की विचारधारा को लेकर आनुभाविक अध्ययन नहीं किये ।

रामकृष्ण मुखर्जी ने द्वन्द्वात्मक मॉडल को लेकर ऐतिहासिक और आनुभाविक अध्ययन किये हैं। मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'द राइज एण्ड फॉल दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी (1958) में सामान्तवाद के विघटन और अभिजात वर्ग की मनमानी और नवीन माध्यम वर्ग के विकास का उल्लेख किया है। मुखर्जी की पुस्तक 'द डाइनोमिक्स ऑफ ए रुल्स सोसायटी

(1957) में कुछ गाँवों में होने वाले सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को वर्गो की संरचना में देखा है ।

भारतीय समाजशास्त्रियों में मात्र अक्षय देसाई एक ऐसे समाजशास्त्री है जिन्होंने द्वन्द्वात्मक एतिहासिक मॉडल की बराबर वकालत की है । उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता का अध्ययन किया है । देसाई ने वर्गो के बीच के विरोधाभास और द्वन्द्व के तर्क को प्रस्तुत किया है । अपने इस उपागम को उन्होंने अपनी अनेक कृतियों में रखा है । द्वन्द्वात्मक सैद्धान्तिक अभिस्थापन जिसे अक्षय देसाई ने अपनाया उसका प्रयोग राजनैतिक संरचना, कृषक वर्ग तथा सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में काम में लिया जाता है! बैटलहैम का अध्ययन इसी उपागम का उदाहरण है ।

5.5 सारांश

उपरोक्त ये चारों अभिस्थापन मूलरूप से एक दूसरे के पूरक है । योगेन्द्र सिंह के अनुसार उपागमों के अन्तर्गत विज्ञान का दर्शक शोध की विभिन्न तकीनकियों एवं उपकरण इत्यादि आते हैं । इसके अनुसार समाजशास्त्र पूर्व अनुमानिकता पर आधारित नहीं है । बल्कि उनका सिद्धान्त सामाजिक यथार्थ तथा ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित है ।

भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक अभिस्थापनों के अवधिकरण की जो दिशा रही उसमें ऐतिहासिक दृष्टि से दो बाते दिखाई देती है । एक प्रवृत्ति उन लोगों की है जो बराबर एक निराशाजनक भविष्य की बात करते रहे है । दिखा जाय तो रोनाल्ड से गय, सेलिग हेरिसत, गुनार मिर्डल, ईमानुयज बेलस्टन आदि ने भारत के इस संकट की चर्चा की है । इस तरह की चर्चा सन 1950 के मध्य स लेकर सन् 1970 के दशक के अन्त तक होती रही है । इधर सन् व 1980 के दशक के बाद हमें. विश्लेषणात्मक और आनुभाविक लेखन लिखे है जो भारत के विकास के पक्ष में सकारात्मक टिप्पणी देते हैं । विद्यासागर नेयबाज ने परिवर्तन के इस रोध को प्रतीकात्मक रूप रूप से रखा है ।

आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया में नई तकनीक के सामाजिक प्रभाव यांत्रिक और प्रतीकारात्मक तात्विक होते हैं । वे यांत्रिक स्तर पर व्यवसायों, भूमिकाओं और आदर्शो के विभेदीकरण में योगदान देते है जो सार्वभौमिक संस्कृति और पद्धति का एक रूप हिस्सा है । आज भार में समाजशास्त्र अध्ययन उन उपागमों की आवश्यकता है जिनकी अवधारणाओं द्वारा सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक परिवर्तन को विश्व विचार के दृष्टिकोण से देखा जा सके ।

5.6 शब्दावली

विज्ञान	–	विज्ञान सोचने का ऐसा तरीका हैं जिसमें वस्तुनिष्ठ और तटस्थता होती हैं
दर्शनशास्त्र	–	दर्शनशास्त्र यथार्थ के अस्तित्व के मसले पर चर्चा करता है ।
संस्कृतिकरण	–	इसका आशय ऐसे परिवर्तन से है जिसमें निम्न जातियाँ उच्च जातियों के कर्मकाण्ड पद्धति और रीति-रिवाजों को अपनाती है ।
पश्चिमीकरण	–	इसमें उच्च जातियाँ पश्चिमी परम्पराओं की संस्कृति जीवन शैली और संस्थाओं का अनुसरण करती है ।

लघु परम्परा	–	लघु परम्परा का आधार छोटी संरचना का स्थानीय परम्पराओं से है जिसका सरोकार गाँवों में रहने वाले ओर अनपढ़ सामान्य लोगों से है।
वहद् परम्परा	–	वहद् परम्परा का आधार बड़ी संरचना से है जो आभिजात वर्ग की है जिसका केन्द्र नगर है और जिसका औपचारिक चरित्र है ।

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 विज्ञान क्या है? प्राकृतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान में भेद कीजिए ।

2 वैज्ञानिक विधि क्या है? तथा इसके लक्षणों की चर्चा कीजिये ।

3 भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न उपागमों की व्याख्या कीजिये ।

4 संक्षिप्त में टिप्पणियाँ लिखिए

अ विज्ञान

ब समाजशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक भाग है

स संस्कृतिकरण

द द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक अभिस्थापन

5.8 संदर्भ ग्रंथ

1 जॉनसन, एच.एम. (1983), सोशियोलॉजी नई दिल्ली अजाइड पब्लिसिंग प्रा.लि. ।

2 नागला बी.के. 2006, समाजशास्त्र एक परिचय, पंचकूला : हरियाणा साहित्य अकादमिक।

3 नागला, बी.के. 2008 इंडियन सोशियोलॉजिकल थॉट, जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स ।

4 सिंह, योगेन्द्र 1986 इंडियन सोशियोलॉजी, करन्ट सोशियोलॉजी, वाल्यूम 34 नं. 2 समर।

5 सिंह, योगेन्द्र 1993 आइडोलॉजी, थ्योरी एंड मेथड्स इन इंडियन सोशियोलाजी, नागला बी.के. एडीटेड डेवलपमेन्ट एन्ड सोशियल ट्रान्सफारमेशन, जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स

6 सिंह योगेन्द्र एवं मंजू भट्ट संपादक 2002, समाजशास्त्र दी सहभागी पुस्तक, नई दिल्ली. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद ।

इकाई 6

राधाकमल मुकर्जी का योगदान

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 राधाकमल मुकर्जी : व्यक्तित्व तथा कृतित्व
6.3 केन्द्रीय विचार
6.4 अर्थ तथा सामाजिक व्यवहार का संबंध
6.5 सामाजिक पारिस्थिकी
6.6 मूल्य का सिद्धान्त
6.7 भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता
6.8 सार्वभौमिक सभ्यता
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 संदर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- राधाकमल मुकर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- सामाजिक परिस्थितियों के बारे में समझ सकेंगे ।
- राधाकमल मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत सार्वभौमिक सभ्यता के बारे में जान सकेंगे

6.1 प्रस्तावना

यह कहा जाता है कि पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र का विकास-यूरोप में पूंजीवाद के विकास के साथ हुआ । भारत में समाजशास्त्र के विकास का प्रारंभ औपनिवेशिक काल में यूरोपीय ज्ञान के प्रवाह तथा भारतीय समाज संबंधी ज्ञान की औपनिवेशिक आवश्यकताओं के साथ प्रारंभ हुआ । यह इंगित किया गया है कि भारत में भारतीय समाजशास्त्रीय सोच मौजूद था । पिछली शताब्दी के समाज सुधारक तथा समाज चिन्तकों की एक कतार मौजूद थी, जिसने बाद में भारतीय समाजशास्त्र की उत्पत्ति और उसके विस्तार में अपना योगदान दिया था । उनमें कुछ धार्मिक आधार के लोग भी थे । राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्या सागर, रामकृष्ण गोखले परमहंस. विवेकानन्द, दादा भाई नौरोजी, बाल गंगाधर तिलक, गोपाल आदि अनेक समाज सुधारक-विचारक-धार्मिक दार्शनिकों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनके पास समाजशास्त्रीय दृष्टि थी । पर समाजशास्त्र एक विषय और ज्ञान की दृष्टि से कुछ और ही तरीके से विकसित हुआ । यह दृष्टि वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद, उसके सिद्धान्त, पद्धति तथा तत्संबंधी विश्लेषण पर केन्द्रित था । उसी समय बहुत से पादरी तथा प्रशासन अधिकारी

उन आंकडों का संग्रहण कर रहे थे, जिनकी प्रकृति समाजशास्त्रीय थी और जिनका प्रयोग समाजशास्त्र में अध्ययनों के लिए किया गया था । प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार समाजशास्त्र के प्रारंभ में न केवल औपनिवेशिकता-साथ ही साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आन्दोलन का भी प्रभाव था ।

1950 से पहले का समाजशास्त्र कई स्तरों पर समन्वय का समाजशास्त्र था । यह विचित्र संयोग था कि समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का विकास दो ऐसे बड़े शहरों मुंबई और कोलकता में हुआ था । जो उपनिवेशवादी शासन के बड़े केन्द्र थे । बाद में लखनऊ भी समाजशास्त्र का बड़ा केन्द्र बना । 1950 से पहले जिन समाजशास्त्रियों का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है । उनमें बी.एन.सील., जी.एस धुरये, बी.के. सरकार, राधाकमल मुकर्जी, डी.पी. मुकर्जी और के.पी. चट्टोपाध्याय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । ये सभी समाजशास्त्री भारतीय समाजशास्त्र के प्रारंभिक विद्वान थे तथा भारत में समाजशास्त्र की प्रारंभिक दिशाओं के निर्धारक भी थे ।

6.2 राधाकमल मुखर्जी : व्यक्तित्व तथा कृतित्व

राधाकमल मुखर्जी का जन्म 7 दिसम्बर 1889 को पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के बुरहानपुर नगर में हुआ था । उनके पिता न केवल वकील थे बल्कि एक बड़े विद्वान भी थे । उनकी इतिहास में गहरी रूचि थी । उनके घर में एक बड़ा पुस्तकालय था, जिसमें अनेक विषयों पर पुस्तकों का संग्रह था । उनके घर में बौद्धिक चर्चाएँ भी हुआ करती थी, ऐसे ही बौद्धिक वातावरण में राधाकमल मुखर्जी का बचपन प्रारंभ हुआ था । यह वह युग भी था जब बंगाल में बौद्धिक-सांस्कृतिक नवजागरण की लहर फैल रही थी । बंगाल का प्रत्येक नगर बौद्धिक तथा राजनीतिक जागरण के साथ जुड़ गया था । अंगभंग के विरूद्ध एक बड़ा आन्दोलन भी उठ खड़ा हुआ था और इस आन्दोलन ने बंगाल को उपनिवेशवाद के विरूद्ध ला खड़ा किया था ।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा बुरहानपुर में ही हुई, छात्रवृत्ति पर वे प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता में, जहां से उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की । वहां से उन्होंने अंग्रेजी तथा इतिहास में ऑनर्स की डिग्री ली । इसी अवधि में उन्होंने काष्ट, स्पेंसर हॉबहाउस, लीस्टर वार्ड तथा गिडिंग्स की पुस्तकें पढ़ी । समाजशास्त्र से उनका परिचय इन्हीं पुस्तकों से हुआ । उन्हें प्रेमचन्द रामाचन्द एवार्ड भी दिया गया । मुकर्जी का प्रारंभिक प्रशिक्षण इतिहास में था, पर बाद में बंगाल के अकाल तथा अन्य सामाजिक परिस्थितियों ने उनका ध्यान समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की और आकर्षित किया । उनका मानना था कि समाज विज्ञान इन समस्याओं को दूर करने में काफी मदद कर सकते हैं । 1920 में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की । उनका सम्पर्क विनोय कुमार सरकार से भी हुआ । 1910 में मुकर्जी बुरहानपुर में अपने पुराने कॉलेज में शिक्षक की हैसियत से वापस आ गये । 1921 से 1952 के बीच बे लखनऊ विश्विविद्यालय में अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष रहे । 1945 से 1947 तक ग्वालियर रियासत के सलाहकार, 1955-57 के बीच लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे । इस अवधि में वे कैम्ब्रिज, ऑक्सफोर्ड कोलोन, वियेना हारवर्ड

कोलम्बिया, शिकागो, मिशीरान, विस्कोंसन विश्वविद्यालयों में भाषण देने गये । ये भाषण 1937, 1946 तथा 1948 में दिये । 1946में वे मुकर्जी वे कोपेनहेगन स्थित खाद्य एवं कृषि संगठन में आर्थिक तथा सांख्यिकी कमीशन के अध्ययक्ष रहे । 1947 में विश्व खाद्य काउंसिल में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य थे । केन्द्र तथा उत्तर प्रदेश सरकार की कई समितियों के वे सदस्य रहे ।

राधाकमल मुकर्जी की समाज कल्याण कार्यो में गहरी रूचि थी । प्रौढ़ शिक्षा में उनकी विशेष रूचि थी । उन्होंने सामाजिक कार्यो के लिए कुछ संगठनों की नींव भी डाली । अपनी मृत्यु के एक सप्ताह पहले 1968 में अखिल भारतीय समाजशास्त्र परिषद् के अधिवेशन में उन्होंने समाजशास्त्र को प्रमुख विज्ञान के रूप में स्वीकार किया था ।

राधाकमल मुकर्जी एवं इतिहास दर्शन में समान रूप से प्रवीण थे । उनकी रचनाओं में इतिहास एवं दर्शन के गंभीर पुट था । उनकी प्रमुख रचनाओं में The Regional Balance Of Man (1983) Indian Working Class (1940),Philosophy of Social Sciences (1960) and Flwoering of Indion Art (1964) आदि प्रमुख हैं समाज, दर्शन, इतिहास तथा अर्थशास्त्र से युक्त उनकी रचनाएँ भारतीय समाजशास्त्र की गंभीर रचनाएँ हैं।

6.3 केन्द्रीय विचार

राधाकमल मुकर्जी की रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न समाज वैज्ञानिकों के बीच खाइयों को पाटना था । वे विशेष रूप से अर्थशास्त्र का अन्तर्राष्ट्रीय तथा समाजशास्त्र को जोड़ना चाहते थे । उनका अर्थशास्त्र सिद्धान्त इसी सोच का परिणाम था जिसमें उन्होंने भविष्य के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया था । प्रो. मुकर्जी का योगदान भारतीय समाज के आनुभाविक अध्ययनों में भी था । ग्रामीण समस्याओं के संबंध में उनकी रचना ' 'लैंड प्राबल्म्स इन इंडिया महत्वपूर्ण रचना हैं" । उनके सम्मान में प्रस्तुत पुस्तक में उन्हें त्रिआधारीय विद्वान स्वीकार किया गया हैं । वे वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षित थे. वे अपने विषय के बहुत बड़े ज्ञाता थे और मानवीय आपदाओं तथा चिन्ताओं के प्रति सजग थे । उन्होंने अपने अध्ययनों में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्वीकार किया था ।

मुकर्जी का मानना था कि आज का जो चित्र है उसमें समाज विज्ञान बंटे हुए हैं, प्रत्येक सामाजिक विज्ञान अपने आप में स्वायत्त घोषित हैं, इनमें पारस्परिक अन्तक्रिया हों और अंतसामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों को प्रोत्साहन मिले । उन्होंने लिखा है कि भारतीय अर्थशास्त्र में बहुत कम है । आवश्यकता इस बात की है कि पारस्परिक अन्तक्रिया जो ब्रिटिश अर्थशास्त्र पंरपरा पर आधारित है, भारतीय परंपरा जैसे जाति तथा स्थानीय व्यापारिक प्रतिमानों, दस्तकारियों और बाजारों के परिदृश्यों का कोई ख्याल नहीं रखा गया । इन सामाजिक परिप्रेक्ष्यों को समझे बिना हम उन आर्थिक संरचनाओं को नहीं समझ सकते, जो इस देश की विशेषता है। अर्थशास्त्र का यह प्रारूप नगरीय-औद्योगिक प्रणाली का है । प्रो. राधाकमल मुकर्जी के कुछ प्रमुख विचारों की चर्चा आगे के पृष्ठों पर की गई है ।

6.4 अर्थ तथा सामाजिक व्यवहार का संबंध

राधाकमल मुकर्जी अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों में प्रशिक्षित थे । भारतीय समाज को समझने के लिए उनका विश्वास था कि अर्थव्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक अवस्था को समझने की और उसके पारस्परिक समन्वयित अध्ययन की आवश्यकता है । भारत जैसे देश में, जहां बहुत से आर्थिक क्रियाकलाप जाति तथा आदिवासी समूहो की अपनी पारम्परिक स्थितियों में होते है । अत: अर्थशास्त्र का बाजार प्रारूप सामाजिक संदर्भ के लिये प्रांसगिके है । इन परंपराओं ने अपनी स्वयं की आर्थिक संरचानाएँ भी तैयार की है । उनका मान्यता थी कि भारत में जातियां, आढ़तिये तथा दस्तकारी के समूह समाज 'में गैर प्रतियोगी आधार पर काम करते हैं । कृषि तथा दस्तकारी उत्पादन में पारस्परिक आधुनिक जैसी प्रतियोगिताएँ नहीं हैं । आर्थिक विनिमय भी हिन्दू मानकीय आधार पर होते हैं । दस्तकारों और किसानों को अपना बहुत सा उत्पादन हिन्दू सामाजिक अवस्था के आधार पर संचालित करना पडता है । वर्ण व्यवस्था के अनुसार हिन्दू मान्यताओं में पारस्परिक व्यावसायिक मान्यताओं पर अधिक जोर है। इसलिए यदि ग्रामीण आर्थिक संरचना को हमें समझना है तो स्थानीय या सार्वभौमिक सामाजिक नियमों के अनुसार समझना पड़ेगा । मात्र भौतिक अथवा जैविक आवश्यकताएँ ही आर्थिक क्रिया कलाप पैदा नहीं करती । समाज के सदस्यों के बीच मूल अंतर्निहित होते हैं और सामूहिक स्वीकृति के साथ समाज के सदस्य निर्धारित आचरणों को करने के लिए बाध्य हैं । उदाहरण के लिए कितना ही भूखा हो, पर कोई भी हिन्दू गौमांस नहीं खायेगा और इसी प्रकार कोई मुस्लिम या यहूदी सूअर का मांस नहीं खायेगा । इसी प्रकार बहुत सी आवश्यकताएं और उनका विक्रय तथा विनिमय सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक प्रचलनों के साथ जुड़ा हुआ है । यह कहना बड़ा कठिन है कि आर्थिक व्यवहार सामूहिक सामाजिक व्यवहार से भिन्न है ।

राधाकमल मुकर्जी का यह स्पष्ट मत था कि भारत में आर्थिक संरचना के बहुत से अंश सामाजिक हैं तथा अर्थव्यवस्था या आर्थिक व्यवहार के बहुत से पक्ष सामाजिक व्यवस्था के साथ जुड़े हुए हैं ।

6.5 सामाजिक पारिस्थितिकी

सामाजिक पारिस्थितिकी एक और विषय था, जिस पर राधाकमल मुकर्जी ने अपना योगदान दिया, उनका विचार था कि सामाजिक परिस्थितिक एक जटिल रचना है, जिसमें कई सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के साथ जुड़ते हैं । भू-वैज्ञानिक, भूगोलवेत्ता तथा जीवशास्त्री एक साथ मिल कर पारिस्थितिकी क्षेत्र का निर्माण करते हैं । आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ इन पारिस्थितिकी क्षेत्रों को सांचे में ढालती हैं । उदाहरण के लिए बहुत से परिस्थितिकी क्षेत्रों में मानवीय या कृषक बसाव राजनीतिक विजय के कारण हुआ ।

प्रो. मुकर्जी का विचार था कि पारिस्थिकी में मानव की बसावट कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है । अपनी पारिस्थितिकी से हटाकर नई बसावट प्राय: सारे सामाजिक संतुलन को बिगाड़ देती है । उन्होंने भारत में बड़े बांधों के निर्माण के कारण हटाए लोगों की चर्चा की । भारत के अधिकांश भागों में सामाजिक जीवन अर्न्तनिर्भरता का है । बहुत सारी प्रथाएँ तथा सामाजिक प्रचलन इस अंर्न्तनिर्भरता को मजबूत करते हैं । विकास के नाम पर यदि किसी बसावट को

उखाड दिया जाये तो सामाजिक संरचना का यह भाग नष्ट हो जाता है । इसीलिए आवश्यक है कि सामाजिक परिस्थितिकी को बनाये रखने के लिए पहले से ही योजना बना ली जाय । उनका विचार था कि सामाजिक परिस्थितिकी के असंतुलन की अवस्था में अंर्तनिर्भरता का एक विकल्प सहकारिता हो सकता है । नगरीय-औद्योगिक अर्थव्यवस्था में क्रमबद्धता तथा व्यवस्थित रूपान्तरण के लिए एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य आवश्यक है ।

सामाजिक पारिस्थितिकी की अपनी अवधारणा में मुकर्जी ने पाश्चात्य देशों की अवधारणा से अपने आपको अलग कर लिया । समाजशास्त्र की शिकागो विचारधारा के समाजशास्त्रियों जैसे पार्क एण्ड बर्गीज, लुईविर्थ तथा गिडिंग आदि ने सामाजिक समस्याओं और सामाजिक विघटन के संदर्भ में सामाजिक परिस्थितिकी की चर्चा की थी । उन्होंने मानवीय पारिस्थितिकी के अध्ययन पर जोर दिया था । इसी विचारधारा ने सामाजिक यांत्रिकी की चर्चा भी की । इस यांत्रिकी का अर्थ था गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों की नई सादर, नौकरी के नये अक्सर इत्यादि शामिल थे । मुकर्जी ने भारत में तत्कालीन समस्याओं को हल करने के साथ-साथ मूल्य आधारित नये भारतीय समाज की संरचना के निर्माण का आव्हान भी किया था । ऐसी संरचना का निर्माण भारतीय समाज के लिए अधिक उपयुक्त होगा ।

सामाजिक पारिस्थितिकी के विश्लेषण क्रम में ही मुकर्जी ने क्षेत्रीय समाजशास्त्र की अवधारणा को भी रखा । यदि सभी क्षेत्रों का समान रूप से अन्तर्मुखी विकास हो, तो सम्पूर्ण भारत का विकास बहुत तेजी से हो सकता है, अन्यथा सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था में असंतुलन स्थापित हो, जायेगा । प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग नृजातीय जनसंख्या का बसाव है । अत: आर्थिक विकास तथा क्षेत्रीय जनसंख्या का पारस्परिक संतुलन बनाना होगा । एक प्रकार से मुकर्जी का विचार अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था के बीच संतुलनालक संबंध जोड़ना था । भारत के प्रत्येक क्षेत्र की अपनी-अपनी लोक कलाएँ है । कातना, बुनना,रंगाई, छपाई तथा वस्त्रों का निर्माण आधुनिकता के संदर्भ में समाप्त हो सकता है । इन लोककलाओं को आधुनिक सहकारी समाज मैं संयोजित किया जा सकता है ।

सामाजिक पारिस्थितिकी का प्राकृतिक संतुलन बनाये रखने के लिए प्रो. मुकर्जी ने बन संरक्षण पर भी जोर दिया । बाढ़ और सूखे के कारण अपार जन धन की हानि होती है इसी को रोकने के लिए और प्राकृतिक संतुलन को बनाने के लिए बन सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है ।

6.6 मूल्य का सिद्धान्त

समाजशास्त्रीय संदर्भ में राधाकमल मुकर्जी के लिए मूल्य की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण है । उनका मानना था कि मूल्यों के इन संदर्भ को हमें भारतीय समाज और पाश्चात्य देशों के समाजों से अलग कर देखना पड़ेगा । इस संबंध में उन्होंने अध्ययन पद्धति पर प्रश्न उठाए तथा पिछली कई दशाब्दियों से उठी उस बहस पर कि क्या समाज विज्ञान मूल्य मुक्त होने चाहिए । पद्धति के रूप में प्रो. मुकर्जी मानते थे कि समाज के मानवीय आचरण को समझने के लिए मूल्यों का अध्ययन आवश्यक है । इस महल को समझाने के लिए उन्होंने मूल्यों से संबंधित विचारार्थ कुछ प्रश्न रखे । ये विचार उनके मूल्य सिद्धान्त के मूल विचार थे । पहला, उनका मानना था कि मूल्य समाज के सदस्यों को अपने आचरण में व्यवस्थित करते हैं । आचरण की

इसी अवस्था के कारण सामाजिक रचनाएँ व्यवस्थित रूप से संचालित होती हैं । समाज के सदस्यों के लिए एक-दूसरे से आदान प्रदान न करना संभव होता है और आचरण के इन स्वीकृत मूल्यों के कारण समाज के सदस्यों को अपनी साथी तथा हीन भावनाओं का त्याग करना पड़ता है । मूल यह तय करता है कि कौन सा आचरण अच्छा है और कौनसा आचरण बुरा है । या कौनसा आचरण अनुचित है । इन्हीं मूल्यों को ध्यान में रखकर समाज के सदस्य उचित आचरण करने के लिए बाध्य है । मूल्यों की अवहेलना किसी आचरण के परिणामों को प्रभावित कर सकती है । दूसरे प्रो. मुकर्जी का मानना था कि मूल्य केवल धर्म या नैतिकता के ही उत्पाद नहीं है । विभिन्न प्रकार के कार्य-कलाप, अलग-अलग तरह के मूल्य पैदा करते हैं । व्यापार, नौकरी, राजनीति, परिवार वैवाहिक जीवन सभी के लिए आचरण के लिए अपने-अपने मूल्य है । प्राय: यह कहा जाता है कि चोर और डकैतों के भी अपने मूल्य होते हैं । अत: मूल्यों की रचना अनेक स्त्रोतों से है । इसका यह भी अर्थ है कि समाज के स्वीकृत मूल्यों में व्यक्ति तथा समाज दोनों भागीदार हैं । उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय ध्वज को सभी व्यक्तियों और समाज के सदस्यों के लिए राष्ट्रीय मूल्यों का प्रतीक है । प्रजातांत्रिक अवस्था के भी अनेक मूल्य हैं जो राष्ट्रीय नेतृत्व तथा नागरिक दोनों से संबंधित हैं ।

तीसरे, मानवीय समाजों की विभिन्नता के होते हुए भी कुछ मूल्य ऐसे हैं जो सार्वमौमिक है । समाज की विशिष्टताओं अथवा विभिन्नताओं का इन मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, संभवत: दुनिया के सभी प्रमुख धर्मो के शिक्षण एक होने के कारण इस प्रकार के मूल्य बने हों । धर्मों के अनुसार ये आचरण मानव द्वन्द्वात्मक प्रजाति के लिए शुद्ध आचरण हें जिन्हें धर्म की आस्थाओं के कारण व्यवहार की सामूहिक मान्यता मिली हुई है । प्रो. मुकर्जी का मत था कि मानवीय आवश्यकताएँ सामाजिक मूल्यों में परिवर्तित होती हे । भारत और चीन की सभ्यताएँ, तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्थायी रही हें । अत: मूल्यों को भी स्थायित्व मिला तथा इन देशों में सामाजिक मूल्य संस्कृति तथा सभ्यता के भाग बन गये पर इन मूल्यों ने संस्तरण भी निर्मित किये । सारे मूल्य ऊँच नीच के आधार पर संयोजित हो गये । मूल्यों के सस्तरणात्मक संदर्भ जाति अवस्था में देखे जा सकते हैं, जहाँ आचरण की इन विभिन्नताओं को देखा जा सकता है ।

चौथी और अंतिम बात यह कही जा सकती है कि मूल्यों का निर्माण व्यक्तिगत आकांक्षाओं, व्यक्तिगत सोच से नहीं होता । मूल्य वस्तुनिष्ठ तथा सामान्य होते हैं । और आनुभाविक पद्धति के आधार पर इन्हें मापा जा सकता है । दुनिया की बड़ी सभ्यताओं और संस्कृतियों में भौतिक आवश्यकताओं के स्थान पर अलौकिक शक्तियों की प्रधानता पर जोर दिया है । भारत इसका एक उदाहरण है, जहाँ मूल्यों की स्थापना भौतिक तथा अलौकिक मूल्यों के बीच संतुलन के रूप में हुई हैं ।

प्रो. मुकर्जी का मत था कि मूल्यों का महत्व पाश्चात्य तथा भारतीय समाज में समाज वैज्ञानिकों के लिये महत्वपूर्ण हो गया है । मुकर्जी का मत था कि मूल्यों के विश्लेषण के लिए तथ्य और मूल्य के बीच अंतर नहीं किया जाना चाहिए । जहाँ तक मानवीय अंतक्रिया का प्रश्न है, दोनों में अंतर करना ठीक नहीं है । भारत जैसे देश में खाना-खाना कपड़े, पहनना,

अभिवादन करना या अंतर्क्रियाओं के अन्य स्वरूप मूल्य आधारित है तथा नियमों के अनुसार है। भारत के सामंतवादी समाजों में इस रचना को बड़े ध्यान से देखा जा सकता है । प्रत्येक समाज की करीब-करीब यही स्थिति है । भारत जैसे देश में पाश्चात्य प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण खरा नहीं उतरता । पद्धति की दृष्टि से तथ्य तथा मूल्य को अलग करना उचित नहीं है । पश्चिमी देशों में ज्ञान अपने आपको चर्च की धार्मिक प्रवृत्ति से मुक्ति प्राप्त करना चाहता था । इसीलिए पाश्चात्य समाज विज्ञानों में तथ्य तथा मूल्य के बीच अंतर निर्धारित करने का प्रयास किया गया ।

प्रो. मुकर्जी के मूल्य का सिद्धान्त मुख्यत: विभिन्न समाजों की आवश्यकताओं तथा उन आवश्यकताओं के आधार पर नियामक अंतर्क्रियाओ के साथ जुड़ा हुआ था मुकर्जी का सारा आधार भारतीय संदर्भो के साथ जुड़ा हुआ था साथ ही पश्चिमी विचारधारा से इसे अलग करता था ।

6.7 भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता

प्रो. मुकर्जी ने भारतीय कलाओं, इतिहास, संस्कृति तथा वास्तुकला पर भी विस्तार से लिखा । उन्होंने लिखा कि एशिया की कला सामूहिक विकासोन्मुखी थी । एशिया की कला लाखों लोगों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत तथा धार्मिक और नैतिक परिवर्तनों के लिए जिम्मेदार थी । पूर्वी संस्कृति में जो भी कुछ कलाएँ हैं वे सामूहिक अभिव्यक्तियाँ हैं और इन्हीं अभिव्यक्तियों ने भारत जैसे देश को सांस्कृतिक निरन्तरता प्रदान की है । दूसरी और पश्चिमी जगत में कलाओं का संबंध व्यक्तिगत आधारों से जुड़ा रहा है । पश्चिमी जगत में कला सामूहिक या सामाजिक अभिव्यक्ति नहीं थी,, इसलिए कला पाश्चात्य जगत में कोई सामाजिक एकता अथवा आध्यात्मिक आन्दोलन भी पैदा नहीं कर पाई ।

भारत में कला का परिवेश सामाजिक तथा नैतिक है । मंदिरों, स्कूलों, विहारों में इस कला के धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों के पक्षों को देखा जा सकता है ।

मुकर्जी मानते थे कि भारतीय कला का संबंध धर्म से था । इतिहास के अपने अध्ययन में उन्होंने हिन्दू जैन, बौद्ध आदि धर्मो का उल्लेख किया और उनसे संबंधित कला का विश्लेषण किया । अन्य देशों में भारतीय कला के प्रभावों की भी उन्होंने चर्चा की । भारत से लगे हुए कई पूर्वी देशों में इस छाप को स्पष्टत: देखा जा सकता है । उन्होंने रामायण के मंचन के उन स्वरूपों का भी उल्लेख किया जो इन देशों में दिखाई देता है । नृजातीय विभिन्नताओं के होते हुए भी यह सब कुछ लोगों को एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है । भारतीय समाज में जो धर्म पनपे, वे बहुत लचीले थे और किसी भी प्रकार की विभिन्नता को स्वीकार कर सकते थे ।

प्रो. मुकर्जी ने भारतीय संस्कृति को न केवल स्थायी माना, साथ ही संस्कृति की सामंजस्यता पर भी प्रकाश डाला । किसी संस्कृति की रचना में धर्म की क्या भूमिका हो सकती है, इसका विश्लेषण भी प्रो. मुकर्जी ने किया ।

6.8 सार्वभौमिक सभ्यता

मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत सार्वभौमिक सभ्यता का संबंध उनकी समाज की अपनी अवधारणा से भी। मुकर्जी ने सभ्यता को अपने आप में संपूर्ण इकाई के रूप में देखा था । संस्कृति को

सभ्यता का हिस्सा मानते थे । मुकर्जी के लिए सभ्यता सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से निर्मित होती है । किसी भी सभ्यता का अध्ययन तीन स्तरों पर होना चाहिए (1) मनुष्य का जैविक उद्विकास इसका यह भी अर्थ है कि जैविक उद्विकास के माध्यम से मनुष्य किन नृजाति तथा प्रजाति श्रेणियों में बंटा है । मनुष्य में अपने पर्यावरण को बदलने की क्षमता है । पशु तथा मनुष्य में यहीं अंतर है कि पशु अपने को पर्यावरण के अनुकूल ढाल सकते हैं, पर मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार अपने अनुकूल ला सकता है । एक जैविक प्राणी के रूप में मनुष्य जीवन में प्रतियोगी, संघर्षशील परिवर्तन और सहयोगी हो सकता है । जैविक उद्काविस के इन पक्षों का सभ्यता के विकास के साथ संबंध है । (2) सार्वभौमिक सभ्यता के निर्माण का दूसरा पक्ष सामाजिक मनोवैज्ञानिक पक्ष है । मनुष्य अपनी जाति, प्रजाति नृजाति के संदर्भ में जाने जाते हैं और प्राय: वे इन तथ्यों पर इतने केन्द्रित हो जाते है कि उनका सारा परिप्रेक्ष्य स्वहित, स्वार्थ आदि पर केन्द्रित हो जाता है! इसके विपरीत मनुष्य अपनी संकुचितता को समाप्त कर सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में भी सोच सकता है वह सर्वजन हित की भी सोच सकता है और ऐसे मूल्यों को निर्मित तथा स्वीकार कर सकता है, जो स्वयं के हित के लिए नहीं है, अपितु सार्वजनिक हित के लिए है । अब यह कहना अर्थ है कि सामाजिक मूल्य हर समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं । अब कुछ मूल्य ऐसे भी हैं जो सार्वभौमिक हैं और वैश्विक स्तर पर स्त्री और पुरुष उसे स्वीकार करते हैं ।

सभ्यता का तीसरा पक्ष आध्यात्मिक तथा धार्मिक है । कला, मिथक तथा धर्म लोगों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है तथा इन्हीं से सभ्यता का विकास होता है । अब तक सामाजिक विज्ञानों ने इन तत्वों की अवहेलना की है ओर इसलिए वे सभ्यता के कई पक्षों को समझ नहीं पाये हैं । इसीलिए सामाजिक यथार्थता को भी पूर्ण रूप से समझा नहीं जा सका है। मनुष्य द्वारा मानवता की खोज में भी सार्वभौमिक सभ्यता को जन्म देने का प्रयास किया है । मुकर्जी ने यह भी माना कि भारत और चीन की सभ्यताओं का ऐतिहासिक अस्तित्व इसलिए विद्यमान है क्योंकि इनकी दृष्टि सार्वभौमिक है । यह दृष्टि विविध सभ्यताओं में अंतर नहीं करती और कई स्तरों पर समान दृष्टि के साथ जुडी हुई हैं ।

मुकर्जी को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानव अधिकार घोषणा पत्र से संतोष था । उनका मानना था कि इससे मानव के गौरव तथा समान की रक्षा हुई है तथा सार्वभौमिक स्तर पर मानव अधिकारों के माध्यम से नये सम्मानों की सृष्टि हुई है । वे मानते थे कि धन और शक्ति की गैर-बराबरी एक सम्मानजनक मानवीय सभ्यता को जन्म नहीं लेने देती ।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त प्रो. मुकर्जी ने नगरीय सामाजिक समस्याओं का भी अध्ययन किया था ।

6.9 सारांश

प्रो. राधाकमल मुकर्जी समाजशास्त्र के प्रारंभिक समाजशास्त्रियों में से थे । उन्होंने भारतीय इतिहास के दो काल देखे थे । वे औपनिवेशिक काल में पैदा हुए थे । और भारतीय स्वाधीनता काल का प्रारंभिक युग भी उन्होंने देखा । प्रो. मुकर्जी की रचनाओं में अर्थशास्त्र, इतिहास तथा समाजशास्त्र का समन्वय था । वे स्वयं समाज विज्ञानों की समन्वयता के हामी

थे । वे विश्वविद्यालय के उच्च पदों पर आसीन रहे तथा भारतीय शासन में सलाहकार रहे । उनकी प्रमुख रचनाओं का संबंध समाजशास्त्र के कई पक्षों से था । उनका मानना था कि अर्थशास्त्र के बहुत से दृष्टिकोण तथा तथ्य समाजशास्त्र के आधार पर ही देखे जा सकते हैं । अपने मूल्य के सिद्धान्त में उन्होंने समाज में मूल्य संरचना तथा उसके प्रभावों को स्पष्ट किया। उनके अनुसार मूल्य समाज को एक निरन्तर गतिशीलता प्रदान करते हैं । भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर उनकी अपनी ही दृष्टि थी । उनके अनुसार भारतीय संस्कृति स्थायी तथा निरन्तर इसलिए रही क्योंकि कला तथा धार्मिक मान्यताएँ सामूहिक थी । भारतीय कला पश्चिमी देशों की तरह व्यक्तिवादी नहीं थी । प्रो. मुकर्जी ने सार्वभौमिक सभ्यता के संबंध में कहा था कि व्यक्ति अपनी निजी स्वार्थी सोच के अतिरिक्त सर्वकल्याणकारी मूल्यात्मक दृष्टिकोण से भी विचार कर सकता है । इसी प्रकार के मूल्यात्मक दृष्टिकोण से ही सार्वजनिक सभ्यता का निर्माण होता है ।

6.10 शब्दावली

सामाजिक पारिस्थितिकी	–	वह जटिल रचना जो जैविक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तत्वों के पारस्परिक समन्वय के कारण बनती है ।
मूल	–	समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा स्वीकृत वे नियम जो समाज के सदस्यों को आचरण की दृष्टि ये उचित लगते हैं और इसी कारण मूल समाज की नियमितता तथा निरंतरता में सहायक है।
सार्वभौमिक सभ्यता	–	ऐसी सभ्यता जो सार्वभौमिक मूल्यों पर केन्द्रित हो ।
मूल्य रहित समाज विज्ञान	–	समाज विज्ञान का वह पद्धतीय आधार जिनमें तथ्य प्रमुख हैं- मूल्यों के आधार पर परखने का कोई आधार नहीं है ।

6.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 मूल्य मुक्त सामाजिक विज्ञानों से प्रो. मुकर्जी का क्या अभिप्राय था?

2 मूल्यों के विश्लेषण में मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत चार मुख्य विशेषताएँ कौनसी है

3 भारत में कला की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

4 मुकर्जी के अनुसार भारत तथा पाश्चात्य कला में क्या अंतर है ।

5 भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास में प्रारंभिक किन घटनाओं ने इसे प्रभावित किया था?

6 संक्षेप में राधाकमल मुकर्जी के जीवन पर प्रकाश डाले ।

7 सामाजिक पारिस्थितिकी से प्रो. मुकर्जी का क्या अभिप्राय है?

8 अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र में प्रो. मुकर्जी किस प्रकार का संबंध देखते हैं?

6.12 संदर्भ ग्रंथ

1 Radha kamal Mukerjee (1955) The Social Structure of Values.

2 Radha Kamal Mukerjee (1960) The Philsophy of Social Science

3 Dhanagare D.N (1998) Themes and perspectives in Indian sociology Rawat, Jaipur
4 Joshi, P.C. (1980) Radha Kamal Mukerjee Meerut sociology Workers Sangam.
5 Saksena, R.N (1969) “ Radha Kamal Mukerjee”- sociological Bulletin.

इकाई 7

डी.पी.मुखर्जी का योगदान

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 डी.पी. मुकर्जी का जीवन चित्रण
7.3 डी.पी. मुकर्जी की प्रमुख रचनाएँ
7.4 अध्ययन पद्धति
7.5 भारतीय समाजशास्त्र में योगदान
7.6 परम्पराओं के द्वन्द्व
7.7 भारतीय साहित्य के विकास
7.8 भारतीय साहित्य में सामान्य सामाजिक निष्ठाओं का विकास
7.9 मिथ्या-व्यक्तिवाद के विस्तार
7.10 कला का विकास
7.11 सारांश
7.12 अभ्यसार्थ प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

- भारतीय समाजशास्त्री प्रो. डी.पी. मुकर्जी का जीवन परिचय एवं उनका कृतित्व
- भारतीय समाज को समझने के लिए दी गयी अध्ययन पद्धति अथवा पद्धतिशास्त्र
- भारतीय समाजशास्त्र में उनका योगदान
- भारतीय समाज में परम्पराओं के द्वन्द्व का विश्लेषण
- भारतीय साहित्य में समाजशास्त्र का विकास
- भारतीय कला का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

7.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तकों में प्रो. डी.पी. मुकर्जी एक प्रमुख समाजशास्त्री हैं, उन्होंने भारतीय समाज का विश्लेषण ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर किया है । उनका भारतीय समाजशास्त्र को बहुत अधिक योगदान था है । उन्होंने कहा कि हमें भारतीय समाज का अध्ययन परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक के आधार पर करना चाहिए । समय ' के साथ-साथ परम्पराओं में भी अन्तर आता है और नये विचारों के साथ द्वन्द होता है । आपने द्वन्द्वाद को कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से ग्रहण किया । आपके अध्ययनों में कार्ल मार्क्स के विचारों के प्रभाव को देख सकते हैं । भारतीय समाजशास्त्र को आपके योगदान में परम्पराओं के हक साहित्य व कला का विकास को विशेष रूप से सम्मिलित कर सकते हैं । हम डी.पी. मुकर्जी के द्वारा दिये गये योगदान की चर्चा इस इकाई में करेंगे ।

7.2 डी.पी.मुकर्जी का जीवन चित्रण

प्रो. डी. पी. मुकर्जी का जन्म सन् 1894 में बंगाल के एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ । यह वह काल था जब बंकिम चन्द्र, रविन्द्रनाथ टैगोर तथा शरत चन्द्र का साहित्य के क्षेत्र में काफी प्रभाव था । अपने शिष्यों तथा साथियों के बीच आम तौर पर इन्हें डी.पी. के नाम से ही जाना जाता था । थे राधाकमल मुकर्जी के समकालीन थे । दोनों लखनऊ विश्वविद्यालय में लम्बे समय तक साथ-साथ रहे । डी.पी. मुकर्जी मार्क्सवादी समाजशास्त्री थे, वे अपने आपको मार्क्सवादी कहलाना अधिक पसंद करते थे । इन्होंने भारतीय इतिहास का द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा विश्लेषण किया । इनके अनुसार परम्परा तथा आधुनिकता, उपीनवेशवाद तथा राष्ट्रवाद और समूहवाद के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध हैं । परम्परा और आधुनिकता निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

प्रो. डी. पी. मुकर्जी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में 3० वर्षों तक (1922-1952) अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य किया । सन् 1951 में ये यहीं पर आचार्य पद पर सुशोभित हुए । लखनऊ से सेवानिवृत्ति के एक वर्ष बाद सन् 1953 में वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डॉ. जाकिर हुसैन के आमंत्रण पर यहाँ अर्थशास्त्र विभाग में विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण किया । यहाँ ये पाँच वर्षो तक रहे । इसी दौरान हेग के अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक अध्ययन संस्थान में समाजशास्त्र के अतिथि आचार्य के रूप में गये । इसी बीच उन्हें यूनेस्को द्वारा पेरिस में एक भाषण देने के लिए आमंत्रण मिला । प्रो. डी.पी. मुकर्जी भारतीय समाजशास्त्रीय परिषद् के संस्थापक सदस्य थे । आपने अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय परिषद् में भारत की ओर से प्रतिनिधित्व किया और उसके उपाध्यक्ष भी रहे ।

भारतीय समाजशास्त्रीय परिषद् का प्रथम अधिवेशन इनकी अध्यक्षता में हुआ । इन्होंने समाज विज्ञानों में मूल्य मुक्ति पर जोर देते हुए कहा कि समाजशास्त्रियों को घटनाओं के वर्णन एवं विश्लेषण के दायरे से बाहर निकल कर निर्देशात्मक समाधान प्रस्तुत करने चाहिए । प्रो. मुकर्जी ने विभिन्न विषयों पर लिखा है । अधिकांश उनका लेखन पुस्तकों की अपेक्षा शोध पत्रों के रूप में लिखा है । आगे चलकर इन्हीं शोध पत्रों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

डी.पी. मुकर्जी मूल रूप से अर्थशास्त्री थे । लेकिन अन्य अर्थशास्त्रियों से इनका दृष्टिकोण भिन्न था । उन्होंने भारत के विकास की व्याख्या ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशेषताओं, विशेष रूप से सामाजिक मूल्यों और जाति समूह के संदर्भ में की है । आपने यह स्पष्ट किया कि ब्रिटिश शासन के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए हैं । ब्रिटिश शासकों ने नगरीय अर्थव्यवस्था को प्रारंभ किया, इस कारण पुरानी सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं का अस्तित्व समाप्त हो गया, साथ ही परम्परागत विशिष्ट जातियों के जातिगत व्यवसायों से भी उन्हें पृथक कर दिया । प्रो. डी.पी. मुकर्जी एक उत्कृष्ट शिक्षक थे, साथ ही साथ सामाजिक विश्लेषक और आलोचक भी थे । इनके विचारों में कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रमाद था । द्वन्द्वात्मक की व्याख्या कार्ल मार्क्स से ही ग्रहण की थी । दूसरी तरफ इन्होंने ब्राह्मणवादी बुद्धिजीवी परम्परा, पश्चिम के उदारवादी मानववाद तथा वेदान्त का

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया उन्होंने पश्चिमी समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिक परम्परा की आलोचना की ।

7.3 डी.पी. मुकर्जी कों प्रमुख रचनाएं

प्रो. डी. पी. मुकर्जी ने अपने जीवन काल में अनेक पुस्तकों का लेखन किया । इनकी प्रमुख कृतियों को हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे :

क्र.स.	पुस्तक का नाम	प्रकाशन वर्ष
1	समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएँ (Basic Concepts in Sociology)	1932
2.	व्यक्तित्व और सामाजिक विज्ञान (Personality and the Social Sciences)	1924
3.	आधुनिक भारतीय संस्कृति (Modern Indian Culture)	1942
4.	टैगोर : एक अध्ययन (Tagore: A Study)	1943
5.	भारतीय इतिहास पर (On Indian History)	1945
6.	भारतीय संगीत पर परिचय (Introduction to Indian Music)	1945
7.	भारतीय युवाओं की समस्याएँ (Problems of Indian Youth)	1946
8.	विचार और प्रति विचार (Views and Counter Views)	1946
9.	विविधताएँ (Diversities)	1958
10.	भारतीय संस्कृति का समाजशास्त्र (Sociology of Indian Culture)	1942
11.	भारतीय परम्परा और सामाजिक परिवर्तन (अध्यक्षीय उद्बोधन) (Indian Tradition and Social Change) (Presidential Address)	1955

7.4 अध्ययन पद्धति

डी. पी. मुकर्जी ने सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन हेतु एक पद्धीतशास्त्र विकसित किया। उनकी अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक रही है । इसे साथ मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति के

आधार पर कुछ विषयों का अध्ययन किया है । उन्होंने दार्शनिक पद्धति को भी सहारा लिया । यहाँ हम उनके द्वारा अपनायी गयी पद्धतियों का उल्लेख करेंगे :

(1) **द्वन्द्वात्मक पद्धति :** इस पद्धति को कार्ल मार्क्स से ग्रहण किया है । आपने द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय परम्पराओं के संघर्ष का अध्ययन किया है । भारतीय समाज परम्पराओं से पूर्णतया प्रभावित है । इस कारण कई बार वृहद् परम्पराओं का लघु परम्पराओं से संघर्ष या द्वन्द्व चलता रहता है । वृहद् परम्पराएँ संस्कृत भाषा में मिलती है जबकि लघु परम्पराएँ स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा में मिलती है । कई बार इस्लाम, ईसाई व अन्य बाहय परम्पराओं से भी टकराव की स्थिति देखने को मिलती है । अत: आपने भारतीय समाज के सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से किया है ।

(2) **मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति :-** डी.पी. मुकर्जी का कहना है कि हमें समाज की यथार्थता जानने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करना चाहिए । आपने समाजशास्त्रीय अवधारणा का मुख्य तत्व व्यक्तित्व बताया है, व्यक्तित्व पूर्ण एकता है तथा ज्ञान इस पूर्णता का आधार है । व्यक्तित्व का विकास बिना ज्ञान के नहीं हो सकता है । इसी कारण इसे मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति कहते हैं ।

(3) **दार्शनिक पद्धति :-** डी.पी. मुकर्जी के अनुसार दार्शनिक प्रवृत्ति का मूल आधार तर्क और विवेक है । दार्शनिक पद्धति का मूल बिन्दु बुद्धिवाद और व्यावहारिक तर्क है । इनके अनुसार घटनाओं का अध्ययन तर्क एवं विवेक द्वारा करना चाहिए । यही तर्क एवं विवेक व्यक्तित्व के विकास का साधन भी हैं ।

इस प्रकार डी.पी. मुकर्जी सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे । वे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र व इतिहास के पारस्परिक संबंधों व ज्ञान के आदान-प्रदान को आवश्यक मानते हैं । अत: डी.पी. मुकर्जी ने द्वन्द्वात्मक पद्धति, मनोसमाजशास्त्रीय एवं दार्शनिक पद्धति के आधार पर समाज को समझने पर जोर दिया है ।

7.5 भारतीय समाजशास्त्र में योगदान

जैसा हमने ऊपर लिखा है कि डी.पी. मुकर्जी ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में लेखन कार्य किया है, जिनमें मुख्य रूप से संगीत साहित्य, कला इतिहास, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र है । यहाँ हम इनके द्वारा दिये गये समाजशास्त्र के योगदान को प्रस्तुत करेंगे

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र को समझने के लिए मार्क्सवादी उपागम का अपनाया । इस कारण इन्हें भारतीय समाजशास्त्र की मार्क्सवादी विचारधारा का अग्रज कहा जाता है । वे द्वंद्ववाद के समर्थक हैं, वे कहते हैं कि भारत के सामाजिक संदर्भ में व्यक्तित्व और संस्कृति का अध्ययन करने के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाना चाहिए । इसी पद्धति के माध्यम से हम भारतीय परम्पराओं, प्रतीकों, सांस्कृतिक प्रतिमानों और सामाजिक क्रियाओं आदि का व्यवस्थित अध्ययन कर सकते हैं ।

इसी प्रकार उन्होंने कहा कि भारतीय समाजशास्त्र की विषय वस्तु भारतीय समाज की परम्पराएँ हैं। भारतीय संस्कृति का विकास विभिन्न प्रजातियों एवं संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्क में आने के फलस्वरूप हुआ है । इस कारण अगर हमें हिन्दू समाज के सिद्धान्तों को समझना है

तो हमें यहाँ की परम्पराओं का अध्ययन करना चाहिए । परम्पराएँ परिवर्तन के दौर से गुजर रही है क्योंकि इन पर आन्तरिक और बाहय दबाव पड़ रहे हैं । इसलिए हमें समाजशास्त्र में भारतीय परम्पराओं का अध्ययन करना चाहिए ।

प्रो. डी.पी. मुकर्जी का एक महत्वपूर्ण योगदान यह भी है कि इन्होंने पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीकी का विरोध किया और कहा कि भारतीय समाज की प्रकृति पाश्चात्य समाजों से भिन्न हैं । पाश्चात्य समाज में परिवर्तन की गति तीव्र है और समाज विश्रृखंलित हो रहा है । दूसरी तरफ भारतीय समाज में परिवर्तन की गीत धीमी है । इस कारण पाश्चात्य वैज्ञानिक तकनीक, अवधारणाओं व सिद्धान्तों के माध्यम से भारतीय समाज को नहीं समझ सकते हैं । अत: भारतीय समाजशास्त्र का विकास कभी भी पाश्चात्य परम्परा और आदर्शो के माध्यम से नहीं हो सकता है। भारतीय समाज को समझने के लिए एक पृथक अध्ययन पद्धति का विकास होना चाहिए । पश्चिमी समाज ने जिस अध्ययन पद्धति का विकास किया वह उसी समाज की प्रकृति के अनुरूप था । इस कारण भारतीय समाज की प्रकृति भिन्न होने के कारण हमें एक नवीन वैज्ञानिक पद्धति का विकास करना चाहिए, तभी हम भारतीय समाज की संरचना, व्यवस्था, परम्पराओं एवं समस्याओं को समझ पाएंगे और उसी के अनुरूप समाधान भी खोज पाएंगे ।

वैज्ञानिक अध्ययन के संबंध में इनका महत्वपूर्ण योगदान यह भी है कि हमें पश्चिमी वैज्ञानिक पद्धति का अंधानुकरण न करके. समाज की व्याख्या करनी चाहिए । अत: व्याख्यात्मक पद्धति महत्वपूर्ण है । पश्चिमी समाजों में आनुभविक अध्ययन किये जाते हैं जो भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है ।

डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय परम्पराओं एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन पर प्रमुख रूप से जोर दिया है । इस संबंध में इन्होंने अपनी पुस्तक डाइवर्सिटीज में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं । भारतीय समाजशास्त्र को डी.पी. मुकर्जी का योगदान महत्वपूर्ण है । इन्होंने भारतीय समाजशास्त्र व समाजशास्त्रियों को अध्ययन हेतु नई दिशा दी है ।

7.6 परम्पराओं का द्वन्द्व व प्रारूप

इस इकाई में हमने प्रो.डी.पी. मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत द्वन्द्वात्मक उपागम को समझने का प्रयास किया है और यह भी जाना कि परम्परा क्या होती हैं । अब हम उनके मूल कार्य या अवधारणा परम्पराओं के द्वन्द्व का उल्लेख करेंगे । आपने अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन, 1955 के अध्यक्षीय उद्बोधन में परम्पराओं के द्वन्द्व की व्याख्या प्रस्तुत की । आपने परम्पराओं के अध्ययन के महल को बताते हुए लिखा कि भारतीय संस्कृति का विकास अनेक प्रजातियों एवं संस्कृतियों की क्रमबद्ध चुनौतियों एवं उनके संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ है । इसे समझने के लिए हमें परम्पराओं का अध्ययन करना चाहिए । इन्होंने कहा कि भारतीय समाजशास्त्री व्याख्यात्मक पद्धति से परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक उपागम से अध्ययन कर सकता है ।

प्रो. डी.पी. मुकर्जी का कहना है कि धर्म से संबंधित परम्पराएँ आज भी अपनी निरन्तरता बनाये हुए हैं । धार्मिक परम्पराओं का संघर्ष शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्ग की परम्पराओं के साथ हो रहा है । इसी कारण भारतीय समाजशास्त्री इन परम्पराओं के संघर्ष एवं विकास को द्वन्द्वात्मक उपागम के माध्यम से विश्लेषित करें । भारत में विकास के कारण

व्यक्तिवादिता एवं स्वेच्छाचारिता पनपी, पहले जब भारतीय परिवारों के मुखिया एवं किसानों की आकांक्षाएँ बहुत सीमित थी । भारत की प्राचीन परम्पराओं में मनुष्य की अवधारणा पुरुष (Man) है, व्यक्ति (Individual) की नहीं है । इसीलिए भारतीय समाजशास्त्रियों को अपने अध्ययन की इकाई व्यक्ति न चुनकर समूह चुनना चाहिए क्योंकि समूह के सदस्यों के आचरण को परम्पराएँ नियंत्रित एवं निर्देशित करती है । इसीलिए भारतीय समाजशास्त्रियों को परम्पराओं का आवश्यक रूप से अध्ययन करना चाहिए । हमने अपना सारा जीवन परम्पराओं के बीच रहकर ही गुजारा है, जिन्होंने हमारे जीवन व आचरण को प्रभावित किया है । हमें अनिवार्यत: उनका अध्ययन करना चाहिए । अध्ययन इस बात का भी होना चाहिए कि आन्तरिक और बाह्य दबावों के परिणामस्वरूप परम्पराओं में क्या-क्या परिवर्तन आ रहे हैं । परम्पराओं में प्रतिरोध और समावेशन या सामंजस्य की क्षमता पायी जाती है ।

डी. पी. मुकर्जी का कहना है कि भारतीय समाजशास्त्रियों को अपनी जनरीतियों, लोकाचारों, प्रथाओं तथा परम्पराओं में सहभागी होना चाहिए । तभी हम हमारी सामाजिक अवस्था को अच्छी तरह समझ पाएंगे । इन्होंने कहा कि जनश्रुतियों का भी हमें अध्ययन करना चाहिए । इन्हें समझने के लिए स्थानीय बोलियों व भाषाओं का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए । भारतीय समाजशास्त्री बिना संस्कृत व फारसी भाषा के ज्ञान के भारतीय सामाजिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक रूप से नहीं कर पाएंगे । परम्पराओं में प्रतीक पाये जाते हैं । इनके माध्यम से यथार्थ रूप से अध्ययन कर सकते हैं । अगर हम परम्परा भाषा, प्रतीक व बोलियों को नहीं जानते हैं हो ऊपरी तौर पर ही भारतीय समाज को समझ पाएंगे न कि वृहद् व गहन तरीके से ।

प्रो. मुकर्जी भारतीय समाजशास्त्रियों से अपील करते हैं कि उन्हें सामाजिक प्रघटनाएँ जिनसे सामाजिक अवस्था और संस्कृति दोनों ही निकट रूप से जुड़ी हुई हैं, यह समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है । दूसरी अपील दे यह करते हैं कि जहाँ तक भारतीय समाज का संबंध है सामान्य मूर्त प्रघटनाओं का अध्ययन समूह क्रिया तथा समूह परम्पराओं के माध्यम से उत्तमता साथ किया जा सकता है । इनका मानना है कि भारत में ब्राह्मण सम्प्रदाय ने परम्पराओं का संरक्षण किया है और उन्हें आगे बढ़ाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । ये परम्पराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रही है । चूंकि भारतीय समाज जाति व्यवस्था से जुड़ा हुआ है और इसमें ब्राह्मण शिखर पर है । ये हमेशा चाहते हैं कि समाज के सभी सदस्य परम्पराओं का निर्वहन करें । इसी प्रयास के कारण सामाजिक व्यवस्था में आज भी निरन्तरता बनी हुई है । मुकर्जी ने यह स्पष्ट किया कि आवाज और दृष्टि (Sound and Sight) का प्रयोग परम्पराओं के संरक्षण हेतु किया गया है । मंत्रों व जपों का उच्चारण आवाज के माध्यम से किया जाता है जबकि दृष्टि का मूर्तियों के रूप में प्रकटीकरण हुआ है । इन दोनों को इस विचार के साथ जोड़ दिया गया है कि मनीषी ही द्रष्टा है, पेगम्बर है, मंत्र का निर्माता है । अत: मंत्रों का बार-बार उच्चारण किया जाना चाहिए । भारत में मंत्रों के स्पष्ट उच्चारण, सही आचरण व सही ध्यान को विशेष महत्व दिया गया है ।

प्रो. डी.पी.. मुकर्जी ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में यह स्पष्ट किया है जब कभी उच्च व निम्न बौद्धिक परम्पराओं में संघर्ष या द्वन्द्व की स्थिति पैदा होती है तब उसका अनुमान लगा लिया जाता है और उन्हें वैचारिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया जाता हैं । जैसा कि हम जानते हैं कि यहाँ जाति प्रथा समाज की मुख्य विशेषता रही है इस कारण वर्ग निर्माण की प्रक्रिया में शिथिलता आयी है, अगर कहीं वर्ग चेतना का प्रादुर्भाव भी हुआ है तो उसे दबाने का प्रयास किया गया है । भारतीय राजनीति में भी वर्ग के स्थान पर जाति का सहारा लिया जाता है । आज हमारे समाज में भी व्यापक परिवर्तन आ रहे हैं, लेकिन यहाँ पश्चिमी समाज की अपेक्षा अधिक सामाजिक सुदृढ़ता पायी जाती है । अत: भारतीय समाजशास्त्रियों को परम्पराओं का अध्ययन अनिवार्यत: करना चाहिए तथा परिवर्तन के दौर में परम्पराओं के बीच जो द्वन्द्व व टकराव पैदा हो रहा है, उसे समझ कर समाज की यथार्थता को सामने लाना चाहिए ।

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक प्रारूप

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्रियों से यह आग्रह किया है कि उन्हें भारतीय समाज की परम्पराओं का अध्ययन करना चाहिए । भारतीय समाज के विभिन्न युगों में परम्पराओं के जो स्वरूप व संघर्ष हुआ है उसे समझना चाहिए । आपने भारतीय परम्पराओं के द्वन्द्व के कुछ प्रारूपों को प्रस्तुत किया है, जिन्हें हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे

1. लघु एवं वृहद् परम्पराओं में द्वन्द्व
2. पुनर्जागरण की कड़ियाँ
3. उच्च एवं निम्न परम्पराओं में द्वन्द्व
4. आन्तरिक एवं बाहय परम्पराओं में द्वन्द्व, और
5. परम्परा एवं आधुनिकता में द्वन्द्व ।

परम्पराओं के द्वन्द्वात्मक प्रारूपों को अध्ययन की दशष्टि से प्रो. मुकर्जी ने प्रस्तुत किया है । अब यह यहाँ विस्तार से इन प्रारूपों का विश्लेषण करेंगे

7.6.1 लघु एवं वृहद् परम्पराओं में द्वन्द्व

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ' ने कहा कि भारतीय समाज के आन्तरिक दबावों के कारण लघु एवं वृहद् परम्पराओं के बीच द्वन्द्व होता है । लघु परम्पराएँ वे होती है जो अलिखित होती है, जिनकी उत्पत्ति स्थानीय स्त्रोतों में विद्यमान है, वे परिष्कृत नहीं होती तथा इनके फैलाव का क्षेत्र काफी सीमित होता है । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि लघु परम्पराओं का उद्गम गाँवों से होता है, इसका विकास ग्रामीण समुदायों में रहने वाले सामान्य व्यक्तियों के बीच स्वत: होता है । दूसरी ओर ऐसी परम्पराएँ जो वृहद् होती है, इनका स्वरूप लिखित होता है, जिनका उल्लेख हमें प्राचीन साहित्य और ग्रन्थों में मिलता है । इनका उद्गम रामायण, महाभारत, वेद व उपनिषद से होता है । ये परिष्कृत होती है जिनका फैलाव सम्पूर्ण भारत में होता है । प्रो. मुकर्जी कहते हैं कि इन दोनों परम्पराओं में आपस में द्वन्द्व पाया जाता है । जब इनमें हक होता है तब लघु परम्पराओं का जन्म होता है । वृहद् परम्पराओं के विरोध में

भारतीय समाज के कुछ वर्गो द्वारा विरोध किया जाता है । उदाहरण के लिए ब्राह्मण परम्पराओं का विरोध बहुत से संतों ने किया जैसे नानक, नामदेव, तुकाराम, कबीर, चैतन्य एवं दादू दयाल, इत्यादि । इन्होंने सुधारात्मक सम्प्रदायों को चलाया, और सुधारवादी आन्दोलन चलाया तथा वश्हद् परम्पराओं का पुरजोर विरोध किया । भारत में 19वीं शताब्दी में धर्म सुधार आन्दोलन को देख सकते हैं जो स्थापित वृहद् परम्पराओं के विरोध में थे जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी इत्यादि । इस प्रकार भारत में लगातार लघु एवं वृहद् परम्पराओं के बीच द्वन्द्व रहा हैं । हमें इनका अध्ययन अवस्थित रूप से करना चाहिए ।

7.6.2 पुनर्जागरण की कड़ियां

प्रो. डी.पी. मुकर्जी, ने कहा कि भारतीय परम्पराओं के अध्ययन के लिए हमें भारत में हुए पुनर्जागरण आन्दोलनों को भी व्यवस्थित रूप से समझना चाहिए । इनका आग्रह है कि भारत में केवल 19बी शताब्दी में ही पुनर्जागरण का प्रारंभ नहीं हुआ, इसका प्रारंभ तो वैदिक काल से है । उनका कथन है कि

"19वीं शताब्दी का पुनर्जागरण तो केवल एक है जो भारत के पुनर्जागरण आन्दोलन की विभिन्न कड़ियों की अन्तिम कड़ी है । हम इससे पूर्व के पाँच कालों को जानते हैं, जिनमें परिवर्तन हुए हैं और सभी में नवीन परिवर्तनों के संकेत मिलते हैं । "

आप द्वारा जिन कालों का उल्लेख किया है वे हैं वैदिक-आर्यकाल, बुद्धकाल, गुप्त काल, हर्ष एवं विक्रमादित्य काल, मुस्लिम-भक्ति काल तथा ब्रिटिश काल । इन कालों में परम्पराओं के बीच द्वन्द्व हुआ है, जिसके कारण अनुकूलन एवं परिवर्तन की नवीन स्थितियों का सूत्रपात हुआ ।

7.6.3 उच्च व नवीन परम्पराओं में द्वन्द्व

टर्नर ने परम्पराओं को दो भागों में विभाजित किया है वे हैं (1) उच्च परम्पराएँ, और (2) निम्न परम्पराएँ । इन्हीं परम्पराओं का अनुकरण प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने किया है । आपने कहा कि उच्च व निम्न परम्पराओं में भी निरन्तर द्वन्द्व की स्थिति विद्यमान होती है । इन दोनों परम्पराओं को भी भारतीय समाजशास्त्रियों को अध्ययन में सम्मिलित करना चाहिए । मुख्य रूप से वे इस बात पर जोर देते हैं कि समाजशास्त्रियों को सामाजिक व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों का अनिवार्यत: विश्लेषण करना चाहिए, इसके अन्तर्गत संबंधित क्रियाएँ ऊपर की ओर जाती है और कुछ क्रियाएँ नीचे से यानी धरातल से ऊपर की ओर जाती है । परम्पराओं में होने वाली इस क्रिया को नीचे गहराई में जाना और ऊपर की ओर जाना, माना जा सकता है । इन परम्पराओं में आरोही एवं अवरोही प्रक्रियाएँ चलती रहती है, यही कारण है कि इनमें परस्पर संघर्ष, अनुकूलन, सामंजस्य एवं समन्वय होता है । अत: इन समस्त परम्पराओं का अध्ययन भारतीय समाजशास्त्रियों को करना चाहिए तभी हम भारतीय समाज को समझ पाएंगे ।

7.6.4 बाहा व आन्तरिक परम्पराओं में संघर्ष या द्वन्द्व

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने कहा है कि भारतीय समाज आन्तरिक व बाह्य परम्पराओं का पुंज है । इन्हीं से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का संचालन हो रहा है, लेकिन कई बार बाहय व आन्तरिक परम्पराओं के बीच द्वन्द्व देखा जा सकता है । भारत पर प्राचीन काल से ही अनेक आक्रमण हुए, अनेक प्रजातियों के लोग यहाँ पर आक्रमणकारी के रूप में आये और यहाँ बस गये, जैसे शक, हूण, कुषाण, मंगोल, मुसलमान और अंग्रेज. आते रहे, इन सभी की परम्पराएँ भारतीय परम्पराओं से भिन्न थी । इस कारण इन भारतीय परम्पराओं का संघर्ष भारतीय परम्पराओं से हुआ । इसी कारण भारतीय समाज में परिवर्तन दिखायी देता है, परम्पराओं में बदलाव हुआ और कुछ बाहय परम्पराओं के साथ अनुकूलन व सामंजस्य भी स्थापित करना पड़ा। अगर हम भारतीय परम्पराओं पर पडने वाले प्रभावों को देखें तो कह सकते है कि इस्लाम व पाश्चात्य संस्कृति व परम्पराओं का प्रभाव भारतीय समाज पर पडा । 15 वीं तथा 16वीं शताब्दी में इस्लाम ने हिन्दू संस्तुति पर प्रहार किया, जिस कारण हिन्दू परम्पराओं में काफी परिवर्तन हुए । ब्रिटिश शासन के दौरान भी भारतीय परम्पराएँ प्रभावित हुई और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा जिस कारण भारत में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा न्याय व्यवस्था में परिवर्तन हुए ।

आगे चलकर 19वीं शताब्दी में धर्म सुधार आन्दोलनों चले तथा पुनर्जागरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय समाज को व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता, समानता जैसे विचारों को दिया । इसी युग में ब्रह्म समाज, आर्य समाज. रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज जैसी संस्थाओं व आन्दोलनों ने समाज सुधार के प्रयास किये, समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने हेतु संगठित प्रयास किये जो एक प्रकार से भारतीय परम्पराओं के विरूद्ध थे । भारतीय समाज ने इनके द्वारा प्रस्तुत समस्त सुधारों को स्वीकार कर लिया ।

इस प्रकार डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाज को विभिन्न कालों में बांटकर परम्पराओं के द्वन्द्व को समझने का प्रयास किया । विभिन्न काल जिनमें आर्यकाल बुद्धकाल, गुप्त काल, हर्ष एवं विक्रम काल तथा भक्ति काल हैं, में प्रचलित परम्पराओं का उस काल विद्वानों ने विरोध किया तथा इन परम्पराओं में सुधार पर जोर दिया । अत: समाजशास्त्रियों को इन परम्पराओं के द्वन्द्व का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करना चाहिए ।

7.6.5 परम्परा एवं आधुनिकता में द्वन्द्व

डी.पी. मुकर्जी ने अपने अध्ययन के दौरान यह पाया कि परम्परा एवं आधुनिकता के बीच द्वन्द्व होता रहा है । इनमें बाद, प्रतिवाद एवं संवाद की स्थितियाँ पैदा होती रहती है और नवीन परिवर्तन देखे जा सकते हैं । आधुनिकीकरण के कारण भी यही द्वन्द्व है । इनमें आपस में समन्वय को भी देख सकते हैं । इनकी मान्यता है कि हम आधुनिकीकरण को तब तक नहीं समझ सकते, जब तक कि हम परम्पराओं को नहीं समझें । बिना ऐतिहासिक अध्ययन किये हम वर्तमान समाज को नहीं समझ सकते । इसी कारण परम्परा और आधुनिकता के बीच होने वाले द्वन्द्व हमें समाज की वर्तमान स्थिति से जोड़ सकते हैं ।

7.7 भारतीय साहित्य का विकास

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास की व्याख्या की है । इन्होंने कहा है कि संस्कृत भाषा और उसमें रचित ग्रन्थ भारतीय संस्कृति और परम्परा के मुख्य स्त्रोत हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि हमें भारतीय साहित्य एवं कला के विकास का अध्ययन प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से प्रारंभ करना चाहिए । वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल की चर्चा करें तो उस समय संस्कृत एक समृद्ध भाषा थी और साधारण बोलचाल में उसका प्रयोग होता था । संस्कृत ही समाज की परम्पराओं, प्रथाओं, रूढ़ियों, संगठन, सामाजिक एकता, मानकों, मूल्यों एवं नियमों का आधार थी। आगे चलकर भारतीय साहित्य और परम्पराओं पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा, उसके बाद भक्ति काल और बाद में अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा । अब हम यहाँ विभिन्न कालों में भारतीय साहित्य के विकास और उस पर होने वाले प्रभावों की व्याख्या करेंगे:

(1) **संस्कृत साहित्य :-** जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि संस्कृत साहित्य विभिन्न साहित्यों के स्वरूपों का स्त्रोत रहा है, जिसका निर्माण सम्भ्रान्त वर्ग द्वारा किया गया है । लोक कथाएँ, गीत, कविताएँ इत्यादि के कारण साहित्य में भिन्नता पायी जाती है । संस्कृत भाषा ने इन भिन्नताओं को अपने में समावेशित किया है । इसी कारण एक ऐसे साहित्य का सृजन हुआ जो सदियों तक बना रहा । उच्च वर्ग अथवा संभ्रान्त वर्ग के जीवन की जो सामान्य सामाजिक परम्पराएँ थी वे साहित्य के स्वरूप को निरन्तर नवीनता प्रदान करती है । ये लोग अपने को जनसाधारण के साहित्य से अलग रखते हैं । समाज में अनेक जातियों व जनजातियों के लोगों का राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के रूप में अलग-अलग लेकिन संगठित रूप से जीवन व्यतीत करने के कारण साहित्य में छोटा-मोटा परिवर्तन देखा जा सकता है । ये लोग अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से पास-पास रहते थे । उनकी अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी । संचार व यातायात के साधनों की कमी के कारण साहित्य पर नगरीय प्रभाव कम ही पड़ा ।

संस्कृत व प्राकृत साहित्य में स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु के बीच विनिमय होता रहा है । इसी स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को संस्कृत साहित्य ने अंगीकार किया है । अगर हम भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों की कविताओं का अध्ययन करें तो पाएंगे कि उनमें उस समाज की स्थानीय विशेषताएँ पायी जाती हैं। 18वीं शताब्दी तक तो संस्कृत भाषा प्रभावशाली थी । उदाहरणार्थ एक बंगाली लेखक ने अपनी रचना का संस्कृत में अनुवाद इसलिए किया ताकि सम्पूर्ण भारत के लोग उसे समझ सकें ।

(2) **इस्लामी संस्कृति का साहित्य पर प्रभाव -** मुस्लिम शासन का प्रभाव भारतीय समाज पर दीर्घकालीन पड़ा । इसका कारण मुसलमान शासकों ने भारत पर लम्बे समय तक शासन किया । यही कारण है कि भारतीय साहित्य तथा संस्कृति का कोई भी पक्ष इस्लाम के प्रभाव से अछूता नहीं रहा । मुस्लिम शासन काल में विभिन्न संस्कृतियों के बीच समन्वय हुआ जिसके कारण भारतीय साहित्य में उर्दू भाषा का विकास हुआ । प्रो. मुकर्जी उर्दू भाषा को भारतीय भाषा मानते ह। इस भाषा का विस्तार उत्तर व दक्षिण भारत में भी हुआ । मुस्लिम शासन काल में उर्दू भाषा न्यायालयों की भाषा थी, इस कारण इस भाषा का विस्तार अधिक हुआ । भारतीय साहित्य पर इस भाषा का प्रभाव पडा और हिन्दुस्तानी व उर्दू भाषा एक दूसरे से मिल-जुल

गयी। यद्यपि राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हिन्दू व मुसलमानों में अलगाव हो गया । इस कारण उर्दू भाषा फारसी के नजदीक चली' गयी और हिन्दी भाषा संस्कृतमय हो गयी ।

(3) **साहित्य पर भक्ति का प्रभाव :-** भक्ति का प्रभाव बढ़ने के कारण साहित्य भी प्रभावित हुआ, क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ, जिसकी वजह से भक्ति साहित्य में वृद्धि हुई । इसका प्रभाव भी भारतीय साहित्य पर पड़ा । अगर हम वाल्मिकी और तुलसीदास द्वारा रचित रामायण की व्याख्या करें तो पाएंगे कि दोनों में राम और सीता का चित्रण अलग-अलग प्रकार से किया है । वैदिक काल का साहित्य और आध्यात्मिक साहित्य के कारण मुस्लिम शासन के दौरान भारतीय साहित्य में एकता और विभिन्नता बनी रही । इस दौरान समाज के अभिजन वर्ग पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव था, दूसरी तरफ न्यायालयों की भाषा उर्दू होने के कारण इसका प्रभाव दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों तक भी फैल गया । भारतीय साहित्य व संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति व साहित्य का प्रभाव जब प्रारंभ हुआ, उस समय तक भारतीय समाज, भारतीय संस्कृति और साहित्य समृद्ध हो चुके थे । यद्यपि इस्लाम की तुलना में पश्चिम का प्रभाव अधिक पडा । इसे हमें अगले बिन्दु में प्रस्तुत करेंगे

(4) **पश्चिम का साहित्य पर प्रभाव :-** मुस्लिम साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापार व वाणिज्य हेतु प्रवेश किया, इस कारण स्थानीय उद्योग-धन्धें संकट में पड़ गये । जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना प्रभाव बढ़ाया व अपनी शासन पर पकड़ कर ली तो सबसे पहले पंचायती राज व्यवस्था जो परम्परागत थी उसे समाप्त कर दिया । देशी रियासतों के राजाओं-महाराजाओं व सामन्तों से अपने संबंध बनाये रखे । इसी प्रकार शिक्षा के माध्यम से भी अपने हितों की पूर्ति का प्रयास किया । उन्होंने एक ऐसे अंग्रेजी शिक्षित वर्ग का निर्माण किया जो उनकी शासन प्रबन्ध में मदद कर सकें । इन सामन्तों, भू-स्वामियों व अंग्रेजी शिक्षित वर्ग ने एक नवीन मध्यम वर्ग की संरचना की । यह मध्यम वर्ग एक ऐसी स्थिति में आ गया कि वह न तो भारतीय समाज से जुड़ा रह सका और न ही ब्रिटिश समाज से । एक त्रिशंकु की स्थिति इस वर्ग की हो गयी । लेकिन ब्रिटिश शासन में इस वर्ग की स्थिति मजबूत व महत्वपूर्ण बनी रही । डी.पी. मुकर्जी ने बताया कि "इन अंग्रेजी प्रशिक्षित मध्यम वर्ग ने पाश्चात्य संस्कृति के हस्तान्तरण के माध्यम या कड़ी के रूप में कार्य किया । "

राजा राम मोहन राय जो समाज सुधारक थे, उन्होंने दोनों संस्तुति के साथ रहकर अनुभव किया और कहा कि पाश्चात्य संस्कृति के कुछ गुण महत्वपूर्ण हैं, उन्हे हमें स्वीकार करना चाहिए । पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क के कारण साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा । ब्रिटिश काल में भारतीय साहित्य को एक नई दिशा प्राप्त हुई । संस्कृत साहित्य का 'प्रभाव कमजोर पड़ गया । लेकिन भारत में जो नव मध्यम वर्ग का अमुदय हुआ, उसी तक पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव रहा।

भारतेन्दु हरिशचन्द्र, रविन्द्र नाथ टैगोर, बंकिम चन्द्र चटर्जी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इत्यादि के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव दिखायी पड़ता है । बंकिम चन्द्र का 'आनन्द मत' अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित था । भारतीय साहित्य में अतुकान्त कविताओं में छायावाद

आदि का प्रारंभ अंग्रेज कवियों के प्रमाण के कारण हुआ। अंग्रेजी साहित्य के अनुरूप ही भारत में भी उपन्यास, नाटक, यात्रा विवरण, निबन्ध, कहानियाँ और वीर-गाथाओं की रचना हुई।

भारतीय साहित्य में नवीन मूल्यों को स्थान भी अंग्रेजी साहित्य के कारण ही मिला, जैसे समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, राष्ट्रीयता, धर्म सुधार, स्त्री स्वतंत्रता इत्यादि । पाश्चात्य के प्रभाव के कारण भौतिक समृद्धि व व्यक्तिवादिता में वृद्धि हुई । नये साहित्य में समाजवाद, धैर्य, स्नेह, तार्किक विचारों और नवीन शोधों को स्थान प्राप्त हुआ।

7.8 भारतीय साहित्य में सामान्य सामाजिक निष्ठाओं या तत्वों का विकास

प्रो. डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय साहित्य के विकास के इतिहास की व्याख्या की है, उसके आधार पर आधुनिक भारतीय इतिहास में उत्पन्न विभिन्न विश्वासों और निष्ठाओं को भी प्रस्तुत किया है । यहाँ हम उनके द्वारा दी गयी कुछ सामान्य सामाजिक निष्ठाओं को प्रस्तुत करेंगे :

1. ब्रिटिश राज के दौरान भारत में अंग्रेजी साहित्य के विकास के कारण भारतीयों में भी प्रगति के प्रति निष्ठा पैदा हुई।
2. साहित्य ने भारतीयों में उदारवादी विचारधारा व तार्किकता का विकास किया । भारतीयों में व्यक्ति के प्रति भी निष्ठा पैदा हुई और वह परिवार व जातीय बंधनों से मुक्त होने के बारे में सोचने लगा ।
3. साहित्य के कारण भारतीयों में तार्किकता और वैज्ञानिक ज्ञान का उदय हुआ तथा सामाजिक समस्याओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ।
4. भारतीय साहित्य में उधोगवाद व तकनीकी के महल को स्वीकार कर लिया गया ।

7.9 मिथ्या-व्यक्तिवाद का विस्तार

जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि ब्रिटिश शासन के कारण भारत में अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग उभकर सामने आया । यह वर्ग समाज में अपनी स्थिति को मजबूत बनाना चाहता था । प्रो. मुकर्जी ने लिखा कि इन लोगों की स्थिति में मिथ्यावाद पनपा जो बंगाली साहित्य से भारत के अन्य भागों में फैल गया । बंगला साहित्य का प्रभाव भी भारतीय साहित्य पर पड़ा । व्यक्तिवादिता के विकास के कारण व्यक्ति में अधिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हुई, इसी इच्छा ने निम्न मध्यम वर्ग के शोषण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया । विशेष रूप से श्रमिकों के शोषण में बढ़ावा हुआ। इन सभी परिस्थितियों का वर्णन भारतीय साहित्य में किया जाने लगा । आपने कहा कि इस काल में क्षेत्रीय साहित्य अभी भी एक दूसरे से भिन्न था, जिसके पर्यावरण संबंधी कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जो निम्न थे :

1. अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा तथा प्रारंभ के यूरोप के वाणिज्य का ऐतिहासिक प्रभाव भारतीय साहित्य में दिखायी देने लगे ।
2. वाणिज्य के केन्द्र और कच्चे माल के निर्यात के बंदरगाहों का प्रभुत्व ।

3. औद्योगिक क्षेत्रों एवं नगरों का विकास- इन दोनों ने नगर व गाँव संस्कृति के प्रसार की दिशा की ।
4. आधुनिक साहित्य में संस्कृत व फारसी परम्पराओं का वर्चस्व में कमी आयी । यद्यपि संस्कृत, फारसी व उर्दू के इस वर्चस्व को भारत के उर्दू क्षेत्रों के हिन्दी साहित्य तथा दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद की ' अदालती कार्यो में देखा जा सकता है ।
5. संचार व मुद्रण का प्रसार ।

इस प्रकार डी.पी. मुकर्जी ने अपने लेख में साहित्यिक विश्वासों के विकास को भी प्रस्तुत करते हुए कहा कि अनेक विश्वास और मूल्यों का विकास विभिन्न कालों में होता रहा है। प्राचीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें हमारे आचरण से संबंधित मूलों पर अधिक जोर दिया जाता था । पाश्चात्य समाज में अनैतिकता को क्षमा योग्य माना जाता है जबकि भारतीय समाज में इस प्रकार के अनैतिक व्यवहार को क्षमा योग्य नहीं माना जाता था। वैष्णव साहित्य में प्रेम संबंधों तथा कामुकता से जुड़े तलों को भुला दिया गया, इन्हें धार्मिक प्रतीकात्मक रूप से साहित्य में वर्णित किया जाने लगा । अब धीरे-धीरे नवीन साहित्यिक विश्वासों का हुआ । अब कला, कला के लिए थी । साहित्यिक प्रतिबन्धों में कुछ शिथिलता आयी, इससे नवीन सामाजिक दृष्टिकोणों का विकास हुआ । सुधारवादी साहित्य में शोषण के विभिन्न स्वरूपों को बड़ी गहनता से प्रस्तुत किया गया, जैसे सास-बहु पिता-पुत्र, पति-पत्नी, युवा-वृद्ध, शोषक-शोषित, दलित आदि के संघर्षो व शोषण को । साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन आया । भारतीय साहित्य में मानवतावाद का विकास हुआ । मार्क्सवादी दृष्टिकोण के माध्यम से अध्ययन किया जाने लगा । साम्राज्यताद के विरूद्ध लिखा जाने लगा । साहित्य में समाज के विभिन्न वर्गो अनुसूचित जातियों, स्त्रियों, बच्चों कृषकों, श्रमिकों, श्वेतवस्त्रधारी बाबूओं व दलितों के लिए आवाज उठायी जाने लगी ।

7.10 डी.पी. मुकर्जी : कला का विकास

भारत में कला के विकास के संदर्भ में डी.पी. मुकर्जी ने कहा कि कला का विकास विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिश्रण से हुआ है । कला के विकास के बारे में जानने से पूर्व इसके अर्थ को समझना आवश्यक है । साथ ही अध्ययन के कुछ आधारों को भी सुनिश्चित करना पड़ेगा । जहाँ तक कला को परिभाषित करने का संबंध है, विद्वान कहते हैं कि ललित कला का आकलन करना ही कला है । भगवत शरण उपाध्याय ने और अधिक स्पष्टता प्रदान करते हुए कहा है कि.

अभिराम अंकन चाहे भोग-विलास के क्षेत्र में हो, चाहे रेखाओं में, चाहे वास्तुशिल्प में हो, वह कला ही ।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि 'कला अपनी दृष्टि से प्रकृति को देखती है. और कलाकार कला की दृष्टि से दृश्य में पैठकर और प्राय: उसे अपने आपको एकीभाव करके देखता है, समझता है, तथा अपनी तूलिका, छैनी, और लेखनी से संवार देता है. इसी को कला कहते हैं।"

कला के विभिन्न स्वरूप हैं जैसे शिल्प कला, चित्रकला, संगीत कला और स्थापत्य कला इत्यादि । भारत में कला का विकास सिंधु घाटी सभ्यता से माना जाता है । वैदिक युग में कला के प्रति उदासीनता के कारण इसके विकास में अक्रोध आ गया । मौर्य काल से पुन: कला के प्रति रूचि जाग्रत हुई उसके बाद से कला का विकास निरन्तर होता गया । यद्यपि कला पर विभिन्न संस्तुतियों का प्रभाव पडा । समय-समय पर आक्रमणकारी आये और उन्होंने अपनी कला की छाप यहाँ छोड़ी । अत: हम यह कदापि भी नहीं कह सकते हैं कि भारतीय कला केवल हिन्दुओं से ही जुड़ी हो ।

भारतीय कला के विकास के अध्ययनों की दृष्टि से देखें तो विद्वानों ने स्थापत्य कला के अध्ययन पर अधिक रूचि दिखायी । भारतीय कला के विरूद्ध भी काफी लोगों ने आवाज उठायी, उनका कहना था कि भारतीय कला कमजोर, उबाऊ, गीतात्मक, अभौतिक तथा औद्योगिक विकास में बाधक है । डी.पी. मुकर्जी लिखते हैं कि भारत में कुछ ऐसे कलाकार भी हैं जो पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित होकर कला का सृजन कर रहे हैं । भारतीय समाज का एक वर्ग ऐसा है जो केवल कला की प्रशंसा करता है । भारतीय समाज में आध्यात्मिकता का स्थान प्रमुख रहा है, इसी कारण भारतीय कला में आध्यात्मिकता का चित्रण हुआ है । समाज की परम्पराओं, पौराणिक कथाओं तथा प्रतीकों के प्रति जागरूक होकर कला को विकसित किया है ।

वर्तमान संदर्भ में डी.पी. मुकर्जी का कहना है कि मध्यम वर्ग कला के प्रति उदासीन हो गया है, वह केवल भौतिक सुख-सुविधाओं की तरफ ही अग्रसर हो रहा है । आज की पीढ़ी हमारे महाकाव्यों के चरित्रों से अपरिचित है, रामायण, महाभारत तथा गीता में जिन घटनाओं का उल्लेख है, वे केवल दूरदर्शन पर प्रसारित सीरियलों के माध्यम से ही समझ पाते हैं ।

कला में चित्रकला भी प्रमुख है, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण काफी प्रसिद्ध रहा है । यहाँ पर रागिनी चित्र भी काफी लोकप्रिय हुए हैं, जिन पर दोहे लिखने का प्रचलन था । बंगाल में बहुत से चित्र ऐसे हैं जिन पर रविन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं को लिखा गया है । कला के विकास के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी उभर कर सामने आया है कि पहले की तुलना में अब कला के प्रति अधिक रूचि बढ़ी है । इसे हम कलात्मक वस्तुओं की बिक्री के आधार पर देख सकते हैं । इससे कलाकार नवीन से नवीन कलाकृतियों की रचना करते हैं और बाजार में उसे बेचा जाता है । इसे सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विकास की दिशा में एक आन्दोलन कहा जा सकता है । कलाकार व कला के प्रशंसक नगरों के साथ-साथ गाँवों में भी है ।

आज हम कला के विकास चलचित्रों की भूमिका को अस्वीकार नहीं कर सकते । अध्ययन यह बताते है कि अधिकांश चलचित्रों में पौराणिक कथाओं का समावेश किया गया है, बुद्ध, अशोक, चाणक्य, संतों आदि के बारे में जानकारी दी जाती है । बहुत से उपन्यासों पर चलचित्रों का निर्माण हुआ है, जैसे शाकुन्तलम, मेघदूत, रामायण, महाभारत इत्यादि । इनमें तत्कालीन समाज की समस्याओं को उजागर किया गया है । दलितों, स्त्रियों व वंचितों से संबंधित जानकारी हमें प्राप्त होती है ।

जैसा हमने पूर्व में लिखा है कि भारत में सभी कलाओं में वास्तुकला सबसे अधिक सामाजिक रही है । नृत्य कला का महत्व भी बढ़ा है । कहीं गरबा नृत्य है तो कहीं मणिपुरी

नृत्य । कहीं भरत नाट्यम है तो कहीं कत्थक । आजकल इन सभी नृत्य कलाओं का योजनाबद्ध प्रदर्शन हो रहा है, जिससे लोगों की रूचि बढ़ रही है । भारत की जनजातियों में भी नृत्य लोकप्रिय है । त्यौहारों पर विशेष प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं । आज कला को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा विशेष पुरूस्कार भी दिये जाते हैं । अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं के समाधान में कला एक महत्वपूर्ण साधन है, जिसे प्रभावी तरीके से प्रोत्साहन देना ' चाहिए ।

7.11 सारांश

इस इकाई में हमने प्रो. डी.पी. मुकर्जी का भारतीय समाजशास्त्र को दिये गये योगदान की चर्चा की है । इन अध्ययनों से ज्ञात होता है कि समाज के अध्ययन में इनका दृष्टिकोण सम्पूर्णवादी अर्थात् अन्तर्विज्ञानी रहा है । आपने न केवल समाजशास्त्रीय आधार पर ही समाज को अध्ययन नहीं किया, अपितु इतिहास, अर्थशास्त्र, कला, साहित्य, संगीत इत्यादि का भी समाजशास्त्रीय संदर्श से अध्ययन किया है । मुकर्जी का मानना है कि इतिहास, समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से जुडे हुए हैं । अत: इन विज्ञानों की अध्ययन सामग्री का आदान-प्रदान होना चाहिए । आपका यह भी मानना है कि सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण ही समाज की घटनाओं की व्याख्या करने का आधार होना चाहिए । आपने मनो-समाजशास्त्रीय पद्धति को भी प्रस्तुत किया, जिसके आधार पर व्यक्तित्व को समझना चाहिए । व्यक्तित्व पूर्ण एकता है तथा ज्ञान इस एकीकृत पूर्ण एकता का आधार है । इसलिए सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु को अलग-अलग संदर्भो से न समझ कर सम्पूर्णवादी दृष्टिकोण से समझना चाहिए । डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र को जो प्रमुख योगदान दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं

1. परम्पराओं का द्वन्द्व
2. कला एवं साहित्य का विकास
3. ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक उपागम
4. अध्ययन पद्धति के प्रकार

7.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रो. डी.पी. मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत परम्परा के द्वन्द्व के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।
2. प्रो. डी.पी. मुकर्जी के भारतीय समाजशास्त्र को दिये गये योगदान को बताइये ।
3. भारतीय साहित्य के विकास पर डी.पी. मुकर्जी के दिये विचारों की विवेचना कीजिए ।
4. कला के विकास पर मुकर्जी के योगदान की व्याख्या कीजिए ।

इकाई 8

जी.एस.घुर्ये का योगदान

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 घुर्ये का प्रारम्भिक जीवन एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

8.3 घुर्ये की कृतियाँ

8.4.1 ब्रिटिश अनुकूलन

8.4.2 भारतीय सभ्यता का राष्ट्रीय निवेचन

8.4.3 विसरण

8.4.4 घुर्ये का भारतीय सभ्यता का समाजशास्त्र

8.5 भारतीय इतिहास मे प्रजाति का सिद्धान्त

8.6 भारतीय सांस्कृतिक इतिहास

8.7 सभ्यताओं की एकता

8.8 भारतीय समाज अनिवार्य रूप से एक हिन्दू समाज है

8.9 घुर्ये - एक राष्ट्रवादी

8.10 घुर्ये का भारत विद्या

8.11 विसरण विचार धारा

8.12 धर्मनिरपेक्षता का अभाव

8.13 संस्कृतज्ञ

8.14 अविशिष्ट

8.15 घुर्ये की आलोचना

8.16 हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव

8.17 घुर्ये और हिन्दूवादी

8.18 मानवजाति अध्ययन की शुरुआत

8.19 सारांश

8.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.21 संदर्भ ग्रंथ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- जी.एस. घुर्ये के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में जान सकेंगे ।
- जी.एस घुर्ये द्वारा बताई गई समाजशास्त्र की परिभाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- जी.एस घुर्ये एक हिन्दू समाजशास्त्री थे यह समझ सकेंगे ।

- जी.एस घुर्ये द्वारा दिये गये भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त को समझ सकेंगे ।
- भारतीय संस्कृति के इतिहास की पुनर्रचना में इनके योगदान को समझ सकेंगे ।
- भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण में इनके योगदान को समझ सकेंगे ।

8.1 प्रस्तावना

एस. घुर्ये का समाजशास्त्र

गोविन्द सदाशिव घुर्ये भारतीय समाजशास्त्र के पुरोधा थे । कुछ विचारको का मत है कि वे इस देश में समाजशास्त्र के जनक थे । पेट्रिक गैड्स बम्बई विश्वदिद्यालय में समाजशास्त्र के पहले अध्यापक थे उनके बाद घुर्ये ने समाजशास्त्र के अध्यापन की बागडोर को सँभाला । इस विधा में उन्होंने बहुत लिखा हे । उनकी लिखावट कई पृष्ठों में भरी पड़ी है । इतना होते हुए भी घुर्ये कोई निर्विवाद समाजशास्त्रीय विचारक हों, ऐसा नहीं है । उनके बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह एकदम साफ-सुथरा नहीं है । कई जगह उनकी बहुत प्रशंसा हुई है वही उन्हें सनकी भी कहा गया है । समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक ज्ञान शास्त्र स्थापित करने की अपेक्षा उसे हिन्दू समाजशास्त्र बनाने का उनका प्रयास रहा है । वे 'भारत विद्या के प्रणेता थे । वस्तुत: वे एक ऐसे मठाधीश थे जिसके शिष्यों की संख्या दर्जनों में थी । 20वी शताब्दी के प्रारम्भ में इनके ये विद्यार्थी सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे । तब तक ऐसा दौर था जब कई नामी-गिरामी विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र की स्थापना हुई थी और यह स्थापना घुर्ये के विद्यार्थियों द्वारा ही की गई थी ।

देखा जाये तो घुर्ये ने भारत में समाजशास्त्र के साम्राज्य की स्थापना में एक विराट नायक की भूमिका अदा की थी । भारत विधा की दृष्टि से घुर्ये ने जिस समाजशास्त्र को विकसित किया, वह वस्तुत: एक हिन्दू-ब्राह्मण राष्ट्रीय समाजशास्त्र (Hindu-Brahman National Sociology) था । वे भारतीय संस्कृति की एकता को हिन्दू संस्कृति के साथ जोड़ते थे । उनकी विचारधारा का यह एक बुनियादी तल था । जब वेरियर एल्विन ने आदिवासियों को पृथक रखने के प्रस्ताव को रखा, और अपनी पुस्तक दि लोस ऑफ नर्व (The Loss of Nerve) में कहा कि यदि आदिवासियों का समादेश हिन्दू जातियों में हो जाये तो, उनकी धड़कन ही बन्द हो जायेगी, तब घुर्ये से नहीं रहा गया । उन्होंने वेरियर की पुस्तक के प्रत्युत्तर में दि शैडल्ड ट्राइब (प्रथम संस्करण) दि एबओरिजनल्स् सो काल्ड एण्ड देवर की पयुचर (scheduled Tribe.First) लिखी । इसमें उन्होंने कहा कि आदिवासियों का भविष्य इसी में है कि उन्हें निम्न जातियों में एकीकृत कर दिया जाये । मतलब हुआ - आदिवासियों को हिन्दु एवं ओरिजनिम्न जातियों में एकीकृत कर जाये तो घुर्ये संस्कृत भाषा के पंडित थे, वे स्वयं सारस्वत ब्राह्मण थे और इसी ने उन्हें हिन्दू वैचारिकी का प्रणेता बना दिया ।

उपनिवेशी ज्ञान और घुर्ये

घुर्ये का सही मूल्यांकन तत्कालीन भारतीय समाज के राजनीतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिये । जब अंग्रेजों की हुकूमत हमारे ऊपर थी, उन्होंने यहाँ के समाज के बारे में अपना ज्ञान विकसित कर लिया था । इसे इतिहासकार उपनिवेशी ज्ञान (Colonial Knowledge) कहते है । घुर्ये इस देश पर होने वाले अन्याय, दमन और शोषण

के प्रति जागरूक नहीं थे । लिखा उन्होंने बहुत कुछ है - 31 पुस्तकें, 47 रिसर्च पेपर और 50 वर्षा की लम्बी अवधि में एक लम्बा चौडा फुटकर साहित्य । बम्बई विश्वविद्यालय में उन्होंने कोई 35 वर्षो तक विभागाध्यक्ष का कार्य किया है । बहुत बडी संख्या में अनुसंधान कर रहे विद्यार्थियों ने उनके मार्गदर्शन में काम किया है । किसी भी समाजशास्त्री के लिए उसे बहुत योगदान कहा जाना चाहिये । आज समाजशास्त्र में इस प्रकार के अध्यापन में अनुसंधान करने बालों की रूचि नहीं दिखाई देती ।

8.2 घुर्ये का प्रारम्भिक जीवन एवं वौदिक पृष्ठभूमि

घुर्ये का जन्म महाराष्ट्र के एक गाँव - मालवन में हुआ था । जाति से वे सारस्वत ब्राहमण थे । उनके परिवार में संस्कृत तथा संस्कृत ग्रंथों का पठन-पाठन बहुत अधिक था । उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा अपनी पुस्तक आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स (I and Other Explorations, 1973) में रखा है । घुर्ये ने अपनी प्राथमिक शिक्षा मालवन में पाई थी । इसके बाद वे जूनागढ़ गये । उनकी उच्च शिक्षा मुम्बई के एलकिस्टन कॉलेज में हुई।

उन्होंने एम.ए. की डिग्री संस्कृत भाषा में की थी, समाजशास्त्र मानवशास्त्र में नहीं । यह संयोगवश था कि उन्होंने पेट्रिक गैड्स के कुछ व्याख्यानों को बम्बई विश्वविद्यालय में सुना था । इससे घुर्ये बहुत प्रभावित हुए और संस्कृत के इस विद्यार्थी की रूचि समाजशास्त्र में जाग्रत हुई ।

धुर्ये की बौद्धिक पृष्ठभूमि

सन् 1920 में बम्बई विश्वविद्यालय ने घुर्ये का चयन लंदन में उच्च शिक्षा के लिये किया । इसके लिए उन्हें छात्रवृत्ति दी गई । वे लंदन पहुँच गये । उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स (London School of Economics-LSE) में अपनी पढ़ाई प्रारम्भ की, बाद में चलकर यह स्कूल उन्हें पसन्द नहीं आया । आगे चलकर एसी. हेडन (A.C.Haddon) और आई.टी. हाबहाउस (I.T.Hobhouse) जो लंदन विश्वविद्यालय के थे, घुर्ये के सम्पर्क में आये । इन विद्वानों से भी वे संतुष्ट नहीं थे । बाद में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स (W.H.R.Rivers)के साथ उन्होंने पी.एच.डी. करना तय किया । सन् 1922 में घुर्ये को पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई । उनकी थीसिस के परीक्षकों मे रिगवे (Ridgway) और क्रूक थे । क्रूक (Crooke) को भारतीय मानवशास्त्र का अगुआ समझा जाता है ।

अब संस्कृत में एम.ए. करने वाले घुर्ये मानवशास्त्र में पी.एच.डी. प्राप्त करके एक समाजशास्त्री बन गये । वे बम्बई विश्वविद्यालय में पहले तो रीडर बने और इसके बाद 1943 में प्रोफेसर हुए । वे इस सम्पूर्ण अवधि में बंबई विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष रहे ।

उनकी पहली कृति कास्ट एण्ड रेस (Caste and Race) सन् 1932 में प्रकाशित हुई । इसका प्रकाशन लंदन से हुआ था । इस पुस्तक की दो विशेषताएँ हैं - पहली तो यह कि इसमें घुर्ये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजाति से बताई है और दूसरी यह कि इसने समाजशास्त्र को संसार के मानचित्र पर पहली बार स्थापित किया । यह भारत का योगदान था । इसका श्रेय घुर्ये को जाता हैं ।

पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद 1934 में रोयल एशियाटिक सोसायटी (Royal Asiatic Society) बम्बई, ने घुर्ये को रजत पदक प्रदान किया और इससे आगे उन्हें प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई -का नुमाइंदा घोषित किया । बाद में चलकर घुर्ये को बम्बई एन्थ्रोपोलोजिकल सोसायटी (Bombay Anthropological Society 1942-49) और इंडियन सोश्योलोजिकल सोसायटी (Indian Sociology Society, 1952-66) ने अध्यक्ष के रूप में चयनित किया ।

घुर्ये एक बहुमुखी समाजशास्त्री थे । वे प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होंने समाजशास्त्र की विषय सामग्री को कई नये आयाम दिये । उन पर तत्कालीन समाज के विद्वानों का पर्याप्त प्रभाव था । इन विद्वानों में पेट्रिक गैड्स हाबहाउस रिवर्स. हडन आदि मुख्य हैं । एक तो उन्होंने अपने लंदन प्रवास के दौरान समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को निकटता से देखा और दूसरा उन्होंने अपनी संस्कृत भाषा की पंडिताई का लाभ समाज विज्ञानों को समझने में लगाया

8.3 घुर्ये कीं कृतियाँ

घुर्ये ने बहुत कुछ लिखा है । उनके लिये समाजशास्त्र एक खुली छतरी की तरह रहा है और वह भी रबड़ की तरह जिसे जिधर चाहो, खींच लो । सब कुछ अवनि और अम्बर के बीच का - इन्होंने इसमें ला दिया है । इनकी प्रमुख कृतियाँ इस भांति है -

कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया (1932)

सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल (1938)

दि एबओरिजनल्स सो-काल्ड एण्ड दियर पयूचर (1943)

कल्चर एण्ड सोसायटी (1945)

आफ्टर ए सेन्चुरी एण्ड ए क्वार्टर (1980)

कास्ट, क्लास एण्ड ओक्यूपेशन (1961)

फेमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर (1982)

सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन (1982)

दि शिड्यूल्ड ट्राइब्ज (1903)

दि महादेव कोलिज (1963)

एनोटोमी ऑफ ए रूरूबन कम्यूनिटी (1963)

दि इंडियन साधुज (1984)

रेस रिलेशन्स इन नीग्रो अफ्रीका

सेक्सुअल बिहेवियर ऑफ दि अमेरिकन फिमेल

एन्थ्रोपोलोजिकल-सोश्योलोजिकल पेपर्स

सोश्यल टेन्शन्स इन इंडिया (1968)

आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स (1973)

विदर इंडिया (1974)

इंडिया रिक्रियेट्स डेमोक्रेसी (1978)

वेदिक इण्डिया (1979)

दि बर्निंग केल्ड्रन ऑफ दि नोर्थ-ईस्ट इण्डिया (1980)

8.4 घुर्ये का समाजशास्त्र की परिभाषा

कह सकते हैं, घुर्ये भारतीय समाजशास्त्र के जनक थे । उन्होंने बहुत कुछ लिखा है । उनकी लिखावट के आधार पर क्या हम आज इस स्थिति में है कि समाजशास्त्र की कोई एक साफ-सुथरी परिभाषा दे सकें । हम कह सकें कि समाजशास्त्र यह है और वह नहीं । इस तरह के विचार या प्रश्न वे मतलब लगते हैं । लेकिन यह सत्य है कि जब मुम्बई में समाजशास्त्र की शुरूआत हुई थी तब यह यहां के समाजशास्त्रियों का उत्तरदायित्व था कि दे देश के बौद्धिकों के सामने यह बताएं कि भारत में समाजशास्त्र को क्या करना होगा? क्या यह समाजशास्त्र उपनिवेशवाद से हमें मुक्ति दिलायेगा? क्या यूरोप की तरह यह नया विज्ञान हमारे लिये पुनर्जागरण (Renaissance) लायेगा? क्या यह भारतीय समाज को वैज्ञानिक विधि से समझा पायेगा? या यह समाज पुरातन ब्राह्मण प्रधान संस्कृति की धरोहर को पुन: हमारे किसी जूए की तरह गले में फंसा देगा? ऐसे ही कई प्रश्न घुर्ये और उनके विद्यार्थियों से पूछे जा सकते हैं।

घुर्ये के साहित्य पर कई विद्वानों ने लिखा है । यह भी स्थापित किया गया है कि वे अव्वल दर्ज के समाजशास्त्रीय विचारक थे । आज यह मान्यता भी स्वीकार की जाती है कि घुर्ये ने समकालीन समाजशास्त्र को बहुत अधिक प्रभावित किया है । वे संस्थाओं के निर्माण में भी पारंगत थे । उन्होंने इंडियन सोश्योलोजिकल सोसायटी का निर्माण किया । उसके प्रमुख पत्र सोश्योलोजिकल बुलेटिन की स्थापना की । यह सब ठीक है । फिर भी जो प्रश्न हमने ऊपर रखे हैं, उनका उत्तर हमें नहीं मिलता । इस अभाव के होते हुए भी, हम यहाँ घुर्ये ने जो कुछ लिखा है उसका निर्भीक विश्लेषण आगे के पृष्ठों में देंगे ।

घुर्ये ने भारत के समाजशास्त्र को एक नई दिशा दी थी । इसी कारण उन्हें समाजशास्त्रीय विचारक कहते हैं । वास्तव में 18 वीं और व 19 वीं शताब्दी में यूरोप और विशेषकर ब्रिटेन ने प्राच्यविद्या की एक ऐसी लहर पैदा हो गई थी जिसका केन्द्र सभ्यता का अध्ययन था । यूनान और मिस्र की सभ्यताओं से परिचित होने के बाद अब लोगों की रूचि भारतीय सभ्यता को समझने के लिये जागी । घुर्ये वस्तुत: संस्कृत भाषा के पंडित थे । इसका प्रयोग उन्होंने यहां की सभ्यता के विश्लेषण में किया । उनका समाजशास्त्र उनके उपनिवेशकाल के ज्ञान का परिणाम है । घुर्ये की विचारधारा को उनकी कृतियों और तत्कालीन बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये । उनकी विचारधारा की बनावट को हम निम्न बिन्दुओं में देखेंगे।

8.4.1 ब्रिटिश अनुकूलन

लन्दन में एक बहुत बड़ा प्रयास 19 वीं और 20 वीं शताब्दी में हो रहा था । वहां के विद्वान भारतीय सभ्यता की खोज में लगे थे । इस तरह की रूचि उपनिवेशवादी अंग्रेजों को भी रास आ रही थी, मेक्स मूलर जैसे विद्वानों ने संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन द्वारा भारतीय सभ्यता के पुनर्निर्माण की समस्या को उठाया । सभ्यता की खोज से जुड़े इन विद्वानों ने यह स्थापित

किया कि भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है । यह सभ्यता बहुत विकसित थी । यहां का शान और संस्कृति बहुत जटिल थे । इस तरह की सभ्यता की जानकारी इन लेखकों को संस्कृत भाषा से ज्ञात हुई ।

घुर्ये पर ब्रिटिश मानवशास्त्रियों और इतिहासकारों का बहुत बड़ा प्रभाव था । इन विद्वानों ने यह स्थापित किया कि किसी भी सभ्यता को समझने के लिये संस्कृति और भाषा के सम्बन्धों को देखना चाहिये । कुछ विचारकों का मत था कि यूनान की सभ्यता भारत में आ गयी और यहां के लोगों ने इसे हाथों हाथ अपना लिया । कुछ अन्य विचारकों का कहना था कि मिस्र की भाषा संस्कृत थी और किसी भी बदलाव के बिना यह भारतीय सभ्यता की भाषा बन गयी । ब्रिटेन में यह विचारधारा मजबूत हो गयी कि संस्कृत भाषा ज्ञान और संस्कृति की भंडार थी । यह समझा जाने लगा कि सार्वभौमिक मानवजाति विवरण के लिये (Universal Ethnological Narrative) संस्कृत भाषा एक कुंजी है ।

सभ्यता और संस्कृत के इस संबंध ने जोर पकड़ा । प्राचीन भारतीय सभ्यता की पहचान अब हिन्दू सभ्यता के साथ होने लगी और हिन्दू सभ्यता का आधार संस्कृत भाषा बन गई । इस तरह ब्राह्मण प्रधान हिन्दुवाद भारतीय समाज की पहचान बन गई । इधर मुसलमानों को विदेशी विजेता और निरंकुश शासकों के रूप में देखा जाने लगा । यह समझा जाने लगा कि हिन्दू समाज में जो भी बुराइयां है, इसका कारण मुसलमान हैं उपनिवेशकाल में भारत के लिये जो शान और गौरव की बात थी वह वस्तुत: हिन्दुओं के लिये थी ।

ब्रिटिशकाल में भारतीय इतिहास की व्याख्या नये सिरे से हुई । अब सभ्यता को केन्द्रीय मुद्दा बनाकर यह स्थापित किया गया कि दुनिया भर की जो सभ्यताएं हैं - दजला, फरात, मिस्र और सिन्धुघाटी - ये सब एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं । इसी संदर्भ में यह स्थापित किया गया कि भारतीय सभ्यता वस्तुत: हिन्दू सभ्यता है । इस सभ्यता को इसके मूल रूप में वेदों में देखा जा सकता है । वेद संस्कृत ग्रंथ है और इसलिये भारतीय सभ्यता को संस्कृत ग्रंथों में ही देखा जा सकता है ।

वैदिक संस्कृति के महत्व को मेक्स मूलर ने स्थापित किया । वे ही इसके प्रणेता थे । उन्होंने कहा कि भारतीय समाज को समझने के लिये हिन्दू कानून को समझना बहुत आवश्यक है । हाल में बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohn)ने भारतीय समाज की व्याख्या करते हुए कहा है कि हिन्दू का जीवन निश्चित नियमों के अनुसार चलता है । कोहन की तरह रोचर रोसेन (Rocher Rosanne)ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि पर्यायवाची विद्वानों के अनुसार भारतीय समाज को समझने का सही तरीका संस्कृत भाषा ही है ।

18 वीं और 19 वीं शताब्दियों में भारत में जो भी महत्वपूर्ण सामग्री आई| उसमें संस्कृत, भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण रही है । इस निष्कर्ष को घुर्ये ने अपने लेखन का आधार बनाया । हाल में थोमस ट्रॉटमेन ने प्राच्य विज्ञान विद्या की कतिपय मान्यताओं को नकारा है । उनका कहना है कि ये विद्वान भारतीय सभ्यता की गरिमा से इतने अभिभूत थे कि उन्होंने सच्चाई को देखा नहीं और वे इस सभ्यता पर पगला गये । 19 वीं शताब्दी के विचारकों ने कहा कि प्राच्य विद्या के विद्वान अतीत को देखते थे, और भविष्य के बारे में वे मौन थे । यह कहा गया कि ब्रिटिश हुकूमत भारत को आधुनिकता की और ले जाना चाहती थी जबकि

संस्कृत भाषा के आधार पर किया गया भारतीय समाज का विश्लेषण हर प्रकार से दीकयानूसी था ।

अंग्रेजों के आने के बाद भारत की विचित्र स्थिति थी । एक तरफ तो यह कहा जाता था कि भारतीय समाज विश्व सभ्यताओं की कडी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है । इस कडी का आधार सांस्कृतिक एकता थी और संस्कृत भाषा इसका मूल था । दूसरी और भारत में आधुनिकीकरण की किसी भी पहल को पुरातन भारतीय सभ्यता में हस्तक्षेप समझा जाता था ।

घुर्ये की वैचारिकी को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिये । जहां आधुनिकता या कहिये प्रगति की बात कही जाती थी, वहां घुर्ये संस्कृत भाषा के आधार पर अतीत में लौटने की सम्भावना को देख रहे थे ।

8.4.2 भारतीय सभ्यता का राष्ट्रीय निर्वचन

भारतीय सभ्यता पर 20 वीं शताब्दी में एक नई विचारधारा आई । इसमें कहा गया कि यह सभ्यता सम्पूर्ण संसार में श्रेष्ठ थी । आर्य इस सभ्यता के मूल थे । यह कहा गया कि पश्चिमी सभ्यता में जो कुछ है वह सब भारत से उधार लिया गया है । सन् 1830 के दशक में रोमिल थापर ने कहा कि वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का भंडार कहा जाने लगा । विख्यात समाज सुधारक जैसे कि राम मोहन राय ने अपने ग्रथों में बराबर यह कहा कि भारतीय संस्कृत ग्रंथ हमारी संस्कृति की धरोहर है । इनसे हमें बहुत कुछ सीखना है । ये ऐसे सुधारक थे जिन्होंने गीता और रामायण को लोकप्रिय बनाया । 1930 के दशक में भारत में जो विचारधारा बनी, वह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की थी । यह राष्ट्रीयता वेदों पर आधारित थी । इस युग में कहा गया कि भारत की संस्कृति वैदिकसंस्कृति है, भारतीय दर्शन वेदान्त है, और भारतीय धर्म हिन्दू धर्म है । इस तरह की विचारधारा के आधार पर सावरकर ने कहा कि भारतीय समाज मूल रूप से हिन्दू समाज है ।

जब भारतीय समाज को हिन्दू कहा जाने लगा तब एक और विचारधारा भी समाने आई। भारत में मुसलमान स्थायी रूप से बस गये थे । उनके बारे में इन 'राष्ट्रीय संस्कृति के प्रणेताओं का कहना था । 19 वीं शताब्दी के इन राष्ट्रवादी बौद्धिकों ने कहा कि मुसलमानों का भारत पर आक्रमण और यहां पर उनका निवास और कुछ न होकर ब्राह्मणों की परम्पराओं को तोडना था । इन लेखकों ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों की संस्कृति पूर्णतया हिन्दू संस्कृति से भिन्न थी । ये एकात्मकवादी धर्म (Monolith Religion) को मानने बाले और साम्प्रदायिक तथा एकात्मकवादी थे । मुसलमानों के बाद में उनके राष्ट्रवादी विचार यह बन गया था कि वे अतीत में आक्रमणकारी और समकालीन समाज में पृथकवादी थे । इस विचारधारा ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों ने मध्यकाल में हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये थे । आज भी हिन्दू संकट के दौर से गुजर रहे हैं और उनकी संख्या घट रही है ।

कुल मिलाकर 19 वीं और 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक देश में निम्न विचारधारा बड़ी प्रभावोत्पादक रही-

1 भारत में आर्यो के आने के बाद इतिहास ने बड़ी महत्वपूर्ण करवट ली । आर्य और दासों के बीच में संघर्ष प्रारम्भ हो गया ।

2 हिन्दू और मुसलमानों में भाषा, धर्म और प्रजाति को लेकर मतभेद उभर आए ।

3 आर्य प्रजाति और हिन्दू जाति को पर्यायवाची समझा जाने लगा । हिन्दू जातियों में ब्राह्मणों और उच्च जातियों को एक ही श्रेणी में रखा जाने लगा ।

रुचिकर बात यह है कि घुर्ये ने जो कुछ लिखा है उसका मूल आधार संस्कृत ग्रंथ रहे हैं। वे वेदों के हिमायती थे । उन्होंने जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सबसे ऊंचा स्थान दिया है। यह सब लिखने के बाद उन्होंने प्रचलित इतिहास के वरण का कभी विरोध नहीं किया । वे परम्परावादी विचारक ही रहे हैं ।

8.4.3 वितरण

घुर्ये की विचारधारा का कोई भी विश्लेषण हो, उसमें तत्कालीन विचारों का समादेश होना अनिवार्य हैं । पिछले पृष्ठों में हमने राष्ट्रवादी संस्कृति (Nationalism Culture)की व्याख्या की है । घुर्ये ने अपने बौद्धिक जीवन में इसके प्रभाव को देखा है । वे विचारों से राष्ट्रीय संस्कृति यानी संस्कृत भाषा, और ब्राह्मण परम्परा के समर्थक थे । इस बीच में समाज विज्ञानों में एक और विचारधारा लंदन से उभर कर आई । घुर्ये के लेखन पर लंदन और वहां के विद्वानों का काफी गहरा प्रभाव था । यही नई विचारधारा विसरण (Diffusion)की थी ।

विसरणवादियों में पेरी (W.J.Perry), इलियट स्मिथ (G.Elliot Smith) होटकार्ट (A.M.Hocart) और रिवर्स (W.H.R.Rivers)उल्लेखनीय मानवशास्त्री रहे हैं । इन विद्वानों ने स्थापित किया कि सभ्यता का उदय केवल एक बार होता है । यह उदय मिस्र में हुआ और तब इसका फैलाव स्थानान्तरण द्वारा दूसरे देशों में हुआ । स्थानान्तरण करने वाले ये प्रवासी स्थानीय लोगों को सभ्य बनाते हैं और इस भांति उन्हें अपने अधीनस्थ कर देते हैं । इसका मतलब यह हुआ कि उच्च प्रजातियां निम्न प्रजातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है ।

घुर्ये की विचारधारा पर विसरणवादियों का बहुत बडा प्रभाव था । दे रिवर्स से अत्यधिक प्रभावित थे । जब उनका प्रवास लंदन (केम्ब्रिज विश्वविद्यालय) में था । वे रिवर्स के निकट सम्पर्क में थे । और जब 1922 में रिवर्स का देहान्त हुआ, तब घुर्ये इससे अत्यन्त दुखी हुए । उनका कहना था कि उनके जीवन की यह बडी दुखद घटना (Biggest Tragedy) थी ।

एक और घुर्ये रिवर्स के प्रसारणवाद से प्रभावित थे वहीं दूसरी और उनके संस्कृत भाषा के ज्ञान और प्राच्य विद्या की पकड़ ने उनकी वैचारिक को मजबूत बनाया । बाद में चलकर अपने जीवन के अंतिम वर्षा में जब रिवर्स ने तुलनात्मक मनोविज्ञान और बधुत्व को अपना विशेष अध्ययन क्षेत्र बनाया, तब इसका प्रभाव घुर्ये पर भी पडा । उन्होंने कहा कि समाजशास्त्रियों को भारतीय समाज का अध्ययन धार्मिक संस्कृत ग्रंथों के आधार पर करना चाहिये ।

जब घुर्ये की कृतियों में हम उनकी विचारधारा और सिद्धान्तों को देखते हैं तब हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वे यूरोप में जो बौद्धिक वातावरण, पुनर्जागरण के बाद पैदा हुआ था

उससे प्रभावित थे । वे भारतीय सभ्यता को जहां व्यापक संदर्भ में देखना चाहते थे, वहीं उन्होंने संस्कृत ग्रंथों को अपना विश्वसनीय संदर्भ समझा ।

8.4.4 घुर्ये का भारतीय सभ्यता का समाजशास्त्र

घुर्ये ने जो कुछ लिखा है, उसका केन्द्र भारतीय सभ्यता का है । इस सभ्यता ने ही भारतीय समाज का गठन किया है । इस सभ्यता को उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के माध्यम से समझा है । उनका कहना है कि भारतीय सभ्यता की जो संस्कृति है वह बाहरी प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होती रही है । मृत्यु से जुडे हुए कर्मकाण्डों का विवरण देते हुए वे कहते हैं कि कर्मकाण्ड शायद मिस्र की सभ्यता से आये हैं । श्रीनिवास ने एक स्थान पर कहा है कि 1040 के दशक तक घुर्ये विसरणवाद के प्रभाव में थे । इस विसरणवाद को स्पष्ट रूप से उनकी पुस्तक फैमिली एण्ड किन इन इंडो-यूरोपियन कल्चर (Family and kin in Indo - European Culture,1955) में देखा जा सकता है । यहां वे परिवार को बधुत्व की शब्दावली में देखने का प्रयास करते हैं । में सदस्यों के व्यवहार के तथ्यों को वे इंडों-आर्यन, यूनान और लेटिन संस्कृतियों से लते हैं ।

घुर्ये की रूचि सभ्यता के इतिहास में कई जगह देखने को मिलती है । अपनी पहली पुस्तक 'कल्चर एण्ड सोसायटी' (Culture and Society,1947) में वे ब्रिटेन का संदर्भ देते हुए कहते हैं कि 1800-1930 की अवधि में इस देश ने राष्ट्र-राज्य के निर्माण के लिए कई प्रयास किये । यहां वे संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये दोनों एक ही प्रघटना के अंग हैं । उन्हें पृथक नहीं समझा जाना चाहिये । उनके शब्दों में, संस्कृति सभ्यता है और व्यक्ति इसे अपने मस्तिष्क और व्यवहार में ढाल लेता है । परम्परा से मानवशास्त्री संस्कृति को निरपेक्ष मानते हैं - संस्कृति न बडी होती है न छोटी । यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति अमेरिका की संस्कृति से बडी है । संस्कृति तो संस्कृति है । प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति को बड़ा समझता है ।

घुर्ये मानवशास्त्र की परम्परा से हटकर संस्कृति को छोटे और बडे अर्थ में लेते हैं । ऐसा ही कुछ अर्नोल्ड टोयन्बी (Arnold Toynbee) ने इतिहास लेखन में किया था । घुर्ये ने अपनी पुस्तक "आक्सीडेन्टल सिविलाइजेशन"(Occidental Civilization) में भी सभ्यता को परिभाषित किया है । वे कहते हैं कि सभ्यता एक सामूहिक प्रयास (Collective Endeavour)है । इस आधार पर वे पाश्चात्य सभ्यता का विवरण 1300 से 1925 का काल में करते हैं । उनकी यह पुस्तक Occidental Civilization,1948 में प्रकाशित हुई थी ।

पाश्चात्य सभ्यता का विवरण करने के बाद घुर्ये टोयन्बी की आलोचना करते हैं । वे सभ्यता और राजधानी के शहरों की तुलना करके बताते हैं कि किस भांति ये बाहर अपने अवसान को प्राप्त हुए । यह तुलना उन्होंने चीन, मिस्र और भारत के शहरों की है ।

8.5 भारतीय इतिहास में प्रजाति का सिद्धान्त

देखा जाये तो घुर्ये सभ्यताओं के अध्ययन के विशेषज्ञ थे ।उनकी रूचि सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में थी । लेकिन ऐसा करने में उनका केन्द्र बिन्दु भारतीय सभ्यता थी ।

उन्होंने अपनी इस थीम को उनकी लोकप्रिय पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया (Caste and Race in India, 1932) मे प्रस्तुत किया है । उन्होंने प्राच्यविदों (Orientatists)द्वारा प्रस्तुत मानवजाति अध्ययनों का हवाला देते हुए कहा कि भारत में इंडो-आर्यन प्रजाति 2500 ईसा पूर्व में आई । इस प्रजाति का धर्म वैदिकधर्म था । ये मोटे रूप में ब्राह्मण थे । इन्होंने गंगा के मैदानों में अपनी संस्कृति को विकसित किया । इसी सभ्यता में जाति-अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

जाति अवस्था अर्न्तवैवाहिक (Endogamers)थी । इसका अर्थ था कि जाति का कोई भी सदस्य जाति से बाहर विवाह नहीं करेगा । विवाह के इस नियम के कारण यानी जाति-प्रजाति के रक्त की शुद्धता बनी रहेगी । ब्राह्मणों ने इस नियम के अन्तर्गत अपने आपको स्थानिक जनसंख्या से पृथक रखा । घुर्ये कहते हैं कि ये आर्य भारत में उत्तर-पश्चिम से आये । बाद में चलकर स्थानीय लोगों में स्तर हो गये और सबसे नीचा स्तर दासों का बन गया । यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कुछ इस तरह विकसित हुई कि ब्राह्मणों ने दासों के रीति-रिवाजों, विश्वासों को नहीं अपनाया लेकिन ब्राह्मणों के रीति-रिवाज समाज के निम्न स्तरों तक अवश्य आ गये ।

घुर्ये ने "कास्ट एण्ड रेस" (Caste and Race)पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रजाति की विवेचना विस्तारपूर्वक की है । इस समय रिजले की पुस्तक जो प्रजाति पर थी, आ गई थी । रिजले ने जाति के साथ प्रजाति मसले को उठाया था । वास्तव में उनका विमर्श से जाति का प्रजाति था । देखा जाये तो 20 वीं शताब्दी में भारत में जो मानवजाति अध्ययनों की बाद आई, उसका केन्द्र मानवशास्त्र में प्रजातीय विचार थे । अब मानवशास्त्री जातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों और भाषा के आधार पर करने लगे । शारीरिक लक्षणों में रक्त समूह, खोपड़ी का घनत्व, नाक की लम्बाई-चौड़ाई, आँखों की बनावट, त्वचा का रंग, कद आदि सम्मिलित किये जाने लगे । मानव विज्ञान के विद्वानों ने सम्पूर्ण जातियों को प्रजातियों में बांट दिया । रिजले भारतीय मानवजाति दिमाग के निदेशक थे और उन्होंने पहली बार जातियों को प्रजातीय संदर्भ में देखा ।

घुर्ये ने रिजले को अस्वीकार किया । उन्होंने मानवजाति के अध्ययन के आँकड़ो को फिर से देखा और कहा कि जातियों का स्तरीकरण में जो दर्जा है, वह प्रजाति के दर्ज से सही नहीं बैठता । ब्राह्मण के शारीरिक लक्षण कई अन्य जातियों के समान हैं । घुर्ये ने प्रजातीय वर्गीकरण के लिये नाक की बनावट का जो आधार रिजले ने बनाया था, उसे नकार दिया । यह सब होकर भी घुर्ये का निष्कर्ष स्पष्ट नहीं कहा जा सकता वे प्रजाति, भाषा और संस्कृति के अनार को स्पष्ट नहीं कर पाये ।

घुर्ये की विचारधारा पर कई तरह की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का प्रभाव देखने को मिलता है । वे विसरणवादी थे और इस अवस्था में रिवर्स उनके मार्गदर्शक थे । जिस तरह की बौद्धिक अवस्था 20 वीं शताब्दी की थी, उसी के अनुसार घुर्ये सभ्यताओं को समझाना चाहते थे । भारतीय सभ्यता को उन्होंने जाति और प्रजाति के संदर्भ में देखने का प्रयास किया । कुल मिलाकर दे दुनिया को तो देखते थे, (मिस्र और चीन को) पर उनकी आँखें भारत यानी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पर गड़ी थी ।

8.6 भारतीय सांस्कृतिक इतिहास

घुर्ये ने भारतीय संस्कृति के इतिहास की पुनर्रचना की है । उनकी दृष्टि में संस्कृति और सभ्यता एक जटिल संरचना है जिसमें विचार, मूल्य, विश्वास, सामाजिक प्रथाएं सम्मिलित हैं । वे कहते हैं कि जो भी हमारी सभ्यता और संस्कृति है, इसका मूल वैदिक युग है और यह संस्कृति वस्तुत: ब्राह्मण संस्कृति है । उन्होंने अपनी इस विचारधारा को कई पुस्तकों में रखा है । इन पुस्तकों में मुख्य हैं - 'फेमिली एण्ड किन इन इंडो-यूरोपियन कल्चर' (Family and kin in Indo-European Culture, 1955) ''टू ब्राह्मनीकल इन्स्टीट्यूशन्स - गौत्र और चारन (two Brahmanical Institution Gotra and Charana, 1972) वैदिक इंडिया(Vedic India, 1979) । इन पुस्तकों के अतिरिक्त घुर्ये की कई और पुस्तकें भी हैं । इस सब में उन्होंने भारतीय संस्कृति के निम्न पहलुओं पर विचार किया है -

1 परम्परागत हिन्दू या ब्राह्मण जातियों का ज्ञान

2 धार्मिक प्रथाएं

3 सामाजिक संगठन और

4 कानून

उपरोक्त सांस्कृतिक पहलुओं का विवेचन धुर्ये ने संस्कृत ग्रंथों के आधार पर किया है । इसी सिलसिले में वे जाति, वेशभूषा, धर्म और कामुकता का विवेचन करते है । कहीं-कहीं वे इस तथ्य को भी बताते हैं कि वैदिककाल की यह संस्कृति किस प्रकार अपनी निरन्तरता आज भी बनाये हुए है ।

गोत्र वस्तुत: वहिर्विवाह है । घुर्ये गोत्र के उत्तम, इतिहास और विस्तार को संस्कृत ग्रंथों के आधार पर खोजते हैं और स्थापित करते हैं कि आज इस प्रथा का जो चलन है वह आर्यो के कारण है । यह प्रथा वैदिक काल से चली आ रही है । गोत्र की तरह घुर्ये अन्य कई प्रथाओं और रीति-रिवाजों का वर्णन वैदिकसंस्कृति से खोजते हैं । उनका परिहार के बारे में कहना है कि भारत में जो संयुक्त परिवार प्रथा है, उसका उद्‌गम इंडो-आर्यन संस्कृति से ही है । गोत्र व्यवस्था में पूर्वज पूजा का जो रिवाज है, उन्होंने उसे स्मृतियों में पाया है । अपने सम्पूर्ण विवरण में घुर्ये कहते हैं कि इन प्रथाओं को धार्मिक संस्कृत ग्रंथों के संदर्भ में समझना चाहिये । इससे हमें ये प्रथाएं अपने मूल में देखने को मिल जाएंगी । धुर्ये के अध्ययन का नतीजा यह है कि भारतीय समाज का मार्गदर्शक सिद्धान्त धर्म है । और यह धर्म ब्राह्मण धर्म है । इस धर्म के आधार पर ही भारतीय समाज संगठित है ।

अपनी पुस्तक वैदिक इंडिया में धुर्ये भारतीय सम के सामाजिक-सांस्कृतिक लक्षणों का विवरण इंडों-आर्यन लोगों के संदर्भ में करते है । इस तरह उनकी दृष्टि में आर्य-संस्कृति-चाहे वह भारत की हो या बाहर की, कई समानताएं है । संस्कृति और भाषा की समानताएं आर्यो को एक मानवजातीय समूह बना देती है|

घुर्ये ने भारतीय संस्कृति के इतिहास को अपनी कई पुस्तकों में रखा हैं उनका निष्कर्ष है कि भारतीय समाज आज कुछ भी है, उसकी जड़ वैदिक साहित्य और संस्कृत ग्रंथों में निहित

है । वे यह भी बताते है इस समाज में धर्म, भाषा, परिवार जाति, रीति-रिवाज सभी का उद्गम संस्कृत ग्रंथों, ब्राह्मणों और हिन्दू नियमों से जुड़ा हुआ है ।"

यह निश्चित है कि घुर्ये द्वारा रचित पुस्तक भंडार बहुत विशाल है । इसमें भारतीय समाज के लिये बहुत कुछ है । लेकिन इन पुस्तकों में कोई कमी नहीं हो, ऐसा नहीं है । कुछ कमियाँ तो खटकने वाली हैं । उन्होंने संस्कृत साहित्य से प्रभावित पुस्तकों में यह कहीं नहीं बताया कि उस युग के लोगों की आर्थिक अवस्था कैसी थी । लोगों का खान-पान क्या था । आम आदमी और गरीब गुरबे किस तरह जीवन बिताते थे । और आगे राजा के प्रजा के साथ संबंध कैसे थे । ऐसा लगता है कि संस्कृत भाषा प्रधान भारतीय समाज में ब्राह्मण और उनका धर्म ही सम्पूर्ण जीवन का मुहावरा था । कोई भी धर्म निरपेक्ष राष्ट्र-राज्य घुर्ये को किस भांति एक विचारक के रूप में स्वीकार करेगा । और ऐसा समाजशास्त्र जिसे घुर्ये ने पैदा किया है, लोगों के गले कैसे उतरेगा। ये कुछ कमियां है, जिन लोगों पर हम आलोचनात्मक रूप से अध्याय के अन्त में टिप्पणी करेंगे ।

8.7 सभ्यताओं की एकता

पिछले पृष्ठों में हमने घुर्ये के मूल्यांकन में कहा है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति को धर्म और धार्मिक चेतना की बुनियादी पर निर्मित समाज कहा है । यह समाज में मूल ब्राह्मणवादी समाज है । भारत की सभ्यता में जो एकता है, इसका आधार हिन्दू धर्म ब्राह्मणों का धर्म, उनके विचार और उनके मूल्य है । एस.के. प्रमानिक (S.K.Pramanik,Sociology of G.S.Ghurye, 1994) और वेणु गोपाल ने घुर्ये के योगदान का निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि वे सभी दृष्टियों से मानकीय हिन्दूवादी (Normative Hinduism) विचारक थे । उन्होंने यह स्थापित किया कि भारत में ब्राह्मण इंडों-आर्यन समाज के अग्रणी नेता थे । उन्होंने ही आयों का पथ प्रदर्शन किया, और वे ही उनके विधायक थे । वेणु गोपाल तो कहते हैं कि घुर्ये के अनुसार भारत में पिछले वर्षो में जो भी आत्मसात्करण हुआ वह हिन्दूवादीकरण ही थे । गैर-हिन्दू समूहों को हिन्दू बनाना ही इस विशाल प्रक्रिया का प्रयोजन था । इसी संदर्भ में वे कहते हैं कि भारत के आदिवासी कोई पृथक समूह न होकर हिन्दू ही है ।

अगर हम हिन्दूवाद का भारतीय समाज का एक स्टेन्डर्ड मानकर चलें तो दूसरे धर्मावलम्बी पथभ्रष्ट समझे जायेंगे । सदियों तक इस देश में हिन्दूकरण चल रहा था । यह तो मुसलमानों के आक्रमण थे जिसने हिन्दू प्रभुत्व पर रोक लगा दी । घुर्ये कहते हैं कि मुसलमान हिन्दुओं से पृथक है । ऐसा कहते हुए घुर्ये मूल जाते हैं कि हिन्दू मुसलमान अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में कंधे से कंधा मिलाकर काम करते हैं । घुर्ये भारतीय धर्म निरपेक्षता की आलोचना भी करते हैं । घुर्ये का सिद्धान्त कुछ और है । वे कहते हैं कि आज जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह वैदिक आर्यो और आर्यो के आने से पहले की संस्कृति का मेलजोल है ।

घुर्ये ने अपनी पुस्तक सोश्यल टेन्शंन इन इंडिया (Social Tensions in India) में हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धो की चर्चा को उठाया है । वे कहते है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में मुसलमानों की संस्कृति के कुछ तत्व मिलते हैं । यह केवल समन्वयवाद है लेकिन किसी भी अर्थ में इसे विलयन नहीं कहा जा सकता। न मुसलमान हिन्दू बने है और न हिन्दू मुसलमान ।

घुर्ये आग्रहपूर्वक कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों पृथक समुदाय हैं । यह अवश्य है कि धार्मिक क्षेत्र के बाहर इन समूहों में कुछ समानताएं है!

अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस (Caste ajd Rase, 1969) में घुर्ये अपने चिर-परिचित अंदाज में कहते हैं कि इस्लाम का हिन्दू समुदाय पर बहुत बडा प्रभाव पडा था । वे कहते हैं -

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में - उनके धार्मिक व्यवहार में, इतना अन्तर था कि वे एक-दूसरे को परस्पर विरोधी और दुश्मन समझते थे । ये दोनों संस्कृतियां इतनी भिन्न हैं कि इनमें समन्वय नहीं हो सकता । घुर्ये के विचारहिन्दू और मुसलमानों के बारे में उनकी कृतियों में कहीं भी देखें, बहुत स्पष्ट हैं । वे यह मानकर चलते हैं कि दोनों ही धर्म बुनियादी रूप से परस्पर विरोधी हैं । अपने ऐसे विचारों के लिये घुर्ये अकेले नहीं हैं । प्राच्यविद् ब्रिटिश प्राच्यविद् भी इसी धारणा के थे ।

8.8 भारतीय समाज अनिवार्य रूप से एक हिन्दू समाज है

घुर्ये ने भारतीय समाज पर बहुत कुछ लिखा है । यदि ईमानदारी से इसकी व्याख्या की जाये तो कहना होगा कि वे इस समाज को हर तरह से एक हिन्दू समाज मानते हैं । हम इसका प्रमाण प्रस्तुत करेंगे ।

देवदास पिल्लई (S.Devdas Pillai) ने अपनी हाल में प्रकाशित पुस्तक (Indian Sociology Through Ghurye, 1997) में घुर्ये और उनके पी.एच.डी. करने वाले विद्यार्थियों के समाजशास्त्रीय लेखन पर एक शब्दकोश प्रकाशित किया है । स्वयं पिल्लई भी घुर्ये के अनुसंधान विद्यार्थी रहे हैं यह शब्दकोश एक प्रकार से बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के अनुसंधान का लेखा-जोखा है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें गैर-हिन्दू समूहों पर नहीं के बराबर ध्यान दिया गया है । एक तरह से घुर्ये के समाजशास्त्र मे इन समूहों का भारतीय समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं है । इस शब्दकोश में मुसलमान, ईसाई और समूहों का कोई इंद्राज ही नहीं है । केवल एक स्थान पर जैन समुदाय को स्थान दिया गया है ।

घुर्ये के मार्गदर्शन में जो 80 अनुसंधान हुए है, उनमें एक ईसाई समुदाय पर, एक उत्तर प्रदेश के मुसलमानों पर और केवल एक हिन्दू-मुसलमान सम्बन्धों पर । अछूतों और आदिवासियों पर होने वाले अनुसंधानों की संख्या थोडी अधिक है । घुर्ये अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते थे कि वे किसी भी क्षेत्र और समुदाय का अध्ययन करें । इस छूट के होते हुए भी, घुर्ये के इस शब्दकोश में हिन्दू जातियों का ही वर्णन अधिक है ।

करोल अपाध्याय (Carol Upadhyay,Sociological Bulletin,51(1),2002) ने अपने हाल में प्रकाशित एक अनुसंधान में कहा है कि घुर्ये का सम्पूर्ण कृतित्व हिन्दू राष्ट्रवादी समाजशास्त्र (Hindu Nationalist Sociology) था । यह विचारधारा मूल में प्राच्यविद् (Orientalist) विद्वानो की रही है । घुर्ये की समाजशास्त्र में रुचि धर्म के क्षेत्र में थी । इस संदर्भ में घुर्ये का मानना था कि आज भारतीय समाज जो कुछ भी है वह भारतीय सभ्यता की उपज है । यह सभ्यता स्पष्ट रूप से वैदिक सभ्यता है । जहाँ घुर्ये हिन्दू समाज की व्याख्या करते हैं वहीं वे धर्म के अतिरिक्त जाति बन्धुत्व, वहिर्विवाह और अन्तर्विवाह का उल्लेख भी

विस्तारपूर्वक करते हैं । घुर्ये का प्रभाव उनके विद्यार्थियों पर भी पर्याप्त रूप से देखने को मिलता है । उदाहरण के लिये जब इरावती कर्वे (Iravati Karve) और के.एम. कापड़िया परिवार की व्याख्या करते हैं या जब आई.पी.देसाई (I.P.Desai) महुआ (सौराष्ट्र) के परिवार का विश्लेषण करते हैं तब वे स्पष्ट रूप से घुर्ये के विचारों को मुखर करते हैं । कुल मिलाकर परिवार पर लिखने वाले घुर्ये के इन विद्यार्थियों ने यही कहा है कि परिवार भारतीय सभ्यता का एक अंग है । इसे भारत से पृथक करके नहीं देखा जा सकता ।

8.9 घुर्ये - एक राष्ट्रवादी

आजकल की राजनीति में एक मुहावरा बहुत काम में लिया जाता है । वे लोग जो देश को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं, प्राय: सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की चर्चा करते हैं कि इस देश की संस्कृतियाँ अनेक नहीं, एक होनी चाहिये । और यह एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति या हिन्दू धर्म है । घुर्ये अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया में कहते हैं कि भारत में प्रजाति, भाषा और संस्कृति का ऐसा मेलजोल है जो यहाँ की सभ्यता को बताता है । घुर्ये के ये विचार सोश्यल टेन्शन्स इन इंडिया वैदिक इंडिया और बनिंग केस्ट्रन ऑफ नॉर्थ-ईस्ट इंडिया में बहुत स्पष्ट हैं ।

यह सही है कि घुर्ये भारत को एक एकीकृत देश बनाना चाहते थे । पर उनकी एकीकरण की विचारधारा सामान्य विचारधारा से जुदा थी । व कहते हैं कि भारत के एकीकरण के लिये निरपेक्षवादियों ने जो सिद्धान्त रखा है, घुर्ये को स्वीकार नहीं है । इस नुस्खे के कारण देश में अलगाववादियों की शक्ति बढ़ गई है । कई तरह की विघटनात्मक गतिविधियाँ बढ़ रही हैं । घुर्ये का मत इस सम्बन्ध में कई तरह के दंगे हो रहे हैं, पृथक राज्य की मांग बराबर उठती जा रही है और इस तरह था -

1 सरकार की या नेहरू द्वारा स्वीकृत धर्म निरपेक्ष नीति में घुर्ये का विश्वास नहीं था ।
2 इस देश में एकाधिक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता ।
3 राष्ट्रीय एकीकरण तभी संभव है जब देश के नागरिक समान मूल्यों को स्वीकार करें ।
4 घुर्ये ने कहा कि राष्ट्रीय एकीकरण तभी संभव है जब देश में सामाजिक और राजनीतिक एकीकरण हो जाये ।

एक राष्ट्रवादी की तरह घुर्ये स्पष्ट रूप में कहते हैं कि इस देश में विभाजन का बहुत बडा कारण मुसलमान हैं । यह इसलिये कि मुसलमान उनके भारत में आने की बड़ी लम्बी अवधि के बाद भी हिन्दू संस्कृति में अपना आत्मसात् नहीं कर पाये । आज भी इन दोनों समुदायों के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं है । पिल्लई कहते हैं कि सौहार्द का अभाव इस कारण है कि उनके धार्मिक व्यवहार में असंगति है ।

घुर्ये राष्ट्रीय एकीकरण के समर्थक थे । उनकी दृष्टि में भारत में यह एकीकरण निम्न विधि द्वारा लाया जा सकता है -

1 घुर्ये मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण का पहला चरण यह होना चाहिये कि हमें विभिन्न धार्मिक समूहों और पिछडे समूहों को हिन्दू समाज की मुख्यधारा में ले लेना चाहिये । इस विचारधारा को उन्होंने अपने एक लेख में रखा "(Untouchable Classes

and their Assimilation in Hindu Society)" था । उनका यह भी सुझाव था कि यदि अछूतों को हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लिया जाये तो अस्पृश्यता की समस्या का निदान हो जायेगा ।

2 घुर्ये समकालीन भारत में जातियों का जो नया अवतार दिखाई देता है, उसके विरूद्ध थे । इस संदर्भ में वे रिजले की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उन्होंने जातियों का नामांकन जनगणना में करवा कर बडा गलत काम किया । राष्ट्रीय एकीकरण में जातियाँ विभाजक है एकीकरण के लिये जातियों पर पाबन्दी लगाना आवश्यक है ।

3 घुर्ये की यह मजबूत धारणा थी कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिये सांस्कृतिक सजातीयता (Cultural Homogeneity) का होना अनिवार्य है । इसी कारण जाति सभा, आरक्षण और जाति आधारित आन्दोलनों के वे खिलाफ थे । ये सब एकीकरण की प्रक्रिया में अवधान हैं।

8.10 घुर्ये का भारत विद्या

घुर्ये ने अपने जीवनकाल में बहुत लिखा है । उनकी लिखावट बहुत व्यापक है । उन्होंने समाजशास्त्र को एक दिशा दी है । उनके अनुभव विविध रहे हैं । उनकी शिक्षा बम्बई और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हुई है । समाजशास्त्र का प्रारम्भ एशिया में सबसे पहले भारत में हुआ और इसके बाद जापान में । बम्बई विश्वविद्यालय में पेट्रिक गैड्स के घुर्ये विभागाध्यक्ष रहे । उनके विद्यार्थियों में कई ख्याति प्राप्त समाजशास्त्री सम्मिलित हैं । इनमें कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं - एम.एन. श्रीनिवास, के.एम. कापडिया, ए.आर. देसाई, आई.पी.देसाई, वाई. वी. दायले, श्रीमती जालू और के.सी. पंचनदिकर, एन.एस.ए. राव विलास, सांगवे धीरेन्द्र नारायण गोपाल सिंह नेपाली, एम.जी. कुलकर्णी और ए. बोपेगामे ।

यद्यपि घुर्ये के विद्यार्थी अपनी विचारधारा के लिये स्वतंत्र थे, किसी पर वे कुछ थोपते नहीं थे । फिर भी यह समझने की बात है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन विद्यार्थियो पर घुर्ये की विचारधारा का प्रभाव था । ए.आर. देसाई जिन्हें मार्क्सवादी विचारक माना जाता है, शायद घुर्ये विचारधारा के अपवाद थे । उनके अधिकांश विद्यार्थी उन्हीं की थीम पर काम कर चुके हैं, जो घुर्ये का विषय क्षेत्र था ।

घुर्ये की कृतियों और उनके अगणित विद्यार्थियों के अनुसंधान कार्यो के आधार पर घुर्ये की विचारधारा की पहचान करना बहुत कठिन है । इस कठिनाई के होते हुए भी उनकी विचारधारा पर निम्न पृष्ठों में हम संक्षेप में विवरण देंगे ।

8.11 वितरण विचारधारा

घुर्ये के प्रारम्भिक जीवन पर ब्रिटेन का बहुत बड़ा प्रभाव था । वहीं से थे उद्विकासवादी और प्रसारवादी हो गये थे । उद्विकासीय सिद्धान्त का कहना था कि प्रत्येक सभ्यता अपने निश्चित मार्ग से आगे बढ़ती है । इसका मतलब हुआ कि किसी भी सभ्यता में स्वतंत्र रूप से आविष्कार करने की क्षमता होती है । मनुष्य जाति में जो विभिन्नता देखने को मिलती है - कोई काला है, कोई गोरा कोई लम्बा और कोई ठिगना - यह प्रजाति के कारण है । इसी विचारधारा ने उन्हें जाति और प्रजाति पर लिखने के लिये प्रेरित किया । उन्होंने इस प्रसारवादी

सिद्धान्त को आगे बढ़ाया कि उच्च या बेहतर लोग निम्न लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते है ।

घुर्ये की विचारधारा प्रसारवादी सिद्धान्त के आधार पर छोटे और बड़े के अन्तर को स्वीकार करती है । आर्य श्रेष्ठ थे, महान थे और दास निम्न थे, यह उनकी प्रारम्भिक विचारधारा थी ।

भारतीय सभ्यता, विश्व सभ्यता की एक कड़ी है

घुर्ये की विचारधारा का केन्द्र भारतीय सभ्यता का पुरातन और सम्पूर्ण (Antiquity and Integrity) होना है । वे अपने मूल में पुरातनवादी और सभ्यतावादी थे । इसी कारण वे प्राचीन और संस्कृत ग्रंथों को अपने लेखन का आधार मानते हैं । उनका कहना हैं कि संसार में जो भी सभ्यताएं आई उनमें भारतीय सभ्यता जीवित है । घुर्ये ने भारतीय सभ्यता के विवरण में विसरणवाद को अपना आधार बनाया और कहा कि प्रत्येक सभ्यता के इतिहास को समझने की कोशिश करनी चाहिये ।

जहां घुर्ये के लेखनकाल में भारत में गांवों के अध्ययन की बाढ़ आ गई थी । दुबे की इंडियन विलेज प्रकाशित हो गई थी, श्रीनिवास द्वारा संपादित इंडियास विलेजेज बाहर आ गई थी, उसमें घुर्ये भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर खोज कर रहे थे । वे विशाल (Macro) के अध्ययन में विश्वास रखते थे । गांवों के अध्ययन की बाढ़ में, बाद में चलकर घुर्ये ने भी लोनीकण्ड गांव का अध्ययन किया । लेकिन मूल में उनकी विचारधारा सभ्यतावादी थी । वे पुरातनवादी थे और भारतीय एकता की समग्रता की बात करते थे । सभ्यता की यह चर्चा वे कलर एण्ड सोसायटी तथा ओक्सीडेन्टल सिविलाइजेशन में करते हैं ।

जाति व्यवस्था में बाह्मण सर्वोपरि हैं

यह कहना नाइंसाफी होगी कि घुर्ये ब्राह्मण जाति के थे, उन्होंने ब्राह्मणों को जाति व्यवस्था में लंबा स्थान दिया है । वास्तविकता यह है कि घुर्ये का सम्पूर्ण समाजशास्त्र का ज्ञान संस्कृत ग्रंथों पर निर्भर है और इन ग्रंथों ने जो कुछ लिखा है, उस पर घुर्ये ने अपना निष्कर्ष निकाला है । वे कहते हैं कि इस देश में हिन्दू जीवन के सभी व्यवहार, ब्राह्मण द्वारा ही संपादित किये जाते हैं । जन्म से लेकर मृत्यु तक, व्यवसाय से लेकर निवास तक, भोजन से लेकर देश-भूषा तक सभी ब्राह्मण द्वारा नियमित किये जाते हैं । इस दृष्टि से कार्यक्रम के अनुसार ब्राह्मण सर्वोपरि है । दूसरा ब्राह्मण आर्य है, और इसलिये भी वे श्रेष्ठ है । इन्हीं कुछ कारणों से घुर्ये की विचारधारा ब्राह्मणवादी है । ब्राह्मण-ब्राह्मण के लिये हो, ऐसा कुछ उनमें नहीं था ।

8.12 धर्मनिरपेक्षता का अभाव

घुर्ये धर्म निरपेक्षतावादी नहीं थे । उनके विचारों में हिन्दू धर्म महान था । अगर देश में एकीकरण लाना है तो यह हिन्दू संस्कृति का एकीकरण ही होगा । देश में कई समूह हैं - हिन्दू ईसाई, पारसी' सिख आदि । एकीकरण का घुर्ये की दृष्टि से एक उपाय है कि ये सब समूह हिन्दू धर्म की मुख्यधारा में सम्मिलित हो जायें ।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता

घुर्ये राष्ट्रवादी थे । वे इस देश को राष्ट्र-राज्य बनाना चाहते थे । लेकिन उनका राष्ट्रवाद कुछ अलग तरह का था । वे चाहते थे कि हिन्दू जैन, बौद्ध और सिख सभी संस्कृतियां एकजुट हो जायें, और इस तरह की सांस्कृतिक एकता देश को राष्ट्र-राज्य का दर्जा दे देगी । घुर्ये ने जिस राष्ट्रवादी संस्कृति का विवरण दिया है, उसे भारत के कुछ राजनीतिक दल भी प्रसारित कर रहे हैं । इन दलों के लिये राजनीतिक एकता की अपेक्षा सांस्कृतिक एकता अधिक महत्वपूर्ण है और स्पष्ट है, यह सांस्कृतिक एकल वस्तुत: हिन्दू जातियों की एकता होगी ।

मुसलमान हाशिये पर

घुर्ये की विचारधारा ब्राह्मण या आर्य की संस्कृति पर केन्द्रित है । वे मुसलमानों को हिन्दुओं से एकदम पृथक मानते हैं । उनका धर्म अलग है, तिथि-त्यौहार जुदा हैं और सोच समझ भी भिन्न है । राष्ट्रीय एकता में वे मुसलमानों के लिये एक ही विकल्प छोड़ते है और वह यह है कि थे हिन्दुओं में अपना विलय कर लेवें ।

घुर्ये ने लिखा बहुत है लेकिन उन दिनों में देश में जो उखाड-पछाड़ हुई, इससे उनकी विचारधारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । बंगाल का बंटवारा ब्रिटिश हुकुमत ने कर दिया सम्पूर्ण देश को भागों में बांटा गया हिन्दुस्तान ओर पाकिस्तान । हजारों लोग मारे गये । रेल गाडियां खून से नहा ली लेकिन घुर्ये की विचारधारा इधर-उधर नहीं हुई ।

8.13 संस्कृत

घुर्ये की दृष्टि में संस्कृत भाषा अनन्त ज्ञान की भंडार थी । दुनिया का सम्पूर्ण ज्ञान संस्कृत में निहित था । रिजले तथा हटन ने दृढ़तापूर्वक कहा था कि उपनिवेशवादियो का भारतीय समाज के बारे में जो भी ज्ञान था, वह सब ब्राह्मणों द्वारा दिया गया था । यह भी सत्य है कि ब्रिटिश मानवशास्त्रियों ने भारत के बारे में जो कुछ लिखा है, सब ब्राह्मणों द्वारा दिया गया है । ओ. मैले ने जब बंगाल के संयुक्त परिवार के बारे में लिखा, तब उन्हें यह जानकारी ब्राह्मणों से मिली थी ।

घुर्ये ने जिस समाजशास्त्रीस ज्ञान का सृजन किया है, उसका मूल स्त्रोत संस्कृत ग्रंथ है और इन संस्कृत ग्रंथों को ब्राह्मणों ने ही लिखा था । अंत में धुये का समाजशास्त्र वैज्ञानिक समाजशास्त्र न होकर ब्राह्मणों या संस्कृत भाषा का समाजशास्त्र है । ऐसी ही कुछ विचारधारा घुर्ये की थी । स्पष्ट है, उनकी शिक्षा संस्कृत भाषा में थी, समाजशास्त्र तक उनके लिये हाशिये पर था । इसमें तो इन्होंने लंदन में प्रशिक्षण लिया था । उनके पास समाजशास्त्र में कोई स्नातकोत्तर डिग्री नहीं थी ।

8.14 अविशिष्ट व्यक्तित्व के धनी

घुर्ये अपने विचारों से फक्कड़ थे । वे किसी की परवाह नहीं करते थे, एकदम ठेठ । सभा-सोसायटी में कोई उनसे सान्निध्य नहीं रखना चाहता था । एक बार घुर्ये की किसी के साथ ठन जाती थी, तब हमेशा के लिये ठन जाती थी । वेरियर एल्विन ने जब दि लोस ऑफ नर्व पुस्तक लिखी तय उन्होंने थीसिस रखा कि यदि आदिवासियों का हिन्दू जातियों में समादेश हो जाये तो आदिवासियों की पहचान संकट में आ जायेगी । घुर्ये को वेरियर का यह कथन रास

नहीं आया । उन्होंने जबाव में शिड्यूल्ड ट्राइब पुस्तक लिखी । लेकिन जब वेरियर ने अपना थीसिस बदलकर ए फिलोसफी फोर नीफा पुस्तक लिखी और जब इससे प्रभावित होकर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने पंचशील और सरकार की आदिवासी नीति निर्धारित की तब घुर्ये एकदम मौन हो गये । वे अड़े रहे कि आदिवासियों का विलय हिन्दू जातियों में ही होना चाहिये। इसी कारण घुर्ये को आविशिष्ट व्यक्तित्व का धनी कहते हैं ।

8.15 घुर्ये की आलोचना

घुर्ये समाजशास्त्र के विचारक माने जाते हैं । उनके कई विद्यार्थियों ने जो सम्पूर्ण देश में फैले हुए है यही स्थापित किया है कि घुर्ये ने उपनिवेशकाल में इस बात को दृढ़ता के साथ रखा कि इस देश की सभ्यता महान है । इस देश की एकता को वास्तविक अतीत की संस्कृति में देखना चाहिये और यह अतीत हिन्दुओं और उनकी भाषा संस्कृत में है । घुर्ये अव्वल दर्ज के राष्ट्रवादी रहे हैं और इस बात की वकालत करते हैं ।वे एक राष्ट्र बनाने के लिये हमे वैदिक संस्कृति को पुन: स्थापित करना चाहिये । इस विचारधारा के अनुसार देश के गैर-हिन्दु समूह बेमतलब है । उनका अस्तित्व हाशिये पर है ।

अगर हम थोडी उदारता से देखें तो कहना पड़ेगा कि उपनिवेशकाल में जिस तरह की विचारधारा या जैसे ज्ञान का निर्माण हों रहा था, इसमें भारतीय सभ्यता की महानता को बताना ही हमारे हित में था । हम अंग्रेजों को यही बताना चाहते थे कि हमारा संस्कृत साहित्य महान है, हमारा धर्म उच्च है, और हमारी धरोहर हमारा धर्म है । उस समय जब घुर्ये था, वास्तव में वही हमारी पुरातनवादी विचारधारा थी । उपनिवेशकाल में पुरातनवादी ही हमारा राष्ट्रीय उपागम था और घुर्ये ने इसी पुरातनवाद को पुनर्जीवन दिया है । इस दृष्टि से वे समाजशास्त्र के जनक थे, विचारक थे ।

लेकिन हाल में जो समाजशास्त्रीय साहित्य और विचारधारा उभर कर आ रही है, वह घुर्ये की कडी आलोचना करती है । यदि हम आधुनिक और उत्तर-आधुनिक समाजशास्त्र की धारा को देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि यह साहित्य गरीब-गरबों, पिछडों और वंचितों के लिये है। अब इस साहित्य में लघुवृतान्तों का प्राबल्य है । विद्यार्थी पर तीन भाषा सूत्र के अनुसार संस्कृत भाषा को थोप दिया गया । अब यह भाषा आम आदमी के बोल चाल की भाषा नहीं । सभ्यता कभी भी गतिहीन नहीं होती । इसमे बराबर प्रवाह होता है । यहां हम घुर्ये की विचारधारा और उनकी कृतियों पर कुछ टिप्पणी करेंगे ।

8.16 हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव

घुर्ये ने हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति, ब्राह्मण धर्म पर खूब लिखा है । आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र ने घुर्ये की लिखावट की निन्दा भी की है । यह होते हुए भी आज का समाजशास्त्र परम्परा का बडा प्रशंसक रहा है । जब कभी आधुनिकता की, बात कहीं जाती है, तब इसका विश्लेषण परम्परा के सन्दर्भ में ही किया जाता है । ल्योड रूडोल्फ और सूसेन रूडोल्फ आधुनिकता की व्याख्या परम्परा के संदर्भ में करते हैं । योगेन्द्र सिंह का तर्क है कि भारतीय परम्पराएं आधुनिक हो रही हैं । कुल मिलाकर आज का समाजशास्त्र हिन्दु परम्पराओं

से जुड़ गया है । यह घुर्ये का प्रभाव है । जब वे हिन्दू धर्म, और ब्राह्मण संस्कृति की चर्चा करते हैं तब उनका तात्पर्य हिन्दू परम्पराओं से ही है ।

8.17 घुर्ये और हिन्दुत्ववादी

देश मे वे लोग और राजनैतिक दल जो सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की चर्चा करते हैं । घुर्ये ने एक मजबूत बौद्धिक हथियार दे दिया है । इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता, जिसे हिन्दू सभ्यता कहते हैं देश को एक सूत्र में बांध देगी लेकिन इसका परिणाम देश के विभाजन में देखने को मिलेगा । यह देश बहु सांस्कृतिक बहु-भाषायी, और बहु-क्षेत्रीय है । घुर्ये की इस तरह की विचारधारा पूर्ण रूप से विघटनकारी है । देखा जाये तो घुर्ये का समाजशास्त्र का सम्पूर्ण साहित्य भारतीय समाजशास्त्र को एक खण्डित दिशा देते हैं । वे आर्य संस्कृति, ब्राह्मणवाद हिन्दू धर्म और हिन्दू राष्ट्रवाद की व्याख्या करते थकते नहीं है । उनके विचारों में भारत राष्ट्र-राज्य न बनकर हिन्दू-राज्य बनेगा ।

भारतीय इतिहास हिन्दुकरण की प्रक्रिया है

घुर्ये की किसी भी कृति को हम उठा लें । उनकी केन्द्रीय विधि इतिहास है । वे कहते हैं कि मुसलमानों आदिवासियों, सिखों, जैन आदि समूहों का विलय हिन्दू जातियों में हो जाना चाहिये । इसी मुहावरे के अन्तर्गत वे कहते हैं कि अब तक का सम्पूर्ण भारतीय इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास है । इसी विचारधारा को उनके शिष्य एम.एन. श्रीनिवास ने अधिक सशक्त रूप में रखा है जब वे संस्कृतिकरण (प्रारम्भ मे इसे उन्होंने ब्राह्मणकरण नाम दिया था) की अवधारणा को रखते हैं । इस संस्कृतिकरण को योगेन्द्र सिंह ने आदिवासियों और मुसलमानों में भी देखा है । कुल मिलाकर घुर्ये का थीसिस आज का समाजशास्त्र भी दोहरा रहा है । परिवर्तन की प्रक्रियायें इस तरह चल रही हैं कि कोई भी समूह-बराबर हिन्दू बन रहा है । याद आता है जब मार्क्स ने' कहा है - अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । घुर्ये ने कहा - भारत में अब तक का इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास है । भारत एक धर्म निरपेक्ष, प्रजातांत्रिक, एकाधिक संस्कृति का देश है ।

घुर्ये को आज कोई गंभीरता से नही पढ़ता

नवीन समाजशास्त्र के पुरोधा सी. राईट मिल्स ने एक बार कहा था - पारसन्स को अब पढने की कौन परवाह करता है उनकी दृष्टि से पारसंस अतीत के समाजशास्त्री हो गये थे । ठीक कुछ इसी कोई लहजे मे करोल उपाध्याय कहती हैं कि अब समाजशास्त्र में घुर्ये को कोई गंभीरता से नहीं पढ़ता । वे विद्यार्थी या अनुसंधानकर्ता जिनकी रूचि समाजशास्त्र के इतिहास में है, वे थोड़ा उनकी कृतियों को देख लेते हैं । वास्तविकता यह है कि आज घुर्ये की प्रासंगिकता नहीं रही फिर भी उनकी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस एक महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है । अब तक इसके कोई पांच संस्करण निकल चुके हैं और छह पुनमुर्द्रण आ चुके हैं । आज भी यह पुस्तक कई विश्वविद्यालयों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है ।

समाजशास्त्र की परिभाषा उपेक्षित रही है

सन् 1919 में एक स्वतंत्र विधा की तरह समाजशास्त्र की शुरुआत मानी जाती है । इस युग में घुर्ये और इनके विद्यार्थियों से यह आशा की जाती थी कि वे समाजशास्त्र को

समाज विज्ञान की तरह स्थापित करते, इसकी विषय-वस्तु को निर्गीरत करते और इसकी विधि को पक्का करते । घुर्ये ने ऐसा कुछ नहीं किया । परिभाषा तो दूर की बात है, उन्होंने समाजशास्त्र का नाम भी नहीं लिया ।

हुआ यह है कि समाज के बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा है - परिवार, सभ्यता, देश-भूषा, साधु कामुकता और जाति, सभी कुछ समाजशास्त्र है । इसमें कहीं भी समाजशास्त्रीय संदर्भ की चर्चा नहीं है । सरल शब्दों में कहें तो कहना होगा कि समाजशास्त्र का प्रोफेसर जो कुछ भी लिख दे, वह सब समाजशास्त्र है । इसका अर्थ हुआ समाजशास्त्र की परिभाषा और विषय क्षेत्र पुख्ता करना किसी प्रोफेसर का काम है और घुर्ये ऐसे प्रोफेसर थे, जिन्होंने समाजशास्त्र में स्नातकोतर की डिग्री नहीं ली । उनके पास केवल क्रेम्ब्रिज विश्ववद्यालय से प्राप्त समाजशास्त्र का प्रशिक्षण था । अगर घुर्ये की शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि समाजशास्त्र वह है जो भारतीय हिन्दू समाज का ब्राह्मणों के रीति-रिवाज का अध्ययन करे ।

8.18 मानवजाति अध्ययन की शुरूआत

हटन ने इस बात को बराबर दोहराया है कि भारतीय उपनिवेशकाल वस्तुत: समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की दृष्टि से मानवजाति (Ethnology) अध्ययन काल था । घुर्ये ने अपनी कृतियों में जाति, धर्म, परिवार, नातेदारी आदि से जुडे हुए मुद्दों को उठाया है । इस तरह का मानवशास्त्रीकरण उपनिवेशदियों की ताकत को बढ़ाने बाला था । अब अंग्रेज समझ गये थे कि भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्बन्ध कैसे है, सिख और आदिवासी हिन्दुओं से कहां जुडे हैं । मानवजाति अध्ययन ने जिस भांति भारतीय समाज में विघटन किया है, उसकी टीस आज भी हमें चुभ रही है ।

आदिवासी तथा कथित आदिवासी हैं

आदिवासियों को सरकार ने अनुसूचित जनजाति बना दिया है । वे वास्तव में हिन्दू हैं। उन्हें आदिवासी न कहकर पिछडे हिन्दू (Backward Hindus) कहना चाहिये । घुर्ये की विचारधारा स्पष्ट रूप से कहती है कि आदिवासी समुदाय को सुरक्षा प्रदान करने की कोई आवश्यकता नहीं है, उन्हें तो पिछड़ी हुई जातियों में मिला देना चाहिये ।

8.19 सारांश

घुर्ये एक विवादास्पद समाजशास्त्रीय विचारक हैं । आज के समाजशास्त्र में जो संरचना, व्यवस्था, आधुनिकता उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में लिखा जाता है, घुर्ये का कोई महत्व नहीं। वे अतीत के समाजशास्त्री हैं । दे भविष्य में समाजशास्त्र के मार्गदर्शक नहीं कहे जा सकते । यह सही है कि भारतीय सभ्यता महान थी, यह भी सही है कि भारतीय समाज अतीत में एक धर्म-प्रधान समाज था, इसमें ब्राह्मण नियामक रहे हैं, लेकिन यह भी सही है कि आधुनिक समाज धर्म निरपेक्ष है, एकाधिक संस्कृतियों का है । बहु-भाषायी है, बहु-क्षेत्रिय है और इससे आगे यह प्रजातान्त्रिक और पूँजीवादी कार्पोरेट-औद्योगिक है । ऐसे समाज के लिये घुर्ये को विचारक कहना कहां तक संगत होगा? वे तो ठेठ हिन्दू समाजशास्त्री थे ब्राह्मणों के प्रणेता थे

और हिन्दू आर्य धर्म की ध्वजा को उठाने वाले थे । घुर्ये के अनगिनत विद्यार्थियों और उनके समाजशास्त्र मठाधीसों को इस मुद्दे पर चिन्तन करना चाहिये ।

8.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 जी.एस. घुर्ये के बारे में आप अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

2 जी.एस. घुर्ये द्वारा दी गयी समाजशास्त्र की परिभाषा समझाइए ।

3 भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

4 भारतीय समाज अनिवार्य रूप से एक हिन्दू समाज है इसके बारे में अपने विचार बताइये ।

5 जी.एस. घुर्ये का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ।

8.21 संदर्भ ग्रंथ

1 Bose,Pradip kumar ,"ANarrative of Caste and Race in India,"in momin A.R.(ed.)the Legacy of G.S.Ghurye.A Centennial Festschrift.Bombay Popular,Prakashan 1996.

2 Carol Upadhyay,"The Hindu Nationlist Sociology of G.S. Ghurye"sociological bulletin 51(1),March2002.

3 Chakravarti,Uma,Whaterver Haooened to the Vedic Dasi Orientatism Nationalism and a Script for thna2Park"in K.Sangri and Vaid(Ed.)Recasting Woman,Essays in India colonical History New Delhi,Kail for Woman,1983.

4 Cohn,Bernard S."Notes on the History of the study of Indian society"in Bernard.S.Cohn,An Anthropogist among the Listarians and othrt Essays,1987.

5 Momin,A.R.(ed.),The Legacy of G.S.Ghurye:A Centennial Festschrift, Bombay,Popular Prakasashan,1996.

6 Pillai,S.Devadas,Indian Sociology Through Ghurye:A Dictionary Mumbai Popular Prakashan 1997.

7 Pramanik S.K. Sociology of G.S. Ghurye, Rawat Publication Jaipur,1994.

8 Sarkar,Sumit,"Indian Nationalism and the Politics of Hindutva",in Ludden,1996.

9 Srinivas,M.N. Itineraries of an Indian Social Anthropologist", in Colleated

10 Essays,New Delhi : Oxford University Press.

11 Venugopal,C.N.,"G.S.Ghurye'sIdeology of Normative Hinduism : AnAppraisal" Contributions of Indian Sociology, 20(2):305-14.

इकाई 9

ए.आर.देसाई का योगदान

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 पृष्ठभूमि

9.3 प्रमुख रचनायें

9.3.1 भारतीय समाज का रूपान्तरण

9.3.2 भारतीय राष्ट्रीयता की सामाजिक पृष्ठभूमि

9.3.3 राज्य और समाज

9.4 मार्क्सवादी दृष्टि से विवेचन

9.5 सारांश

9.6 शब्दावली

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.8 सन्दर्भ ग्रंथ

9.0 उद्देश्य

इस अध्याय के पश्चात् जान सकेंगे कि-

- देसाई के प्रमुख योगदान का विवेचन करेंगे
- भारतीय समाज का रूपान्तरण के बारे में समझ सकेंगे ।
- भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि के जानकारी हासिल कर सकेंगे ।
- राज्य और समाज के बारे में जान सकेंगे ।

9.1 प्रस्तावना

ए.आर.देसाई (1915-1994)

ए.आर.देसाई ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन में मार्क्स के सिद्धान्त और उनकी ऐतिहासिक विधियों को लागू किया है । वे वस्तुत: मार्क्सवादी समाजशास्त्री थे । । देसाई ने मार्क्स, एंजेल्स तथा लिओन ट्रोट्स्की की रचनाओं का गहन अध्ययन किया । वे इन विचारकों से बहुत प्रभावित रहे । वे शास्त्रीय, क्षेत्र-शोधकार्य के अनुभवजन्य अनुसंधान के अग्रणी विद्वान माने जा सकते है ।

9.2 पृष्ठभूमि

अक्षय रमनलाल देसाई 16 अप्रेल 1915 में मध्यगुजरात के नड़ियाद कस्बे में पैदा हुए और 12 नवम्बर 1944 में बड़ोदा में उनका स्वर्गवास हुआ । जीवन के शुरुआती दौर में, वे अपने पिता रतनलाल बसन्त लाल देसाई से बहुत प्रभावित हुए जो स्वयं एक प्रसिद्ध साहित्यकार

थे और जिन्होंने 1930 के बाद के दशक में गुजरात की युवा पीढी के प्रेरणा स्त्रोत रहे । स्वयं ए.आर. देसाई ने बड़ोदा, सूरत और मुम्बई के छात्र-आन्दोलनो में भाग लिया । उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की तथा 1948 में प्रो. जी. एस. धुर्रे के निदेशन में समाजशास्त्र मैं पी.एच.डी हासिल की वे इसी विश्वविद्यालय से विधि स्नातक भी थे । तत्पश्चात् उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय में शिक्षण कार्य और विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए । 1947 में उन्होने नीरा देसाई से शादी जो स्वंय एक समाजशास्त्री थे ।

देसाई की कृतियां

कुछ मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने नवीन ढंग से भारतीय समाज मे आये बदलाव के मूल्यांकन की शुरुआत की । ए.आर.देसाई, जो प्रो. धुर्रे के विद्यार्थी थे, इस संदर्भ में अग्रणी हैं जिन्होंने अनवरत रूप से और पूर्णकर्मनिष्ठा के साथ भारतीय सामाजिक यथार्थता के विविध पहलूओं को प्रस्तुत किया । उनकी कृतियाँ -

दी सोशल बेक ग्राउण्ड, (1948)

वर्तमान में सक्रिय कारक (1975)

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख आयाम (1975)

कच्ची बस्तियाँ और भारतीय शहरीकरण (1970,72)

ग्रामीण समाजशास्त्र का उद्भव एवं समस्याऐं (1969)

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय शहरीकरण के निहितार्थ (1971)

भारत में राज्य एवं समाज (1975)

भारत में कृषक संघर्ष (1979)

ग्रामीण भारत में सक्रंमण काल (1979)

भारतीय विकास की डगर (1984)

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में उन्होंने राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र को विकसित किया । 1979 में देसाई ने एक संकलन निकाला जिसमें अनेक इतिहासविज्ञों और समाज-वैज्ञानिकों के विविध दृष्टिकोणो से कृषक-संघर्ष के अध्ययन से सम्बन्धित आलेख हैं ।

डी.पी. मुखर्जी की तरह, ए.आर. देसाई ने 1976 में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज का अध्ययन किया तथा इतिहास का सार्थक उपयोग किया । देसाई और पिल्लई ने 1972 झुग्गी-झोपडियों और कच्ची बस्तिओं को एक अध्ययन प्रस्तुत किया जिसका शहरी क्षेत्र के अध्ययन में अपना विशिष्ट स्थान हैं । देसाई (1969:1:99) ग्राम्य शोध कार्य में योगदान दिया और एक ग्रंथ - भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र को सम्पादित किया जिसने ग्रामीण जीवन के शोधपरक अध्ययन को गीत प्रदान की और आगे का मार्ग भी प्रशस्त किया ।

9.3 प्रमुख रचनायें

9.3.1 भारतीय समाज का रूपान्तरण

ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्व को जिम्मेदारी अर्थव्यवस्था का पूंजीवाद अर्थव्यवस्था में रूपान्तरण भारत में ब्रिटिश विजय का परिणाम था । ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों को पूंजीवादी ढांचे में विकसित किया-आपार, उद्योग और वित्त प्रबन्धन इस दायरे में आ गये । ब्रिटिश सरकार की नवीन आर्थिक नीति ने पुरातन अर्थव्यवस्था को अस्त-अस्त कर दिया । इसके फलस्वरूप नवीन उद्योग के विकास के कारण पुराने भौमिक और शिल्पकारों के सम्बन्धों मे बदलाव आया । ग्राम्य सामुदायिक कृषि तंत्र के स्थान पर नवीन कृषि स्वामित्व और निजी भूमि राष्ट्र चेतना का अभिर्भाव हुआ । इससे समाज आन्दोलित हुआ और सामूहिकता की प्रवृति के चलते अनेक संगठन, यूनियनें आदि पनपने लगे । यही से राष्ट्रीय भावना के वशीभूत होकर स्वतंत्रता आन्दोलन का बीजारोपण हुआ । राष्ट्रीय जागृति की भावना बलवती हुई ।

9.3.2 भारतीय राष्ट्रियता की सामाजिक पृष्ठभूमि

देसाई ने ब्रिटिशकाल में उत्पन्न भारतीय राष्ट्रीयता का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया । उन्होंने ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नजरिये से अनेक ग्रामीण और शहरी आन्दोलनों, जातियों, वर्ग-संरचनाओं, सामाजिक गतिविधियों का शिक्षा आदि आयामों का गहन अध्ययन किया । यद्यपि देसाई की पुस्तक 1948 में प्रकाशित हो चुकी थी, परन्तु बीसवीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशकों में इसने लोकप्रियता हासिल कर ली क्योंकि तब तक भारत में समाज वैज्ञानिकों में सामाजिक चेतना बहुत विकसित हो चुकी थी । देसाई का प्रथम ग्रंथ "भारतीय राष्ट्रीयता की सामाजिक पृष्ठभूमि" ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने समाजशास्त्र और इतिहास के गठजोड़ से एक शैक्षिक आमुखीकरण किया । उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कृति में अन्य मार्क्सवादी विचारधारा के लेखकों की तरह उत्पादन के सम्बन्धों के जरिये राष्ट्रीयता परम्परागत सामाजिक परिप्रेक्ष्य की समीक्षा प्रस्तुत की ।

द्वन्द्वात्मक वातायन से दृष्टिपात करने वाली यह पुस्तक देसाई के भारतीय राष्ट्रीयता परक अध्ययन एवं विश्लेषण का श्रेष्ठ प्रयास हैं । उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता उन भौतिक परिस्थितियों की उपज हैं जिनको ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने जन्म दिया । आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण को चालू करके ब्रिटिश शासकों ने नवीन आर्थिक सम्बन्धो की स्थापना की । यह आर्थिक सम्बन्ध ही वह मूल कारक हैं जिनके अन्तर्गत, परम्परागत संस्थाओं में परिवर्तन के साथ-साथ स्थिरता और स्थायित्व भी उभरा हैं । ज्यों-ज्यों आर्थिक सम्बन्धो में बदलाव होगा तो उसी आनुपातिक स्तर में समाज की संस्थाओं में भी रूपान्तरण होता जायेगा ।

देसाई की यह मान्यता है कि परम्परायें चूंकि आर्थिक सम्बन्धो पर आधारित होती है, तो आर्थिक सम्बन्धो में बदलाव परम्पराओं में निश्चित रूप से बदलाव लाता है । इस संदर्भ में उनका सोच यह है कि नवीन भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों की उत्पति से जाति स्वत: समाप्त हो जायेगी । उद्योग, आर्थिक स्वातंत्रय, शिक्षा इत्यादि की इसमें भूमिका रहेगी ।

देसाई परम्परा को अलग तरीके से परिभाषित करते हैं । वे इसे जाति, धर्म या कर्मकाण्ड से नही जोड़ते उनके अनुसार भारत के द्वन्द्वात्मक इतिहास में परम्पराओं की जड़े अर्थव्यवस्था और उत्पादन के सम्बन्धों मैं निहित हैं । देसाई के व्यावहारिक द्वन्द्वात्मक नजरिये में योगेन्द्र सिंह कुछ दुर्बलतायें देखते हैं । उनका दृष्टिकोण यह है कि ए.आर. देसाई सैद्धान्तिक दृष्टि से मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर भारतीय व्यवस्था की विश्लेषण तो बडी विद्वता से करते है परन्तु प्रायोगिक-अनुभव जन्य आधार उनके पास नही है । दूसरे शब्दों में, उनके सैद्धान्तिक वाग्जाल और विद्धविलास को ठोस तथ्यों के मद्देनजर चुनौती दी जा सकती है। योगेन्द्र सिंह की आलोचना निम्न प्रकार से है -

"चूँकि देसाई के द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण पर आधारित समाज परिवर्तन के अध्ययन में भारतीय संदर्भ में ठोस तथ्य प्रस्तुत नही किये गये हैं यह इसकी दुर्बलता है भले सतही कलेवर ऐतिहासिकता लिए हुए हो । इसे आसानी से चुनौती दी जा सकती है । सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तरीका परिवर्तन, द्वन्द्व और रूपान्तरण के विश्लेषण में कारगर तभी हो सकता होती है जब वह वैज्ञानिक शोध की स्वस्थ और सटिक परम्परा पर आधारित हो । इस दुर्बलता के बावजूद भी इस दृष्टि से किये गये देसाई के अध्ययन ने कुछ महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक अवधारणाओं की स्थापना जरूर हुई है । उन स्थापनाओं के सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में देखा-परखा जा सकता, है । "

ए.आर. देसाई का अधिकांश लेखन और चिन्तन उनके मार्क्सवादी मिशन की भावना से किया गया उत्कृष्ट प्रयास हैं । उन्होंने कई पुस्तकें लिखी, कई आलेखों का संकलन और सम्पादन किया । उनकी प्रमुख रचनायें सोशल बेक ग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म 1948 तथा रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म (1960) थी । इन कृतियों में, उन्होंने मार्क्सवादी मॉडल के आधार पर भारत में पूंजीवाद के विकास को रेखाकिंत किया । उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संदर्भ में उन सामाजिक प्रवृतियों और शक्रियों की उत्पति और सक्रियता का विश्लेषण प्रस्तुत किया जिनसे भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन हुए । उनकी मान्यता थी कि स्वातंत्रोतर वर्षो में भारत में पूँजीवादी राज्य का उदय हुआ । राज्य और पूंजीवाद वर्ग सम्बन्धों का विषय उनकी अनेक रचनाओं में खंगाला गया । उनके अनुसार,राज्य के प्रशासनिक तंत्र दो कार्यो को अंजाम दिया - एक तो था पूंजीवाद वर्ग के हितों की रक्षा करना और दूसरा था शोषित वर्ग के संघर्ष का दमन करना ।

अपनी पुस्तक इंडियाज पाथ टू डिवेलपेन्ट 1984 उन्होंने परम्परागत कम्युनिस्ट पाटियों और मार्क्सवादी विद्वानों का वर्णन किया जिन्होंने प्रगतिशील समृद्ध वर्ग, अर्थ-सामन्तवादी वर्ग, विदेशी औपनिवेशिक तंत्र के गठबन्धन द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था के नियंत्रित किये जाने की बात की थी तथा जिन्होंने द्विचरण बद्ध क्रान्ति की अवधारणा प्रस्तुत की, थी और जिन्होंने शान्तिप्रिय संसदीय प्रजातंत्र द्वारा समाजवादी व्यवस्था के विकसित होने की विचारणा प्रस्तुत की थी । ए.आर.देसाई की रचनाओं समाजशास्त्र, शहरीकरण, श्रम-आन्दोलन किसान संघर्ष, आधुनिकीकरण. धर्म प्रजातांत्रिक अधिकार आदि विषयों पर अनेक संकलन सम्मिलित हैं ।

9.3.3 राज्य और समाज

अपनी पुस्तक स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया (1975) में ए.आर. देसाई ने आधुनिकीकरण की उन धारणाओं की समीक्षा की जो शैक्षिक संस्थाओं द्वारा स्वीकृत हो चुकी थी । उन्होंने स्पष्ट किया कि हकीकत में आधुनिकीकरण की पूंजीवादी मनोधारणा एक बुनियादी मूल्य हो चुकी हैं । यह एक शासक वर्ग के लिए प्रमुख वैंचारिक आधार बन गया जो पूंजीवादी दरें पर अग्रसर हो चुका था । देसाई ने मार्क्सवादी विदवानों के बारे में यह उल्लेख किया कि उन्होंने वर्ग-चरित्र, वर्ग-भूमिका तथा स्वातंत्र्योंत्तर वर्षो में राज्य द्वारा संचालित आर्थिक, दमनात्मक और वैचारिक गतिविधियों का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया । अपनी बाद की रचनाओं में उन्होंने राज्य की दमनात्मक भूमिका और उसके प्रबल विरोध के बारे में ही लेखक कार्य किया । वायलेशन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स इन इंडिया (1986)

रिप्रेशन एण्ड रिजिस्टेन्स इन इंडिया (1990), एक्सोपंडिग गवर्नमेन्टल लालेसनेस एण्ड ओर्गनाइज्ड स्ट्रगल्स 1991 तथा स्टेट एण्ड रिप्रेसिव कल्चर (1994) आदि पुस्तकों में बिलफ्रेड द कोस्टा के सानिध्य में महिलाओं, शहर में कच्ची बस्ति के वाशिंदों, प्रेस और मीडिया पर दमन, अल्पसंख्यकों के लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन, आदि मुद्दो को रेखांकित किया । (मुन्शी एवं सल्दान्हा (1984))

राष्ट्रीयता के अध्ययन, ग्रामीण सामाजिक संरचना, भारत में आर्थिक और परिवर्तन धर्मा सामाजिक नीतियों, राज्य और समाज की समीक्षा करते हुए उन्होंने

भारतीय समाज में पूंजीपति समृद्ध वर्ग के निहित साथों के जुगलबन्दी के कारण परिवर्तन प्रक्रियायें में अनियमताओ और अन्तविरोधों को उजागर किया । देसाई (1959, 1966, 1975)

देसाई के अनुसार, वर्गों के हितों के ध्रवीकरण पर विशेष रूप से पूंजीपति वर्ग के हितों का धुर्वीकरण पर ही वर्तमान भारत के समाज की बुनियादी है । वर्गो के हितों में विरोधाभास और द्वन्द्व की गणित आधुनिक समाज की संरचना में अन्तनिर्हित है । यह तथ्य सांगोपांग रूप से देसाई की अनेक रचनाओं में अभव्यक्त हुआ । देसाई ने पहले तो ऐतिहासिक-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या की है और तत्पश्चात् इस सैद्धान्तिक अवधारणाओं को विभिन्न प्रकार के सामाजिक आन्दोलनों पर ग्रामीण. शहरी, जाति और वर्ग संरचनाओं, शिक्षा सामाजिक गतिविधियों और अन्य पहलूओं पर लागू करके देखा परखा हे ।

9.4 मार्क्सवादी दृष्टि से विवेनन

बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारंभिक दशकों में समाज-विज्ञानों में विशेषकर समाजशास्त्रीय शोध में अमेरिकन संरचनात्मक-व्यवहारत्मक और ब्रिटिश व्यवहारवादी का बोलबाला रहा । फिर भी देसाई इन साम्राज्यवादी प्रभावों और दबावों से अविचलित रहते हुए भारतीय समाज और राज्य पर निबोध रूप से लेखन जारी रखा जिसमें उनकी विद्वतापूर्ण प्रतिबद्धता सहजरूप से परिलक्षित होती है । देसाई ने 15 वे अखिल भारतीय समाजशास्त्रिय सम्मेलन में भारतीय समाजशास्त्र के मूल्यांकन हेतु अपने सत्ताईस बिन्दुओं का उल्लेख किया ।

उनका कथन यह है था जितने भी समाजशास्त्रीय अध्ययन और शोध के दृष्टिकोण हैं वें मूलरूप मार्क्सवादी नहीं हैं । भारत में मार्क्सवादी नजरियें को यह कहते हुए अस्वीकार किया जाता है कि वह मताग्रही, अतिशय दृष्टिकोण ही उपयुक्त है क्योंकि यह शासकीय नीतियों, राजनीतिक अर्थव्यवस्था और राज्यश्रित वर्ग संरचना की सटीक व्याख्या करने में सक्षम हैं । देसाई लिखते है, 'मैं चाहता हूँ कि भारत में सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन और शोधकर्ता अपनी बुनियादी पड़ता और रूग्णत के खोल से बाहर आकर स्वस्थ और प्रभावशाली दृष्टिकोण अपनाते हुए विकसित होते हुए विषयगत वाड्मय के सभी पहलूओं के चिंतन और अध्ययन का उपयुक्त वातावरण सृजित करें ताकि भारतीय समाज, वर्ग चरित्र और शासक-प्रबन्धन और विकास की डगर की व्याख्या सही-सही हो सके ।

इस तरह अपने अध्ययक्षीय भाषण में, मार्क्सवादी विचारधारा के दृष्टिकोण से भारतीय समाज के अध्ययन की प्रासंगिकता पर समाजशास्त्रियों का ध्यान केन्द्रित किया । उनके अनुसार, मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रासंगिक प्रश्न खड़े करने में मददगार होता है तथा शोधकार्य को उचित दिशा प्रदान करता है तथा अध्ययन कत्ताओं को सटिक वैचारिक स्थापना करने में सक्षम बनाता है । इस नजरिये से शोधार्थी सामाजिक रूपान्तरण प्रक्रिया की प्रमुख प्रवृत्तियों और अनेक तात्पर्य की पहचान कर सकते हैं । देसाई ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किये जाने वाले भारतीय समाज के अध्ययन के महत्वपूर्ण पहलुओं पर देखा । मार्क्सवादी नजरिया उत्पादन के साधनो के जरिये सामाजिक यर्थाथ को समझने में सहायक होता है तथा उत्पादन के उपकरणों के संचालन में श्रम के तकनीकी और आर्थिक विभाजन को समझा जा सकता है । तथा पूंजी आधारित सामाजिक सम्बन्धों को भी जाना जा सकता है । इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन के शतायन से पूंजी आधारित उन सामाजिक सम्बन्धों को बेहतर जाना परखा जा सकता है । जिनका अस्तित्व स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक पहले था । उन्हीं सम्बन्धों को स्वातत्रोत्तर वर्षो में सरकार सक्रिय एजेन्ट के रूप में विकसित और रूपान्तरित करती रही है । मार्क्सवादी नजरिया ही भारतीय विद्वानों को यहाँ के समाज वर्ग चरित्र राज्य की भूमिका, विकास की विशिष्टता और अर्न्तनिहित प्रयोजनों की समुचित व्याख्या कर सकता है यह सब विवेचन देसाई की कृतियों में उपलब्ध है । देसाई ने सिर्फ यही नहीं बतलाया कि समाजशास्त्र की मुख्यधारा में मार्क्स का स्थान है बल्कि यह भी उन्होंने प्रगतिशील चिन्तन करने वालों विद्वानों के शोध के दायरे को विस्तार दिया और एक वैचारिक धरातल निर्मित किया ।

9.5 सारांश

इस अध्याय में हमने देसाई की कृतियों के मद्देनजर यह बदलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज के यथार्थ को समझने में मदद मिल सकती है । विशेष रूप से भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था की व्याख्या किया जाना देसाई का प्रमुख कार्य है । देसाई ने भारतीय समाज के रूपान्तरण की व्याख्या हेतु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को अपनाया । उन्होंने बतलाया कि किस भांति भारत में गुणात्मक बदलाव से राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ । वैसे देसाई की सभी कृतियों में मार्क्सवादी चिंतनधारा ही भारतीय समाज को समझने के लिए प्रयुक्त हुई है । उनके सामाजिक अध्ययन

के मुख्य पहलू ग्रामीण संरचना भारतीय समान का रूपान्तरण, भारतीय राष्ट्रीय चेतना की सामाजिक पृष्ठभूमि किसान संघर्ष, राज्य और समाज इत्यादि है ।

9.6 शब्दावली

मार्क्सवादी – कार्लमार्क्स और उसके समर्थकों का दार्शनिक दृष्टिकोण मार्क्सवाद कहलाता है। मार्क्स हेगल के द्वन्द्वात्मक दर्शन से तो प्रमाणित हुआ परन्तु उसके आदर्शवाद को मार्क्स ने अस्वीकार किया । मार्क्स का आग्रह भौतिक परिस्थितियों पर था, उदाहरण आर्थिक करकों पर । ये आर्थिक कारक ही वे बुनियादी शक्रियाँ है जो व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है और इतिहास की प्रक्रिया का दिशा निर्धारण करती है ।

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 देसाई की कृति "भारतीय राष्ट्रीयता की सामाजिक पृष्ठभूमि" की विवेचन कीजिए ।

2 राज्य और समाज पर एक टिप्पणी लिखिए ।

3 भारतीय सामाजिक यथार्थ को समझने में मार्क्सवादी दृष्टिकोण किस प्रकार प्रासंगिक है ।

4 ए.आर. देसाई की मार्क्सवादी चिंतक के रूप में समीक्षा कीजिए ।

9.8 सन्दर्भ ग्रंथ

1 देसाई, ए.आर. - सोशल बेक ग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म पोपुलर प्रकाशन, बम्बई (1996)

2 देसाई, ए.आर. - स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया. ऐसे इन डिसेन्ट पोपुलर प्रकाशन, बम्बई (1997)

3 देसाई, ए.आर. - रेलेवेन्स ऑफ दी मार्क्सिट अप्रोच टू इ स्टडी ऑफ इंडियन सोसाईटी

4 सोश्योलोजिकल बुलेटिन 3Z(1). 1:20 (1981)

5 दोषी, एस.एल. - मोडर्निटी पोस्ट-मोडर्निटी, एण्ड नियो-सोशियोलोजिकल थियरीज, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर (2003)

6 नागला बी.के. - पर्सपेक्टिज ऑफ इंडियन सोसाइटी रावत पब्लिकेशन्स जयपुर (शीघ्र प्रकाशन)

7 सिंह, योगेन्द्र - इंडियन सोशियोलोजी करन्ट सोशियोलोजी भाग 34 नं. 2 (1986)

इकाई 10

एम.एन. श्रीनिवास का योगदान
(अ) संस्कृतिकरण एवं पाश्चात्यकरण (ब) जाति बनाम प्रबल वर्चस्वधारी जाति

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 धर्म और समाज
10.3 गाँव का अध्ययन
10.4 जाति के बारे में दृष्टिकोण
10.5 संस्कृतिकरण
10.6 प्रबल जाति की अवधारणा
10.7 समीक्षा
10.8 संदर्भ
10.9 सारांश
10.10 शब्दावली
10.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.12 संदर्भ ग्रंथ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- श्रीनिवास की निम्नलिखित अवधारणायें समझ लेगे ।
- सामाजिक परिवर्तन : संस्कृतिकरण
- जातिगत दृष्टिकोण जाति बनाम प्रबल जाति
- सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक बदलाव भारतीय समाजशास्त्रियों और नृशास्त्रियों का प्रमुख विषय रहा है । यह तथ्य 1950 के पूर्व किये शोधाध्ययन पर ही नहीं बल्कि 1950 के बाद की अवधि पर लाग होता है । श्रीनिवास (1966) ने पाश्चात्यकरण, धर्मनिरेपेक्षीकरण संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं के सूक्ष्मस्तरीय शोध बिन्दुओं के आधार पर वैश्विक-स्तरीय विश्लेषण प्रस्तुत किया ।

यह एक रोचक तथ्य है 25 वर्ष के शोध के पश्चात् पुन: एक गाँव विशेष रामपुरा की सूक्ष्म-प्रायोगिक गवेषणा की और प्रवृत हुए और ऐतिहासिक संदर्भ में उसी गाँव में हुए सामाजिक बदलाव को उजागर किया । (श्रीनिवास : 1977)

10.1 प्रस्तावना

एम.एन. श्रीनिवास (1916-1999)

मैसूर नरसिंहाचार्य श्रीनिवास का जन्म 16 नवम्बर 1918 को ब्राह्मण परिवार में हुआ और 83 वर्ष की दीर्घावस्था में 30 नवम्बर 1999 में बंगलौर में उनका निधन हुआ । उन्होंने सूक्ष्म नृशास्त्रीय अन्तदृष्टियो पर आधारित वैश्विक नृशास्त्रीय सामान्यीकरण की परम्परा का सूत्रपात किया तथा अल्पसंख्यक समुदायों के नृशास्त्रीय शोधाध्ययन के परिदृश्य को विस्तारित सरूप प्रदान किया । (श्री निवास1996:22) उन्होंने बम्बई से एम.ए., एल.एल.बी., पीएच.डी. तथा ऑक्सफोर्ड से डी.फिल किया । वे महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा और दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर रहे । वे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन इंस्टीटयूट बंगलौर के समाजशास्त्र-प्रकोष्ठ में सीनियर फेलों रहे तथा नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज बंगलौर में जे.आर. डी. टाटा में विजिटिग प्रोफेसर भी रहे ।

श्री निवास का लेखन कार्य -

श्रीनिवास ने भारतीय समाज और समाज के विभिन्न पहलूओं पर लेखन कार्य किया । वे धर्म, ग्रामीण समुदाय, जाति और सामाजिक पर लेखन की वजह से बहुत प्रसिद्ध हुए । वे रेडक्लिफ-ब्राउन की सामाजिक-संरचना की अवधारणा से बहुत प्रभावित थे । रेडकिल्फ-ब्राउन ऑक्र्सफोर्ड में उनके शिक्षक रहे थे । उनका लेखन दक्षिण भारत में किये गये गहन क्षेत्र कार्य पर आधारित है । विशेष रूप से उन्होंने कूर्ग और रामपुरा क्षेत्र में कार्य किया (शाह; 1996), उनका लेखन उत्कृष्ट है-

1. रिलीजन एंड सोसाइटी अमंग द कुर्गर्स ऑफ साउथ इंडिया (1962)
2. इंडियाज विलेजेज (1955)
3. कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज (1982)
4. सोशल चेन्ज इन मॉँर्डन इंडिया (1966)
5. द विलेजे रिमेम्बर्ड (1976)
6. इंडिया. सोशल स्ट्रक्चर (1980)
7. द डोमिनेन्ट कास्ट एंड अदर एसेज (1987)

इस तरह श्री निवास ने अनेक पहलुओं पर लिखा हैं । उन्होंने अध्ययन में सिर्फ जाति और धर्म के व्यवाहारिक और संरचनात्मक पक्ष को ही उजागर नहीं किया बल्कि ग्रामीण व्यवस्था में जातिप्रथा की सक्रिय भूमिका को भी रेखांकित किया । उन्होंने अन्तर्जातीय सम्बन्धों के यथार्थ को समझने के लिए तथा उनकी सक्रियता दिखाने के लिए सैद्धान्तिक उपकरणों के रूप में कुछ विशिष्ट शब्द निर्मित किये जैसे प्रबल जाति संस्कृतिकरण 'पाश्चात्यकरण 'धर्मनिरेपेक्षीकरण आदि गाँव के स्तर पर सत्तात्मक सम्बन्धों के अध्ययन में उन्होंने प्रबल जाति की अवधारणा का उपयोग किया ।

10.2 धर्म और समाज

श्री निवास ने अपनी पुस्तक रिलीजन एंड सोसाइटी अमंग कुर्गस ऑफ साउथ इंडिया (1952) में ब्राह्मणीकरण की अवधारणा की स्थापना की जिसका अभिप्राय है कि नीची जाति के हिन्दुओं द्वारा ब्राह्मणों के कर्मकांड और रीतिरीवाजो को जीवनशैली में अपना लेना । इस अवधारणा की उन्होंने सघन क्षेत्र कार्य द्वारा स्पष्ट व्याख्या की और बदलाव को समझाया । उनकी ब्राह्मणीकरण की अवधारणा में परोक्ष रूप से संस्कृतिकरण भी निहित है । ब्राह्मणीकरण के मोडल के संदर्भ में उन्होंने संस्कृतिकरण की सीमा निर्धारित किया । तत्पश्चात् संस्कृतिकरण की अवधारणा ने ब्राह्मणीकरण को आत्मसात् कर लिया । श्री निवास ने संस्कृतिकरण को विस्तार दिया । और पाश्चात्यकरण की परिधि से बिल्कुल पृथक पहचान प्रस्तुत की । उन्होंने भारत मे 'सामाजिक परिवर्तन की भूमिका में इन दोनो स अवधारणाओं की सटीक व्याख्या की । उनका मान्यता यह रही कि किसी जीवन शैली या संस्कृति का अनुसरण नीची जातियों और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के समुदायों द्वारा होता आया है तथा समाज में उँचे-नीच वाली मानसिकता और असमानता अन्तर्निहित है क्योंकि समाज में लोगों के हित-लाभ ' शक्ति और आर्थिक अलग-अलग तरह के होते है । इन दोनों अवधारणाओं संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण का वैज्ञानिक निरूपण श्री निवास की पुस्तक सोशल चेन्ज इन मोर्डन इंडिया (1966) में उपलब्ध है जिसमें उन्होंने संस्कृतिकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है जिसके अन्तर्गत निम्न जाति या कबीला या अन्य समुदाय के अन्तर्गत के विशेष रूप से द्विज अर्थात ब्राह्मणों के रीतिरिवाज अनुष्ठान, कर्म-काण्ड विचारधारा और जीवनशैली को ग्रहण करने लगता है । इस समुदाय पर संस्कृतिकरण का प्रभाव इस रूप में देखा जा सकता है कि समाज में उनकी स्थानीय सामाजिक निम्नतम एक सीढ़ी कम हो गयी है । संस्कृतिकरण पाश्चातत्यकरण की अवधारणाओं और पारम्परिक सांस्कृतिक शलियों रीतिरिवाजों और कर्म-कांडों के स्तर पर लेखक ने सामाजिक बदलाव को प्रमुख रूप से अध्ययन किया हैं । संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण की अवधारणाओं के पीछे पूर्वानुमान यही है कि वर्तमान और सहज सामाजिक बदलाव के कारण संस्कृतिकृत जाति की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता हैं तथा सामाजिक संरचनात्मक दृष्टि से उसका वर्चस्व बढ़ाने लगता है जो उसके मनोवैज्ञानिक मोहभंग का परिणाम कहा जा सकता हैं । उस समुदाय को लगता है कि वह जो श्रेष्ठता और ताकत हासिल कर रहा है वह पहले को उच्च वर्ग को हासिल थी जिसका वह अनुसरण ' कर रहा है । फिर भी यह कहना अनुचित नहीं है कि संस्कृतिकरण भारतीय सामाजिक संरचना के अन्दर से ही प्रसूत हुआ है । यह देशी है । इसके विपरित पाश्चात्यकरण से उत्पन्न सामाजिक परिवर्तन बाहरी है और यह ब्रिटिश सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक नवीनता के कारण आया है । पाश्चात्यकरण और संस्कृतिकरण के साथ श्री निवास ने धर्मनिरेक्षीकरण को भी इसी तरह परिभाषित किया कि यह स्वातंत्रयोत्तर वर्षो में समुदायों और अल्पसंख्यकों समुदायों से तालमेल बिठाने के लिए वैचारिक स्थिति और संस्थागत न विचारों और सुधारों की प्रक्रिया है । यही शब्द की विचारधारा हो गयी ।

श्री निवास के अनुसार ग्राम भारतीय समाज और संस्कृति का सूक्ष्म स्वरूप है । अभी तक भी गावों में ठेठ भारतीय परम्परायें बीज रूप में जीवन्त हैं । श्री निवास का भारत में समाजशास्त्रियों की प्रथम पीढी में महत्वपूर्ण स्थान है । वह जी.एस. घुर्ये आर. के. मुखर्जी, एन.के. बोस और डी.पी. मुखर्जी की प्रकाश मान निहारिका के अभिन्न नक्षत्र हैं । उन्होंने कुर्ग लोगों के बीच क्षेत्र-कार्य और इसी वजह से उनकी पुस्तक रिलीजन एण्ड सोसाईटी अमंग दी फुग्र्ज ऑफ साउथ इंडिया (1952) । डमोओं एवं पोकोक के मतानुसार यह पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र की अमूल्य निधि है । इस पुस्तक में श्रीनिवास ने भारतीय परम्पराओं की मूलभूत संरचना का जिक्र किया है। टी.एन.मदन ने निम्नलिखित शब्दों में इस पुस्तक की भूरी-भूरी प्रशंसा की है । कुर्ग की ताकत इस बात पर निर्भर करती है कि वह उस सैद्धान्तिक संरचना मे अन्तरंग रूप से जुड़ा हुआ है जिसे मुख्यरूप से रेडक्लिफ-ब्राउन ने ही विकसित किया था और उन्होंने ही श्रीनिवास को कुर्गो पर शोधकार्य करने का सुझाव दिया था

रिलीजन एण्ड सोसाइटी में कर्मकाण्ड/अनुष्ठान और कूर्ग समाज के अंतर्समबंध को स्पष्ट तरीके से प्रस्तुत किया गया है । पवित्रता ओर अपवित्रता की धारणाओं को बहुत पैनी दृष्टि से और विस्तार से व्याख्या इस संदर्भ में की गई हैं कि उन समुदायों और समाजों में, जो हिन्दू नहीं है, ये किस प्रकार अपना प्रभाव डाल रही है और दे किस तरह हिन्दू समाज व्यवस्था और जीवन शैली में ढलते जा रहे हैं ।

रिलीजन एंड सोसाइटी में श्रीनिवास का विषय हिन्दुत्व का प्रभार रहा । इस पुस्तक में उन्होंने सांस्कृतिक हिन्दुत्व और उसके मूल्यों पर प्रकाश डाला । इसी से सस्कृतिकरण की अवधारणा जुड़ी हुई है और इस का प्रयोग उन्होंने यह दर्शाने के लिए किया कि भारत में दूर-दराज के इलाकों में किस तरह सांस्कृतिक मूल्यों की भेदन प्रक्रिया सक्रिय रहती है । द्विज/ब्राह्मणों की जीवन शैली का अनुकरण और अनुसरण ही सर्वश्रेष्ठ तरीका था जिससे नीची जातियों ने उच्च स्तर हासिल कर लिया । यह बड़ा आश्चर्यजनक तथ्य है कि श्री निवास ने उन समाजों और समुदाय का तो अध्ययन किया जो हिन्दू नही थे परन्तु हिन्दू समाज की निम्न जातियों का जिक्र नही किया जो परम्परागत ढर्रे पर चल रही थी । श्रीनिवास की दृष्टि से कूर्ग इतिहास का वह पहलू अत्यन्त महत्वपूर्ण था जिसके अन्तर्गत वे हिन्दू समाज अवस्था ने समरस हो गये । श्रीनिवास का सोच यही है कि समाज के कमजोर वर्गो द्वारा अपने स्तर के उन्नयन के लिए द्विजो / ब्राह्मणों के तौर-तरीकों का अनुकरण ही सार्थक सामाजिक बदलाव हुआ और वे नीची जातियाँ और कबीले जो अनुकरण की इस दौड़ में असफल रहते है वे पिछड़े रहने के लिए अभिशप्त हैं । श्री निवास ने उनके भाग्य पर जिस प्रकार से टिप्पणी की है, 'कूर्गो के मूल समुदाय में से अम्मा कूर्ग अपने वर्ग के ही लोगों से दशाब्दियों आगे बढ़ गये हैं । ये संस्कृतिकरण के जरिये अपने रीति-रिवाजों को रूपान्तरित कर चुके हैं जबकि दूसरे लोग रूढिवादी और पिछड़े ही बने रह गये हैं ।'- श्री निवास के मत से नीची जातियों द्वारा उच्च वर्णों के मूल्यों का अनुकरण एक नये युग का सूत्रपात है । भारतीय समाज मे 'परम्परा ही पहचान उन्हीं मूल्यों से है । जो द्विज / ब्राह्मणों द्वारा अपनाये गये है अर्थात् महाजनों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों के सामाजिक मूल्यों ने ही भारतीय परम्परा की निहित की है । उच्च वर्ण

के हिन्दू तौर-तरीके ही खालिस भारतीय परम्पराओं के जनक है न कि नीची जातियों के तौर तरीके । श्री निवास इस तरह संस्कृतिकरण को परम्परा से जोड़ कर देखते है । उनका' शोध जाति केन्द्रित सोच में निहित है । उन्होंने जाति को ही हिन्दुत्व का सामाजिक संरचनात्मक आधार माना । वे हिन्दुत्व के दार्शनिक स्वरूप के प्रति इतने आकर्षित भी नहीं हुए । उन्होंने के जातिव्यवस्था में ही हिन्दुत्व का मूलस्वरूप देखा । उनका कथन परम्परा के संदर्भ में इस तरह उद्वत किया जा सकता है । "भारतीय परम्परायें हिन्दू परम्परायें है जो जाति अवस्था में निहीत हैं । हिन्दुत्व को दार्शनिक तल पर विवेचन उनके शोध की परिधि से बाहर है ।"

10.3 गांव का अध्ययन

श्री निवास के परम्परा धर्म और जाति के अतिरिक्त गाँव तीसरा पहलू है। भारतीय गाँवों के अध्ययन की मूलप्रेरणा उन्हें अपने गुरू रेडक्लिफ-ब्राउन से 1945-48 में मिली । जब वे ऑक्साफोर्ड लौट कर भारत आ गये तब उन्होंने मैसूर के एक गाँव 'रामपुरा' का शोधाध्ययन किया और यही से वर्चस्व जाति की अवधारणा विकसित की । इस शोध का सम्पूर्ण विवरण रिमेम्बर्ड क्लेज में हैं । इस पुस्तक में उन्होंने रामपुरा में आये आर्थिक और सामाजिक बदलाव पर प्रकाश डाला हैं, स्वतंत्रोत्तर वर्षा में रामपुरा में तकनीकी बदलाव वही के निवासियों के जीवन में बदलाव का प्रमुख कारक हो गया और यह परिवर्तन आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ-साथ हुआ ।

श्री निवास का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज को समझना है । उनके अनुसार भारतीय समाज मूलरूपेण जातिगत समाज है । उन्होंने धर्म, परिवार, जाति और गाँव का अध्ययन किया। दे एक व्यवहारवादी चिन्तक थे और वे रेडक्लिफ-ब्राउन, रोबर्ट रेडक्लिफ, इवन्स प्रितार्ड से प्रभावित हुए । ये सब प्रबुद्ध व्यवहारवादी नृशास्त्री थे । वैचारिक दृष्टि से, वे यथा स्थितिवादी उनका विचार यह था कि समाज में दलित भी हो और सवणों का उन पर वर्चस्व भी कायम रहे। श्री निवास का परम्परा की पहचान पर की गयी शोध का निष्कर्ष भी रहा कि ठेढ भारतीय परम्परायें जाति, धर्म और गाँव में निहित है और भारतीय समाज की संरचना और सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का चोली दामन का साथ है और यह मान्यता हिन्दूत्व के पक्षधर लोगों की है ।

यद्यपि श्रीनिवास तकनीकी और आर्थिक विकास की बात करते है परन्तु वे जाति, धर्म और परिवार में इससे आये रूपान्तरण की वकालत भी करते है । अपने अध्ययन में समाज के निम्न तब के हाशिये पर हैं । वे उनके लिए "अस्पर्श्य" हैं । श्री निवास ने जाति-व्यवस्था से जकड़े समाज की कुरीतियों पर विस्तार से चर्चा की है । जाति-व्यवस्था में बदलाव की अपेक्षा करते हुए उनके मत से पाश्चात्यकरण और आधुनिकीकरण ही व्यावहारिक विकल्प हैं । उनका परिवर्तन का परिदृश्य परम्परागत ब्राह्मण-हिन्दूवादी है । संस्कृतिकरण के उन्नयन के उत्साह में उन्होंने सम्प्रदायों में बँटे विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायें हाशिये पर रखा । उनके अनुसार मुख्य भारतीय परम्परायें जाति और गाँव के द्वारा अभिव्यक्ति होती है । उनकी परम्परा का परिदृश्य हिन्दूवादी हैं और उसमें पंथ निरपेक्षता का दृष्टिकोण नहीं है । श्रीनिवास हिन्दूवादी परम्परागत अवस्था के मद्देनजर पंथ निरपेक्षता के नजरिये को खारिज करते हैं । 1993 में टाइम्स ऑफ इंडिया में पंथ निरपेक्षता की समीक्षा पर उनका एक आलेख प्रकाशित हुआ था जिसमे उनका

मन्तव्य यह था कि हिन्दुस्तान को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संकट से उबारने के लिए एक नवीन दर्शन की आवश्यकता है परन्तु वह दर्शन पंथ निरपेक्ष मानववाद कदापि नहीं हो सकता । वह ईश्वरवादी दर्शन ही हो सकता है जो यह स्वीकार करता है कि ईश्वर ही सत्य है और जगत उसका पालनहार है । श्रीनिवास की वर्चस्वधारी जाति और सांस्कृतिककरण की मानसिकता उन्हें हिन्दूत्व दादी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की परिधि में लाकर खड़ा कर देती है । इस संदर्भ में दोषी महोदय की मान्यता है जाति गत व्यवस्था से उत्पन्न परम्परा राष्ट्रीय परम्परा का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती क्योंकि यह असंवैधानिक विकल्प भारत का संविधान इसकी इजाजत नहीं देता। (दोषी : 2003)

श्रीनिवास की प्रसिद्ध पुस्तक द रिमेम्बर्ड क्लेज एक क्लासिक औपन्यासिकता लिए हुए है, दक्षिण भारत के एक हिस्से में बदलते गाँव का चित्रण करती है । श्रीनिवास ने रामपुरा गाँव के तीन व्यक्तियों को चरित्रगत विशेषताओं के लिए चुना हैं -एक तो गाँव का मुखिया और पुराने ढरे का जमींदार हैं, दूसरा कुले गौडा गाँव और गाँव के बाहर की दुनिया के बीच सेतु हैं और तीसरा व्यक्ति नाडू गौड हे जो दंबग और साहसी जमींदार है । श्रीनिवास के हिन्दू समाज ओर संस्कृति के जीवन पहलूओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और साथ ही हिन्दू और अ-हिन्दू समुदायों के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन भी किया । उन्होंने जिसे इलाके का अध्ययन किया उसमें अधिकांश हिन्दू आबादी निवास करती थी । उन्हें उम्मीद थी कि अन्य समाजशास्त्री अ-हिन्दू भारतीय समुदायों की संस्कृति का अध्ययन करेंगे । तभी जाकर भारतीय समाज और संस्कृति की विविधता और जटिलता और समूर्णता प्रामाणिक, अध्ययन हो सकेगा । इस संदर्भ में जोशी (2000) ने यह टिप्पणी की हैं कि श्रीनिवास की आत्मपरिभाषित संज्ञान हिन्दू समाज शास्त्री का नही थे । बल्कि भारतीय समाजशास्त्री की संज्ञान था । तथा उन्होंने एक क्षेत्र विशेष में तृणमूल तल पर गहन शोध कार्य किया था ।

10.4 जाति के बारे में दृष्टिकोण

जाति को समाजशास्त्री अनुवांशिक स्थानीय समुदायों में अन्तर्समुदायिक विवाह से प्रसूत पारम्परिक व्यवसायिक सानिध्य और सम्पर्क से युक्त, समीकरण मे विशिष्ट स्थितिजन्य हकीकत के रूप में परिभाषित करता है । विभिन्न जातियों के बीच अन्तर्सम्बन्ध पवित्रता-अपवित्रता के मानको से निर्धारित होते है और सामान्य रूप से जाति के अन्दर उत्पन्न कारक भी सम्बन्ध निर्धारण के लिए उत्तदायी होते हैं । श्रीनिवास के अनुसार जाति समाज में विभाजन एक घटक है। प्रत्येक जाति में उपजातियाँ होती है ।

1 जो एक से खान-पान वालों की इकाइयां है -

2 जिसमें एक ही व्यवसाय करने वाले सदस्य

3 जो सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठान की इकाइयां है

4 जिसके सदस्य एक सी संस्कृति में सहभागितास रखते हैं ।

5 जिसके सदस्य एक ही जातिगत पंचायत से निदिष्ट होते है ।

श्रीनिवास के अनुसार उपजाति के उपयुक्त कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषतायें भी है

1 ऊँच-नीच का भेद ऊँच नीच की चेतना जाति प्रथा का मूल तत्व है । आनुवांशिक नृ-समूह एक श्रैणीगत अनुक्रमिक होते हैं । इसके अनुसार श्रेणीगत अनुक्रम से ब्राह्मण सर्वोच्च स्थान पर है तथा अछूत जातियों निम्नतम स्थान पर है । ज्ञातव्य है कि बीच की श्रेणियों में कुछ लचीलेपन है ।

2 व्यवसायगत अन्तर - श्री निवास के अनुसार जाति और व्यवसाय में बहुत निकट का रिश्ता है। जाति वास्तव में व्यवसायगत से बहुत निकट का रिश्ता है । जाति वास्तव में पहचान व्यवसाय से ही जानी जाती है । कई जातियों के नाम व्यवसाय से ही प्रसूत है जैसे लोहार, सुनार, कुम्हार, तेली, चमार.... व्यवसाय भी श्रेणीगत अनुक्रम में है अर्थात् उसमें ऊँच-नीच का भेद है ।

3 जातियों में खानपान, पोशाक, संभाषण एवं रीतिरिवाजों के बन्धन हैं । जातियों में खान-पान भी अलग अलग है । और उनमें से ऊँच नीच का भेद है । कई जातियों के घर का भोजन सवर्णों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता ।

4 प्रशुद्रता की धारणा - कुछ जातियों को प्रदूषित या अपवित मानते हुए उनके सदस्यों से दूरी बनाये रखी जाती है । सवर्ण उनसे और उनकी वस्तुओं से सम्पर्क नहीं रखते है । कई बार तो उनसे इस तरह खान-पान आदि का व्यवहार रखने वाले जाति को बहिष्कृत कर दिया जाता है । और उसको शुद्धिकरण की प्रक्रिया से गुज़ारना पड़ता है । अस्पर्श -जाति के सदस्य से यौन सम्बन्ध की शिकायत होने पर ही सदस्य को अपनी जाति से बाहर कर दिया जाता है ।

5 जातिगत पंचायत - इन सब परिस्थितियों के अलावा सभी जातियाँ अपनी-अपनी पंचायतों से नियंत्रित एवं निर्दिष्ट होते है । हर गाँव में प्रत्येक जाति का एक पटेल होता है । जो गाँव में अपने समाज परम्परागत ढर्रे पर निर्वहन करता हैं हर आदमी अपनी जाति की पंचायत के प्रति लाजिम तौर पर उत्तरदायी होता है ।

जाति पंचायत का दायरा एक से ज्यादा अर्थात् दूसरे गाँवों तक भी हो सकता हैं । उपर्युक्त तथ्यों के हिसाब से यह स्पष्ट है कि जातिगत विशेषतायें ही अन्तर्जातिय सम्बन्धों को निर्धारित करती रही है । यही कारक जाति का स्थान श्रेणीगत अनुक्रम में निश्चित करते है ।

10.5 संस्कृतिकरण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जाति की विशेषतायें ही उसे पवित्र अथवा अपवित्र, सात्विक अथवा प्रदूषित बनाती है और उसका समाज में श्रेणी तय करती हैं । श्री निवास ने मैसूर के एक गाँव के अध्ययन में यह पाया कि प्रत्येक जाति समाज में अपना स्थान उच्चतर करने के लिए प्रयत्न करती है चाहे उसे कोई अपनी परिपाटी छोड़नी पड़े और चाहे सवर्णो की जातियों से कोई विशेषता ग्रहण करनी पड़े । इस की संस्कृतिकरण की संज्ञा दी गयी हैं । इस प्रक्रिया में खानपान के तौर तरीकों का बदलाव भी शामिल है । सामिष भोजन से निरामिष भोजन की और प्रवृत होना तथा तथाकथित निम्न श्रेणी के व्यवसाय को छोडकर श्रेष्ठ व्यवसाय अपना लेना संस्कृतिकरण का ही हिस्सा है । इस तरह जातियों में जातिगत विशेषताओं के

कारण अन्तर्प्रभाव और अन्तर्सम्बन्ध होते हैं । यही अवधारणा वर्चस्वधारी जाति की अवधारणा है जिसे श्रीनिवास ने अभिव्यक्त किया।

10.6 प्रबल जाति की अवधारणा

जाति के अतिरिक्त परम्परा को अभिव्यक्त करने वाला श्रीनिवास ने एक और सूत्र तलाश किया । वह यह था कि कोई जाति विशेष समाज में बहुत बलशाली हो जाती है और अन्य जातियों को प्रभावित करती हैं । रामपुर के शुरुआती शोध के चरण में यह तथ्य सामने आया । यह अवधारणा हिन्दुस्तान में सामाजिक संरचना और राजनीतिक, संगठन पर लागू होती हैं । श्रीनिवास (1966) में इस अवधारणा पर सघन अध्ययन किया ।

उन्होंने प्रबल जाति की निम्नांकित विशेषतायें बतलायी ।

1 उनके पास काफी मात्रा में कृषि योग्य जमीन का होना ।

2 उस जाति का बहुसंख्यक होना ।

3 सामाजिक श्रेणीगत-अनुक्रमण में उच्च स्थान पर होना ।

4 पाश्चात्य शिक्षा से जुड़े सदस्य

5 सदस्यों का प्रशासनिक सेवाओं में होना ।

6 आय के शहरी स्त्रोत होना

7 प्रबल जाति पूरे गाँव पर नियंत्रण रखती है ।

दूसरे ढंग से यों कहा जा सकता हैं कि निम्नांकित तीन विशेषताओं के कारण जाति का वर्चस्व समाज में स्थापित होता हे ।

1 संख्यात्मक शक्ति

2 जमीन के स्वामित्व के कारण हासिल की गयी आर्थिक शक्ति

3 राजनीतिक दबदबा

जिस जाति का ग्राम समाज में वर्चस्व होता है उसमें ये तीन विशेषतायें पायी जाती हैं। इस अवधारणा का अभिप्राय यह होता है कि जाति की श्रेणीगत अनुक्रम की चली आ रही परिपाटी स्थायी नहीं रह गयी है । कोई जाति भले ही श्रेणीगत अनुक्रम में नीची हो परन्तु वह किसी ग्राम विशेष में अपना वर्चस्व कायम कर सकती है यदि उसके सदस्यों की संख्या आनुपातिक दृष्टि से वही बहुत अधिक हो उनका राजनीतिक प्रभुत्व हो और काश्त की जमीन पर उनका स्वामित्व भी हो । यह अचूक सत्य नहीं है कि उच्चवर्ग की जाति का ही स्थानीय समाज में प्रभुत्व हो । उदाहरणार्थ मैसूर के रामपुरा गाँव में अनेक जातियों के लोग निवास करते है जिसने ब्राह्मण, किसान और अस्पर्श्य समुदाय हैं । सामाजिक संरचना में किसान वर्ग ब्राह्मण से थोडा नीचे माना जाता है । परन्तु किसान यहाँ अपनी जमीन के मालिक है और बहुसंख्यक भी है । उनका गाँव में राजनीतिक दबदबा भी है । अन्य सभी जातियों की भूमिका इन बहुसंख्यकों की सेवा चाकरी की है।

श्रीनिवास की कड़ी आलोचना इस बात पर हुई यह वर्चस्ववादी अवधारणा उन्होंने अफ्रीका के समाजशास्त्र से चुरायी । उन्होंने इस आलोचना के जवाब में यह कहा कि यह अवधारणा दक्षिण भारत के कुगसमुदाय पर शोध एवं क्षेत्र कार्य करते हुए उनके मानस से उभरी

थी । अध्ययन के दौरान उन्होंने यह पाया कि कुर्ग और औकालिक समुदायों का स्थानीय वर्चस्व था और इसकी पृष्ठभूमि में वहीं तीन विशेषतायें भी - उनका बहुसंख्यक होना, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होना और जीवनशैली में शुद्धता और सात्विकता का होना । उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि समाज में प्रमावशाली जाति संस्कृतिकरण का स्थानीय नकारात्मक अथवा सकारात्मक माध्यम हो सकती है। इसलिए भारतीय परम्परा में संस्कृतिकरण और जातिगत वर्चस्व प्रमुख कारक है । इस तरह की भारत की सामाजिक संरचना में सिद्धान्त रूप में नीची जातियों और दलितों का देहात में कोई स्थान नहीं है । कुछ पिछड़े समुदायों का स्थानीय भले ही हो ।

10.7 समीक्षा

श्री निवास का मूल उद्देश्य भारतीय समाज को समझना है । वे तकनीकी और आर्थिक विकास पर बल देते है परन्तु समाज के पिछड़े वर्गो का इस संदर्भ में कोई जिक्र नहीं करते । संस्कृतिकरण के उन्नयन के प्रयास में उन्होंने धार्मिक-अल्पसंख्यकों को दरकिनार कर दिया है क्योंकि उनके अनुसार भारतीय परम्परायें वहीं हैं जो जाति और गाँव के समाज द्वारा अभिव्यक्त होती हैं । उनके अनुसार भारतीय परम्परायें हिन्दू परम्परायें है और वही निरपेक्षता को कोई भूमिका नहीं हैं वर्चस्वधारी जाति और संस्कृतिकरण का संधि उनको सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की हिन्दूत्वोन्मुखी अवधारणा के समीप लाती है । यह बहुत स्पष्ट कहा जा सकता है कि श्रीनिवास का सांस्कृतिक नजरिया आभिजात्य वर्ग अथवा सवर्णो का नजरिया है ।

बीसवीं शताब्दी के मध्य के दशकों में प्रबुद्ध समाजशास्त्रियों में जो सामाजिक परिवर्तन की स्थानीय अवधारणायें थी, उन्हीं को एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण की संज्ञा दी और इन्हें आधुनिक भारत सीमित संस्कृतिक प्रक्रिया माना । उनके अनुसार संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण एक दूसरे की पूरक प्रक्रियाये है और अन्योनाश्रित है । पाश्चात्यकरण के समझे बगैर संस्कृतिकरण की व्याख्या नहीं हो सकती और संस्कृतिकरण को समझे बगैर पाश्चात्यकरण की व्याख्या नहीं हो सकती (देखिए 1966 कास्ट इन मोडन इंडिया : 8-9)

श्री निवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा ऑक्सफोर्ड रेडक्लिफ-ब्राउन और इवन्स प्रित्चर्ड के सानिध्य में डाक्टरेट के उपाधि हेतु किये गये शोधकार्य के दौरान विकसित की ।

10.8 संदर्भ

रिलीजन एंड सोसायटी एंमग द कुर्ग्ज ऑफ साउथ इंडिया तथा इटिनरेरीज ऑफ एन् इंडियन सोशियोलोजिस्ट अन्ततः उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया निम्न जातियों और कबीलों के हिन्दुओं में जो सांस्कृतिक-सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है । उस दिशा 'हिन्दुत्व' तथा ब्राह्मण वर्ग की और हैं । सोशल चेन्ज इन मोर्डन इंडिया (1966)

1956 में श्री निवास ने पाश्चात्यकरण के सिद्धान्त को इस तरह प्रस्तुत किया भारत में ब्रिटिश विजय ने अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी शक्तियों का प्रवाहित किया जिनसे देश का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन हर पहलू में प्रभावित हुआ । और ब्रिटिश शासन के समाप्त होने के बाद भी वे शक्तियाँ तीव्र रूप से सक्रिय रही । सार गर्भित

रूप से कुछ विशेषतायें जो श्री निवास को समाज में अनायास दिखलाई पडती है, उनमें कोई मौलिक प्रमाणिकता नहीं है । मुखर्जी (1979:50) जिस सामाजिक प्रवृति को श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की संज्ञा दी यह तो आधुनिक सामाजशास्त्र का प्रचलित मुहावरा हो गया है । इसे लायल और रिजली जैसे प्रबुद्ध समाजशास्त्रियों ने पहले से ही आर्यकरण ब्रह्मणीकरण आदि शब्दों में परिभाषित कर दिया था जैसा कि मुखर्जी ने अपनी पुस्तक सोशियोलोजी ऑफ इंडियन सोशियोलोजी के प्रथम अध्याय में उल्लेख किया है । जैसे संस्कृतिकरण अधिक सार्थक संज्ञा है और श्रीनिवास का यह पद समाजशास्त्रियों की पूर्व व्याख्याओं को अस्वीकार नहीं करता है । (श्री निवास 1982,42-43) । इसी प्रकार पूर्व। समाजशास्त्रियों ने पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया को देखा परखा था । मुखर्जी (1979) और उन्हीं के अनुरूप श्रीनिवास ने भी इसकी व्याख्या की (आर.बोस 1974) और बी मुखर्जी (1892) पूर्व के समाजशास्त्रियों को संस्कृतिकरण और पाश्चात्यकरण की प्रक्रियाओं की जानकारी थी । उन्होंने इन दोनों प्रक्रियाओं को सामाजिक मूल्य के विकल्प सैद्धान्तिक अवधारणाओ और शोधगत आमुखीकरण के सन्दर्भ में समझ लिया था ।

(कुमार स्वामी एवं डी.पी.. मुखर्जी) इन दोनों प्रक्रियाओं के अर्थ दो तल पर देखे जा सकते है एक तो इतिहास के संदर्भ में और दूसरा वर्तमान सामाजिक संदर्भ में जैसा कि सिंह ने संस्कृतिकरण के बारे में कहा (सिंह, वाई 1973:6) सिंगर ने इसका अध्ययन पहले ही कर लिया था सिंगर .(1959:179)

10.9 सारांश

भारतीय समाजशास्त्रियों की प्रथम पीढ़ी में श्री निवास का प्रसिद्ध स्थान है । कूर्गो पर किये गये क्षेत्रशोधकार्य में उनका संरचात्मक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है । उनका अध्ययन कूर्ग लोगों की समाजव्यवस्था एवं कर्मकाण्ड के. जटिल अन्तर्सम्बन्धों का खुलासा करता है । उनका शोधकार्य शुद्धता-अशुद्धता की अवधारणा समेत अहितू समुदायों द्वारा हिन्दू समाज व्यवस्था में घुलमिल जाने की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है । यही वह संस्कृतिकरण की अवधारणा हे जिसके अनुसार हिन्दू सांस्कृतिक मूल्य देश के दूर दराज के इलाकों में अन्तर्प्रविष्ट हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने जातिविशेष के वर्चस्व के सिद्धान्त का भी गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है

10.10 शब्दावली

ब्राह्मणीकरण – यह वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत निम्न और शुद्र जातियों के हिन्दुओं द्वारा ब्राह्मण समाज के तौर-तरीकों, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि को अपनाया जाता है।

संस्कृतिकरण – यह वह प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत निम्न और शुद्र जातियाँ, कबीलों और समुदायों द्वारा सवर्णों (द्विज/ब्राह्मणों) के रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों आस्थाओं,विचारधारा और जीवन शैली को अपनाया जाता है ।

पाश्चात्यकरण – इसका आशय उस सामाजिक आर्थिक और नव-सांस्कृति परिवर्तन से है जो ब्रिटिश लोगों के सम्पर्क के कारण परिलक्षित हुआ ।

निरपेक्षीकरण – स्वातंत्रोत्तर वर्षो में अल्पसंख्यकों समुदायों और धार्मिक सम्प्रदायों के मसलों पर वैचारिक और संस्थागत नवाचारों की प्रक्रिया को कहा जाता है ।

जाति – जाति अनुवांशिक, अन्तसामुदायिक वैवाहिक पद्धति पर आधारित, किसी व्यवसाय विशेष से परम्परागत जुड़ा रखने वाली तथा समाज में श्रेणीगत अनुक्रम में स्थान रखने वाली सामाजिक संस्था है । जातियों के परस्पर सम्बन्ध शुद्धता-अशुद्धता और खानपान के तौर तरीकों से निर्धारित होते हैं।

10.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 संस्कृतिकरण को परिभाषित कीजिए तथा ग्रामीण भारत के सामाजिक रूपान्तरण में इसकी भूमिका की प्रासंगिकता पर विचार प्रकट कीजिए ।

2 कुर्ग लोगों के धर्म और समाज पर श्री निवास द्वारा किये गये शोध कार्य की विवेचना कीजिए ।

3 जाति को परिभाषित करते हुए यह बतलाइए कि श्रीनिवास ने इनकी किन विशेषताओं पर प्रकाश डाला है ।

4 निम्नांकित बिन्दुओं पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए

(अ) वर्चस्वधारी जाति

(ब) संस्कृतिकरण

10.12 संदर्भ ग्रंथ

1 जोशी, पीसी.; (2000) 'रिमेम्बरिंग एम.एन. श्री निवास सोशियोलोजिकल बुलेटिन भाग 49 नं.

2 मदान, टी. एन. (1944) पाघवेज, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस

3 सिंह, योगेन्द्र (1952) इंडियन सोशियोलोजी करन्ट सोशियोलोजी भाग 34 नं. 2

4 श्रीनिवास, एम.एन. (1952), रिलीजन एंड सोसाईटी अभंग द कुर्गस इन साउथ इंडिया, ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोड क्लेरंउन प्रेस

5 श्रीनिवास, एम.एन. (1955), इंडिया ज़ किलेजेज बम्बई ऐशिया पब्लिशिंग हाउस

6 श्रीनिवास एम.एन. (1962), कास्ट इन मोडर्न इंडिया एंड अदर ऐसेज बम्बई, ऐशिया पब्लिशिंग हाउस

7 श्रीनिवास, एम.एन.' (1966), सोशल चेन्ज इन मोडर्न इंडिया बम्बई अलाइंड पब्लिशर्स

इकाई 11

लुई डयूमों का योगदान

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 लुईस डयूमो - व्यक्तित्व एवं कृतित्व
11.2 डयूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
11.3 सामाजिक स्तरीकरण - डयूमो का विश्लेषण
11.4 जाति व्यवस्था - पदसोपान का सिद्धान्त
11.5 जाति प्रथा की उत्पत्ति के सिद्धान्त एवं डयूमों का विश्लेषण
11.6 व्यवस्था से संरचना की ओर
11.7 पवित्रता एवं अपवित्रता का सिद्धान्त
11.8 पदसोपान वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त
11.9 पदसोपान एवं शक्ति
11.10 श्रम विभाजन
11.11 जाति एवं व्यवसाय
11.12 विवाह के नियम : अलगाव एवं पदसोपान
11.14 सम्पर्क एवं खान पान के नियम
11.15 प्रभव जाति की अवधारणा
11.16 सारांश
11.17 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.18 संदर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- लुई डयूमों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में जान सकेंगे ।
- लुई डयूमों का समाजशास्त्र को योगदान क्या रहा इसके बारे में जान सकेंगे ।
- डयूमो का भारत विद्याशास्त्री परिप्रेक्ष्य के बारे में समझ सकेंगे ।
- सामाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र में डयूमो का विश्लेषण को समझ सकेंगे ।
- जाति व्यवस्था के संदर्भ -में डयूमों का विश्लेषण के बारे में जान सकेंगे ।

11.1 लुईस ड्यूमों : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

फ्रांसीसी मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री लुई ड्यूमो (1911-1998) भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्षण के प्रमुख समर्थक माने जाते हैं । ड्यूमो ने कई वर्षो तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया । किन्तु 1955 ई. के बाद वे फ्रांस आ गए और यहीं पर उन्होंने लेखन एवं

अध्यापन कार्य किया । डयूमों के शैक्षणिक कैरियर का प्रारम्भ 1930 ई. के मध्य में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्शल माँस के निर्देशन में हुआ । युद्धबन्दी के कारण उनके अध्ययन में बाधा आई किन्तु उन्होंने संस्कृत का अध्ययन जारी रखा। ड्यूमो को भारत के समाजशास्त्र में विशेष रुचि थी। भारतीय समाज के इतिहास को समझने के लिये उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। इसलिए उन्हें भारतीय परम्परा के अध्ययन पर बल देने वाले विद्वानों में से एक अग्रणी विद्वान् माना जाता है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था तथा संस्तरण को अपने विश्लेषण 'कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलॉजी' नामक पत्रिका के एक संस्थापक के लिए विशेषत: जाने जाते हैं। भारतीय जाति व्यवस्था के अतिरिक्त ड्यूमो की भारतीय सामाजिक व्यवस्था में 'भी विशेष रुचि थी।

ड्यमो ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के कई पक्षों; जैसे - नातेदारी, धर्म, विवाह आदि पर अनेक लेख और पुस्तकें लिखी हैं जिनमें प्रमुख निम्न प्रकार हैं -

(1) हैरारकी एण्ड मैरिज एलायन्स इन साउथ इंडिया (1954) (Hierarchy and Marriage Alliance in South Indian Kinship 1954)

(2) होमो हैरारकी 1970 (Homo Hierarchicus 1970)

(3) रिलीजन, पोलिटिक्स एड़ हिस्ट्री इन इडिया: फ्रोम मेंडविले टू मार्क्स 1970 (Religion Politics and History in India: From Mandeville to Marx 1970)

(4) ऐसेज ऑन इन्डीविजुअलिजम 1986 (Essays on Individualism), तथा

(5) ला आईडियोलिजी एलमन्डे 1994 (L'ideologie Allemande 1994)

11.2 ड्यूमो का भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

यद्यपि ड्यूमो की सभी पुस्तकें काफी महत्वपूर्ण मानी जाती है, तथापि इन्हें सबसे अधिक ख्याति 1970 ई में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित होमो हाइरारकिक्स पुस्तक से ही प्राप्त हुई। यह पुस्तक पहले 1967 ई में फ्रांसीसी में प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद मार्क सेंसबरी ने किया है। इस पुस्तक ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक अग्रणी समाजशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह पुस्तक कुल 11 अध्यायों में विभाजित है। पुस्तक के प्रारम्भ में परिचयात्मक विवरण के अन्तर्गत उन्होंने आधुनिक मानव की समानतामूलक विचारधारा को श्रेणीक्रम की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्त किया है।

पुस्तक के अध्यायों की सामग्री अग्र प्रकार है -

होमोहैरारकी - एक परिचय.

(1) विचारों का इतिहास (History of Ideas), जिसमें उन्होंने जाति की परिभाषा, प्रवृत्तियों एवं पूववर्ती अध्ययनों की विवेचना की है;

(2) व्यवस्था से संरचना की ओर पवित्रा एवं अपवित्र (From System to Structure: The Pure and the Impure), जिसमें उन्होंने पवित्र एवं अपवित्र विचारधारा से जुड़े आधारभूत तथ्यों की विवेचना की है;

(3) संस्तरण: वर्ण का सिद्धान्त (Hierarchy: The Theory of the Varna), जिसनें उन्होंने वर्ण के सिद्धान्त की विवेचना करते हुए क्षेत्रीय स्तर पर संस्तरण अथवा प्रस्थिति क्रम के निर्धारण, शक्ति एवं श्रेणीक्रम के वितरण के आधारों पर प्रकाश डाला है;

(4) श्रम-विभाजन (The Division of Labour), जिसमें उन्होंने श्रम-विभाजन, जाति एवं व्यवसाय तथा जजमानी व्यवस्था की विवेचना की है;

(5) विवाह का नियमन: पृथक्करण एवं संस्तरण (The Regulation of Marriage: Separation and Hierarchy), जिसमें उन्होंने विवाह को नियन्त्रित करने वाले आधारों, अन्तविवाह एवं बहिर्विवाह के नियमों के परिप्रेक्ष्य में पृथकता एवं स्स्तरण की विवेचना की है;

(6) सहवास एवं खान-पान सम्बन्धी नियम (Rules Conerning Contact and Food), जिसमें उन्होंने सामाजिक सहवास एवं खान-पान के प्रतिबन्धों एवं नियमों के पीरप्रेक्षण में अन्तर्जातीय सम्बन्धों को समझाने का प्रयास किया है;

(7) शक्ति एवं क्षेत्र (Power and Territory), जिसमें उन्होंने सम्प्रभु जाति तथा जाति के आर्थिक व्यवहारों के आधार पर क्षेत्रीय शक्ति संरचना की विवेचना की है;

(8) जातीय सरकार: न्याय एवं सत्ता (Caste Government: Justice Authorit), जिसमें उन्होंने जाति पर आधारित शक्ति एवं सत्ता तथा न्याय प्रणाली के अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना इसके व्यावहारिक पहलुओं के आधार पर की है;

(9) सहवर्ती एवं निहितार्थ (Concomitants and Implication), जिसमें उन्होंने परित्याग, स्थायित्व, परिवर्तन एवं सामाजिक गतिशीलता के व्यावहारिक पक्षों की विवेचना की है,

(10) तुलना: क्या गैर-हिन्दुओं तथा भारत से बहार जातियाँ है? (Comparison: Are There Castes Among Non-Hindus and Outside India?), जिसमें उन्होंने गैर-हिन्दुओं; यथा - ईसाई, मुस्लिमों (भारत में तथा भारत से बाहर) में जाति की विद्यमानता से जुड़े प्रश्नों के आधार पर हिन्दू एवं गैर-हिन्दू समुदायों की तुलना की है; तथा

(11) तुलना पर आधारित निष्कर्ष समकालीन प्रवृत्ति (Comparison Concluded: The Contemporary Trend). जिसमें उन्होंने जाति में होने वाले अभिनव परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में संस्तरण पर आधारित समाजों एवं समतामूलक समाजों की समसामयिक प्रवृतियों की तुलनात्मक व्याख्या की है।

समन्वयात्मक बाहु उपागमीय विश्लेषण

इस पुस्तक में उन्होंने भारतविद्याशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय और उच्च समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की बहुकुशलता एवं बिद्धत्तापूर्वक ढंग से समन्वय करके भारतीय जाति व्यवस्था तथा उसके द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का सारगर्भित विश्लेषण किया है। इनका विचार था कि भारत का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र एवं भारतविद्याशास्त्र के संगम पर ही होना चाहिए। इसलिए भारतीयों के मूल्यों के अध्ययन के लिए धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य है तथा इसके लिए संस्कृत का जान होना भी अनिवार्य है। ड्यूमो ने जाति व्यवस्था का विश्लेषण पवित्रता के आधार पर किया है जो अनूठा है। ड्यूमो ने इस पुस्तक में जाति के इतिहास तथा उद्गम

सम्बन्धी सिद्धान्तों से लेकर सामाजिक संस्तरण, वर्ण व्यवस्था, खान-पान सम्बन्धी निषेध जैसे विषयों का भी विस्तार से विश्लेषण किया। इस प्रकार, ड्यूमो ने अन्य विद्वानों की भाँति जाति के कार्यो अथवा अकार्यो की विवेचना न कर उन आधारों को ढूँढने का प्रयास किया है जो सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को नियन्त्रित करते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके अनुसार जाति व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में इस बारे में निहित विचारधारा को समझना आवश्यक है। यह उनके भारतविद्याशास्त्र का ही एक अंग है।

संस्थाओं का विशलेषण

ड्यूमो ने हिन्दू विवाह, सामाजिक संस्तरण, भौतिक सम्पर्क, श्रम-विभाजन, जजमानी व्यवस्था, शक्ति एवं सत्ता के वितरण इत्यादि तत्वों को संचालित, नियमित एवं नियन्त्रित करने वाली विचारधारा को अपने विश्लेषण का आधार बनाया है। भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन के बारे में ड्यूमो ने लिखा है कि, "समाज में परिवर्तन हो रहा है किन्तु समाज का परिवर्तन नहीं हो रहा है।" उनका 'जाति की दृष्टि से गाँव' और 'सभ्यतापरक दृष्टि से जाति' सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य लोगों के जाति अध्ययनों के परिप्रेक्ष्यों से भिन्न है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था और भारतीय गाँव की सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए भारतविद्याशास्त्रीय (इनडॉलॉजी) दृष्टि और संरचनात्मक उपागम दोनों के प्रयोग की बात कही है।

हालांकि जाति व्यवस्था विषय पर ड्यूमो के विचारों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया लेकिन फिर भी मार्क्सवादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, प्रकार्यवादी, संरचनावादी और चाहे किसी विचारधारा का व्यक्ति क्यों न हो, वह जाति व्यवस्था सम्बन्धी अपने लेखन में ड्यूमो के विचारों को अनदेखा नहीं कर सकता है। ड्यूमो का यह विचार कि, "भारत एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था के शुद्ध संस्तरण व्यवस्था से परिचालित है" को कोई भी विचारक माने अथवा नहीं लेकिन यह एक तथ्यपरक स्पष्ट कथन है। ड्यूमो ने जाति व्यव्स्था के अतिरिक्त दक्षिण भारत में प्रचलित नातेदारी व्यवस्था पर भी कार्य किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दक्षिण भारत में परमली कल्चर नामक समुदाय पर गहन कार्य किया है।

ड्यूमो एक विशेष परिचर्चा के लिए भी प्रसिद्ध है जो 1957 ई में एक लेख द्वारा प्रारम्भ हुई। अपने लेख 'भारत के लिए समाजशास्त्र' में ड्यूमो ने भारतीय समाजशास्त्र की प्रकृति, सिद्धान्त और अवधारणाओं और पद्धति विज्ञान के बारे मे अपने विचारों को प्रकट किया। बाद में इस परिचर्चा में पुस्तकों, लेखों और गोष्ठियों के माध्यम से कई समाजशास्त्रियों ने जैसे योगेन्द्र सिंह, ऑबराय, डी० नारायण आदि ने भाग लिया। इस लेख के ऊपर भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियों ने तीव्र प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त की। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र तो समाजशास्त्र है, उसके सिद्धान्त, अध्ययन उपागम, विषय-वस्तु आदि सभी देशों में एक जैसे ही हैं। यदि प्रत्येक देश का अपना समाजशास्त्र होने लगा तो समाजशास्त्र का स्वरूप विस्तृत हो जाएगा। इस प्रकार उन्होंने ड्यूमो के विचारों का विरोध किया। दूसरी ड्यूमो, पोकॉक एवं अन्य समाजशस्त्रियों ने इस विचार का जोरदार समर्थन किया कि भारत के लिए पृथक् से समाजशास्त्र

सम्भव हो। इसकी विषय-वस्तु उत्पत्ति, सिद्धान्त एवं उपागम आदि, भारत के प्राचीन इतिहास एवं महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों, आदि के आधार पर किया जाना चाहिए जो भारतविद्याशास्त्र के नाम से जाना जाता है।

ड्यूमो के अनुसार पवित्रता (शुद्ध) एवं अपवित्रता (अशुद्ध) की अवधारणाएँ विचारों पर आधारित है। ये अवधारणाऐं उस वृहद् छाते की भाँति हैं जिसमें तात्कालिक भौतिक वस्तुओं; जैसे- सफाई, स्वास्थ्यवर्द्धकता आदि से लेकर दैनिक व्यवहार एवं आदतें, संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न आयाम तक सम्मिलित है अशुद्धता को उन्होंने पुन: दो भागों में विभाजित किया है - अस्थायी अशुद्धता एवं स्थायी अशुद्धता। प्रथम प्रकार की अशुद्धता क्षणिक होती है तथा निर्धारित अवधि में समाप्त होकर पुन: शुद्धता प्राप्त कर लेती है। मासिक धर्म, प्रसवकाल एवं मृत्यु से जुड़ी अशुद्धता इसी श्रेणी के उदाहरण है। स्थायी अशुद्धता वह है जो परिवर्तनशील नहीं है; जैसे- मृत्यु संस्कार को करने वाले डोम का पेशा। पवित्रता एवं अपवित्रता से जुडे मूल्य एवं विचार विभिन्न जातियों में सामाजिक सहवास एवं खान-पान के नियमों का भी निर्धारण करते है। उनका विचार था कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पवित्रा (ब्राह्मण) तथा अपवित्र (शूद्र) के दो विरोधी परन्तु परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर सांस्कृतिक तत्वों से बनी हुई है। भारतीय संरचना के ये दो विरोधी तत्व भारतीय जाति व्यव्स्था के प्राण है। डमूमो के अनुसार ब्राह्मण तथा अस्पृश्य एक-दूसरे के पूरक हैं तथा सम्पूर्ण रचना के लिए ये दोनों तत्व आवश्यक हैं। चाहे इन दोनों में असमानता ही क्यों न हो। ड्यूमो के अनुसार सामाजिक सहवास, खान-पान एवं पेयजल आदि पर नियन्त्रण एवं निषेधों के आधार पर धार्मिक श्रेष्ठता एवं अधिनस्थता का प्रादुर्भाव होता है जो कालान्तर में आर्थिक सम्बन्धों मे उच्चता एवं निम्नता का श्रेणीक्रम निर्धारित करती है।

ड्यूमो ने 1955 ई में हेग बिश्वबिद्यालय में 'भारत के समाजशास्त्र को पीठ' की स्थापना के अवसर पर अपने भाषण में कहा है कि, “भारतीय समाजशास्त्र एक ऐसी विशिष्ट ज्ञान की शाखा है जो भारतविद्याशास्त्र और समाजशास्त्र के संगम-स्थल पर स्थित है।“ ड्यूमो ने भारतीय समाजशास्त्र को एक ओर भारत-विद्या के आधार पर स्थापित करने तथा दूसरी ओर भारतविद्याशस्त्र से पूर्णत: अलग स्वतन्त्र रूप से विकसित करने का सुझाव दिया। ड्यूमो लिखते हैं कि, "भारत हेतु समाजशास्त्र के स्थायी विकास की प्रथम शर्त यह है कि इसके और शास्त्रीय भारतविद्याशास्त्र के मध्य उचित सम्बन्धों की स्थापना हो।"

ड्यूमो ने ‘वर्णनात्मक समाजशास्त्र’ का विचार भी दिया है जिसे अनेक समाजशास्त्रियों ने अस्वीकार किया। ड्यूमा के विचारों की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। उनके इस विचार की कि जाति व्यवस्था की जडें ब्राह्मणवादी रूढ़िवादिता में गढ़ी हुई हैं तथा उनकी विविधता में एकता, सामाजिक संगठन, संस्तरण, पवित्रता-अपवित्रता सम्बन्धी विचारों की भी भारत में हो रहे सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में काफी आलोचना हुई है।

आलोचकों का कहना है कि ड्यूमो ने असमता पर आधारित समाज को आदर्श समाज मानने की भूल की है। ऐसा लगता है कि ड्यूमो का सिद्धान्त राजनीति से प्रेरित रहा है जिसके द्वारा वह यह प्रमाणित करना चाहता है कि संस्तरण पर आधारित भारतीय समाज में समानता

एक समाजवाद सम्भव नहीं है। साथ ही, ड्यूमो ने पूर्व एवं पश्चिम के चले आ रहे विवाद को पुनर्जीवित कर दिया तथा पश्चिमी समाजों में वर्ग एवं संजातीयता पर आधारित असमता को अनदेखा कर दिया।

इस प्रकार से घुरिये एवं ने भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की न केवल विवेचना की है वरन् उसकी विस्तार भी दिया है।

11.3 सामाजिक स्तरीकरण : ड्यूमो का विश्लेषण

प्रसिद्ध फ्राँसीसी सामाजिक विचारक लुई ड्यूमों ने अपनी पुस्तक 'होमी हेरारकीस' में सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था का अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ड्यूमों के सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी विचारों को विशेषकर हम उनकी पुस्तक होमो हैरारकीस में देख सकते है। यद्यपि ड्यूमो ने सामाजिक स्तरीकरण पर किसी पृथक् अध्ययन की रचना नहीं की। प्रो.लुई ड्यूमो के सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर समझा जा सकता है -

(1) जाति-व्यवस्था - पदसोपान का एक सिद्धान्त।

(2) व्यवस्था से संरचना की ओर

(3) पदसोपान: वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त।

(4) श्रमविभाजन

(5) जाति एवं व्यवसाय

(6) जजमानी प्रथा

(7) विवाह के नियम अलगाव व पदसोपान

(8) सम्पर्क व खान-पान के नियम

11.4 जाति व्यवस्था - पदसोपान का एक सिद्धान्त

प्रो.लुई ड्यूमो के अनुसार 'जाति' (Caste) पदसोपान (Hierarchy) का एक आधारभूत सिद्धान्त प्रदान करती है। ड्यूमो कहते हैं - हमारा पहला आधारभूत उद्देश्य जाति व्यवस्था की वैचारिकी (Ideology) को समझना है।

प्रो. लुई ड्यूमो अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय जिसे वे विचारों का इतिहास (History of Ideas) कहते हैं, में जाति शब्द की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। ड्यूमो जाति व्यवस्था पर अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए जाति की एक प्रारम्भिक परिभाषा स्वीकार करते हैं और इसके लिए वे सी-बोगल (C.Bougle) द्वारा 'कांट्रीब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलोजी' में प्रस्तुत परिभाषा को स्वीकार करते हैं।

बोगल के अनुसार जाति व्यवस्था सम्पूर्ण समाज को अनेक वंशानुक्रम समूहों में विभाजित करती है जो कि सामान्यत: एक दूसरे से पृथक् हैं लेकिन वे तीन विशेषताओं द्वारा एक दूसरे से जुडे हुए हैं। ये तीन विशेषताएँ निम्न हैं -

(क) अलगाव (Separation) - विवाह एवं सम्पर्क के रूप में।

(ख) श्रम विभाजन (Division of Labour) - प्रत्येक समूह सिद्धान्त के रूप में या परम्परा के तौर पर एक निश्चित व्यवसाय अपनाये हुए हैं एवं उस समूह के सदस्य कुछ निश्चित सीमाओं को छोडकर इन व्यवसायों के परे नहीं जा सकते।

(ग) पदसोपान (Hierarchy) - जो समूह के सदस्यों को एक दूसरे से श्रेष्ठता ब निम्नता के आधार पर श्रेणीगत करते हैं। लूई ड्यूमो के अनुसार बोगल की यह परिभाषा जाति व्यवस्था की आधारभूत विशेषताओं को स्पष्ट करती है।

जाति शब्द की उत्पत्ति

ड्यूमों अपनी विवेचना को 'कास्ट' (Caste) शब्द से शुरू करते हैं। वे कहते है कि 'कास्ट' शब्द की व्युत्पत्ति सामान्यत: पुर्तगाली तथा स्पेनिश शब्द 'कास्टा' (Casta) से मानी जाती है, जिसका सामान्य आशय 'प्रजाति' अथवा 'प्रजाति भेद'। ड्यूमो के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति को लेटिन शब्द 'Castus' एवं 'Chaste' से नहीं मिलाया जाना चाहिये। इस शब्द का आशय सामान्यत: प्रजाति से ही लगाया जाता रहा हैं। इसे पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य के आसपास पुर्तगालियों द्वारा लागू किया गया है। अंग्रेजी में इसका प्रयोग प्रजाति के रूप में सन् 1555 के आस-पास होता रहा है एवं भारतीय अर्थ में जाति शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो पाया है। फ्रांसिस भाषा में इसे 'कास्ट' कहा गया जो 1800 से पूर्व छुटपुट रूप में पाया जाता रहा है। तकनीकी रूप से इसका प्रयोग 1700 के बाद ही प्रारम्भ हुआ है। अब्बु दुबाय जैसे महान् फ्राँसीसी विचारक ने भी 'कास्ट' शब्द का उपयोग प्रजातीय भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए ही किया। इस को तीन विभिन्न कालो में समझा जा सकता है। ड्यूमो ने तीन कोटियों को पृथक्-पृथक् नाम दिये है। यहाँ हम इन तीन कोटियों को थोडे विस्तार से देखेंगे।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(क) स्पष्टीकरणात्मक सम्प्रभुता की प्रवृति - इसमें ड्यूमो जाति व्यवस्था के अस्तित्व के स्पष्टीकरण को जब ढूँढा गया उस काल को शामिल करते हैं।

(ख) वर्णात्मक-सम्प्रभुता की प्रवृत्ति-ड्यूमो के अनुसार यह वह काल है जिसमें वर्णात्मक-सम्प्रभुता मुख्य रही। यह 20 वीं शताब्दी के आस-पास का समय माना गया है।

(ग) वर्तमान समय - इसे ड्यूमो 1945 से प्रारम्भ मानते हैं एवं इसमें भी प्रमुख रूप से नृतत्वशास्त्रियों द्वारा किए गए गहन अध्ययनों को सम्मिलित करते हैं। ड्यूमो कहते हैं कि इस समय जाति व्यवस्था का विश्लेषण अधिक विस्तृत एवं अधिक स्पष्ट हो गया था।

लुई ड्यूमो के अनुसार 18 वीं शताब्दी के आरम्भ के समाज मूलत: प्रारम्भिक शासकों द्वारा संचालित किए गए थे एवं दूसरे, इस समय तक जाति व्यवस्था में धार्मिक पक्ष का बड़ा प्रबल महत्व था। ड्यूमो के अनुसार इस समय पुजारियों तथा ब्राह्मणों का स्थान जाति व्यवस्था में सर्वोच्च माना जाता था एवं ब्राह्मणों व पुजारियों ने अपने स्वार्थ की खातिर इस मिथ्या धारणा को बना रखा था कि उनका स्थान सर्वोच्च है।

प्रो. लुई ड्यूमो आगे कहते हैं कि 17 वीं शताब्दी के अन्त तक यह प्रश्न प्रबल रूप से उभर कर सामने आया कि जाति को धार्मिक आधार पर समझा जा सकता है या सामाजिक आधार पर। ड्यूमो ने अनेक अध्ययनों के आधार पर इस बात की विस्तार से विवेचना की है

कि जाति 'धार्मिक आधार' पर समझी जा सकती है या सामाजिक आधार पर। उन्होंने अपने कथन की दृष्टि में मैक्स मूलर, मैक्स वेबर, नेसफील्ड, हट्टन, सोनार्ट एवं होकार्ट के विचारों को प्रमुखता के साथ शामिल किया है।

19 वीं शताब्दी के अन्त में मैक्समूलर ने इस प्रश्न को महत्व दिया कि जाति का आधार धार्मिक है या सामाजिक लेकिन उनका संदर्श दूसरा था। यदि जाति अपनी प्रवृति. से धार्मिक है, तो भारत ने अंग्रेजी सरकार ने जिसका उद्देश्य सामान्यत: कभी किसी के निजी मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं होता था ने भी इसके औचित्य को स्वीकार किया। मैक्समूलर जिनकी जाति का सिद्धानत थोडा जटिल है, ने भी स्वीकार किया कि लगभग सभी समाजों में यह व्यवस्था जन्म, सामाजिक स्थिति एवं शिक्षा के श्रेणी तक लोगों को विभाजित करने की व्यव्स्था है।

लुई ड्यूमो का कथन है कि अधिक शिक्षित हिन्दुओं का मानना था कि जाति का आधार भारत में सामाजिक है न कि धार्मिक. और इसका मुख्य कारण यह था कि वे पश्चिमी दृष्टिकोण के आधार पर अपनी संस्थाओं के औचित्य को स्पष्ट करना चाहते हैं।

इसके अलावा लुई ड्यूमो के अनुसार जाति समाज एवं आधुनिक समाज के सम्पर्क को समझने पर एक अन्य आधार श्रम विभाजन एवं व्यवसायिक विशिष्टता है। इस सम्बन्ध में ड्यूमों ने नेसफील्ड के सिद्धान्त की विशेष रूप से विवेचना की है।

नैसफील्ड (Nesfield) का कथन है कि "जाति-प्रथा की उत्पत्ति में प्रजातीय भिन्नता का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था के विकसित होने के कम सक कम एक हजार वर्ष पहले ही प्रजातिय मिश्रण इतना अधिक हो चुका था कि प्रजाति के आधार पर इस तरह का कोई भी विभाजन करना असम्भव था। इसके अतिरिक्त आपने धुरिये तथा अब्बु डुब्बाव के ब्राह्मण-वादी विचारों को भी स्वीकार नहीं किया है। नैसफील्ड का कथन है कि "भारत में जाति अवस्था की उत्पत्ति में व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही एक मात्रा उत्तरदायी कारक रहा है।" इनका मत है कि आरम्भ में प्रत्येक व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को कर सकता था। पुरोहिती के काम पर भी ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं था। कालान्तर में धार्मिक और यज्ञ से सम्बन्धित कार्य इतने जटिल हो गये कि इन्हें पूरा करने के लिए एक विशेष शान की आवश्यकता हुई। उस समय यज्ञ और धार्मिक कार्यो का सामाजिक जीवन में बहुत महत्व होने के कारण जो व्यक्ति भी इनको पूरा करने लगे, समाज में उनकी प्रतिष्ठा सर्वोच्च हो गयी। ऐसे व्यक्तियों को 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे पुरोहितों का यह कार्य आनुवंशिक हो गया। जब ब्राह्मणों ने पुरोहितों के व्यवसाय पर एकाधिकार कर लिया तब उससे कम महत्वपूर्ण कार्य अर्थात् प्रशासन पर एक दूसरे वर्ग ने एकाधिकार कर लिया, जिन्हें 'क्षीत्राय' कहा गया। इसके पश्चात् जिस वर्ग ने व्यापार, पशु-पालन और आर्थिक क्रियाओं पर एकाधिकार स्थापित किया, वे वैश्य कहलाये। इस प्रकार जाति-विभाजन का कारण आंशिक रूप से सुरक्षात्मक था और आंशिक रूप से अनुकरणात्मक। इस आधार पर नैसफील्ड ने यह निष्कर्ष दिया कि जाति समाज की एक स्वाभाविक उपज है जिनके निर्माण में 'धर्म' का कोई स्थान नहीं रहा है।

इसके अलावा एक अन्य सिद्धान्त जो हट्टन ने प्रस्तुत किया है की भी विवेचना लुई ड्यूमो ने की है। वे कहते हैं कि हट्टन का मानना है कि जाति को बजाय पश्चिमी संस्थाओं से सम्बन्धित करने के आदिम समाजों या सरल समाजों की संस्थाओं में देखना चाहिये। हट्टन ने 1931 की जनगणना के समय जाति से सम्बन्धित कुछ तथ्य एकत्रित किये और उनका मानना है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए तीन पक्षों को स्पष्ट करना आवश्यक होगा -

(क) जाति-व्यवस्था में व्यवसाय का आनुवांशिक रूप।

(ख) विवाह, खान-पान तथा सामाजिक सहवास सम्बन्धी प्रतिबन्ध।

(ग) जातियों में ऊँच-नीच की व्यवस्था।

विभिन्न जातियों के बीच विवाह, सामाजिक सम्पर्क और खान-पान से सम्बन्धित प्रतिबन्ध क्यों पाए जाते हैं? इसे हट्टन की नागा जनजाति में प्रचलित 'टेबू' (Taboo) और 'माना' (Mana) जैसे विश्वासों के आधार पर स्पष्ट-किया है। सभ्यता से दूर रहने वाली नागा जनजाति और कुछ दूसरी जनजातियों में अनेक व्यवहारों पर अनेक निषेध लगाते हैं। आदिवासी विश्वासों के अनुसार "माना एक ऐसी अशरीरी ओर अलौकिक शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति में विद्यमान रहती है। स्पर्श के द्वारा यह एक-दूसरे में आ-जा सकती है, जिसका प्रभाव अच्छा हो सकता है और अनिष्टकारी भी है।" 'माना' सम्बन्धी विश्वासों के कारण यह आदिवासी समूह किसी भी बाहरी व्यक्ति अथवा अपरिचित समूह से दूरी बनाये रखते है। स्वयं अपने ही समूह में वे ऐसे व्यक्तियों का स्पर्श करने अथवा उनके साथ खान-पान पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जिन्हें दुष्ट आत्माओं से प्रभावित समझा जाता हैं। हट्टन का विश्वास है कि भारत में आने से पहले ही आर्या में सामाजिक आधार पर विभाजन की एक भावना विद्यमान थी। यहाँ के मूल निवासियों में 'टैबू' और 'माना' सम्बन्धी भेदभाव को देखकर उन्होंने इसे और अधिक स्पष्ट तथा निश्चित रूप दे दिया जिससे आर्या को सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव स्थायी हो जाए। इसी के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था में विवाह, खान-पान और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित तरह-तरह के प्रतिबन्ध जुड़ गए।

11.5 जाति प्रथा की उत्पत्ति के सिद्धान्त एवं डयूमो का विश्लेषण

लुई ड्यूमो जाति-व्यवस्था के कुछ ऐतिहासिक स्पष्टिकरणों की भी विवेचना करते हैं जिनमें वे विशेषकर तीन प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं -

(क) इण्डाँयूरोपीयन एवं दविड़ियन सिद्धान्त।

(ख) प्रजातीय सिद्धान्त।

(ग) प्रसारवीद सिद्धान्त।

(क) इण्डोयूरोपीयन एवं द्रविड़ियन सिद्धान्त :

प्रो.लुई ड्यूमो कहते हैं कि 19 वीं शताब्दी में वे विद्वान् जो भारत में अध्ययन कार्य में व्यस्त थे वे पहले इण्डोयूरोपियन पक्ष से निर्देशित थे एवं भारतीय इतिहास का अधिकांश प्राचीन समय इण्डोयूरोपियन भाषायी जनसंख्या के भारत में आगमन का है। यह वह जनसंख्या

है जिसकी विवेचना वेदों व अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध है अत: यह स्वाभाविक है कि जाति का एक इण्डोयूरोपीयन सिद्धान्त हो जिसे सेनार्ट ने 1896 में प्रस्तुत किया।

सेनार्ट (Senart) ने जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत भोजन, विवाह और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्धों पर अपना ध्ययन केन्द्रित करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कुलदेवता की पूजा और परिवार में भोजन सम्बन्धी निषेधों की भिन्नता पर आधारित है। इसे स्पष्ट करते हुए आपका कथन है कि भारत में आर्यो के आक्रमण के पश्चात् प्रजातीय मिश्रण बढ़ जाने के कारण विशुद्धता का स्तर दो भागों में विभाजित हो गया - एक ओर वे व्यक्ति थे जो अपनी वंश-परम्परा के आधार पर विशुद्ध होने का दावा करते थे और दूसरी ओर कुछ व्यक्ति ऐसे थे जो अपने परम्परागत व्यवसाय के आधार पर स्वयं को विशुद्ध कहते थे। इन दोनों ही परिस्थितियों के फलस्वरूप अनेक समूहों की रचना हो गई। एक ओर भिन्न-भिन्न कुल देवताओं में विश्वास करने वाले समूह एक-दूसरे से पृथक् हो गए और दूसरी ओर व्यवसाय की भिन्नता के कारण इस पृथकता में और अधिक वृद्धि हुई। सेनार्ट का कथन है कि पुरोहितों का कार्य करने वाले व्यक्ति सबसे अधिक संगठित थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी नैतिक शक्ति के दबाव से इन सभी समूहो (अथवा जाति-व्यवस्था) में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार धार्मिक आधार पर ही समाज कुछ समूहों में विभाजित हुआ और धार्मिक शुद्धता के अनुसार ही विभिन्न समूहों को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई।

(ख) प्रजातीय सिद्धान्त

इसी प्रकार ड्यूमो के अनुसार वर्तमान में प्रजातीय सिद्धान्त का भी काफी प्रभाव रहा। जाति-व्यव्स्था की उत्पत्ति को स्पष्ट करने में प्रजातीय आधार को लगभग सभी विद्वानो ने किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। प्रजातीय सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में हर्बर्ट रिजले का नाम विशेष उल्लेखनीय है। हर्बर्ट रिजले के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति में तीन महत्वपूर्ण कारक उत्तरदायी रहे हैं, वें हैं -

(क) प्रजातीय सम्पर्क,

(ख) इस सम्पर्क से उत्पन्न वर्णसंकरता, तथा

(ग) वर्ग-भेद की भावना।

रिजले के अनुसार भारत में जाति-व्यवस्था आरम्भ से ही विद्यमान नहीं थी, बल्कि इसका आरम्भ आर्यो की उस शाखा से द्वारा हुआ जिसने गिलगिट और चिवाल के रास्ते से भारत में आकर यहीं के मूल निवासी द्रविडों को परास्त किया था। रिजले का कथन है कि जहाँ कहीं विश्व के इतिहास में एक जनसमूह ने दूसरे जनसमूह पर आक्रमण करके उन्हें परास्त किया है वहाँ विजेताओं ने हारे हुए समूह की स्त्रियों को तो पत्नी के रूप में स्वीकार किया लेकिन अपने समूह की स्त्रियों को हारे हुए लोगों के सम्पर्क में जाने पर प्रतिबन्ध लगाए हैं। यदि विजित और विजेता एक ही प्रजाति के होते हैं तब उनके बीच अनुलोम विवाह की यह धारणा जल्दी ही कमजोर पड़ जाती है और दोनों समूह एक-दूसरे से घुल-मिल जाते हैं लेकिन यदि इन दोनों समूहों की प्रजातीय विशेषताएँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं तब अनुलोम अथवा कुलीन विवाह को एक नियम का रूप दे दिया जाता है। इस स्थिति में प्रभावशाली अथवा

विजेता लोग दूसरे रक्त के समूहों से सामाजिक दूरी की नीति अपनाते हैं। यही से वर्णसंकरता की स्थिति आरम्भ होती है क्योंकि विजेता और विजित समूह के स्त्री-पुरुषों के बीच अनियमित सहवास तब भी स्थापित होता रहता है। इस प्रकार रक्त की विशुद्धता और वर्णसंकरता के आधार पर विभिन्न समूहों के बीच ऊँच-नीच की भावना जन्म ले लेती है।

रिजले का विश्वास है कि आर्यो में विशुद्धता के आधार पर सामाजिक विभाजन की व्यवस्था पहले से ही प्रचलित थी। जब आर्य भारत में आए तब उन्होंने प्रजातीय आधार पर स्वयं को उच्च और द्रविड़ों को निम्न वर्ण का कहना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में प्रजातीय सम्पर्क में वृद्धि होने से आर्य स्वयं भी रक्त की विद्वता के आधार पर तीन प्रमुख वर्णो में विभाजित हो गए जबकि द्रविड़ों को 'दास' अथवा 'शूद्र' कहा जाने लगा। इसके उपरान्त जब कभी भी अनुलोम के नियम की अवहेलना हुई अर्थात उच्च वर्ण की स्त्रियों ने निम्न वर्ण के पुरुषों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किए, तब ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को वर्णसंकर मान लिया गया तथा इस वर्णसंकर समूह को एक नवीन जाति के रूप में देखा जाने लगा। इस आधार पर वैवाहिक नियमों का उल्लंघन होते रहने की स्थिति में जातियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही और वर्ग-भेद की भावना के कारण कभी भी एक जाति दूसरी जाति से नहीं मिल सकी। इस प्रकार रिजले के अनुसार प्रजातीय संघर्ष-अनुलोम विवाह की नीति-प्रजातीय मिश्रण वर्ण-संकर समूहों का निर्माण वर्ण-भेद, आदि जातियों की उत्पत्ति का वास्तविक क्रम रहा है। रिजले ने तो यहीं तक निष्कर्ष दे दिया कि भारतवर्ष में व्यक्ति की नाक की बनावट (जो एक प्रजातीय लक्षण है) से ही उसकी सामाजिक अथवा जातिगत स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है।

(ग) प्रसारवाद सिद्धान्त:

तीसरे प्रकार का स्पष्टीकरण जो कि सांस्कृतिक इतिहास से लिया गया है एवं जिसका प्रचलन नृतत्वशास्त्र में अधिक था, प्रसारवाद का है। ड्यूमो इसमें होकार्ट के विचारों को शामिल करते हैं। होकार्ट का मानना है कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था की उत्पत्ति अनेक धार्मिक क्रियाओं अथवा कर्मकाण्डों से सम्बन्धित है। होकार्ट के अनुसार कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाएँ पवित्रता के आधार पर अनेक उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित होती है। इसके अतिरिक्त इन क्रियाओं की संख्या भी इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक क्रिया के लिए कुछ विशेष व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जैसे - मन्त्रोच्चरण के लिए पुरोहित, निमन्त्रण देने के लिए नाई, फूल लाने के लिए माली, सामान्य सेवा के लिए कहार आदि। इस प्रकार होकार्ट का मत है कि 'आरम्भ में ही चारों वर्णो का विभाजन प्रमुख रूप से इन धार्मिक क्रियाओं को पूरा करने के उद्देश्य से हुआ। चारों वर्णो के जिन चार रंगों, अर्थात सफेद, लाल, पीला और काला-का जो उल्लेख मिलता है वह भी वास्तव में विभिन्न वर्णो द्वारा की जाने वाली धार्मिक क्रियाओं की पवित्रता के अनुसार उनकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण हुआ जो आनुवंशिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने लगी।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि तुलना, समझ व विश्लेषण की दृष्टि से 20 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध काफी प्रगतिशाली रहा है। इस समय धुर्य, हट्टन व होकार्ट आदि के विचारों ने जाति समाजों पर अपने अनुभव के आधार पर अपने-अपने दृष्टिकोण से तुलनाएं प्रस्तुत की।

ड्यूमो के अनुसार 1945 के बाद का समय प्रमुखत: व्यवसायिक नृतत्व-शास्त्रियों के क्षेत्रीय अध्ययन व अवलोकनों का रहा। ड्यूमो ने इस समय प्रो.एम.एन.श्रीनिवास की दो अवधारणाओं - प्रभुत्व जाति व संस्कृतिकरण-का विशेष उल्लेख किया है जो कि विशेषकर निम्न वर्ग के लोगों द्वारा अपनी प्रस्थिति सुधारने के लिए ब्राह्मणों के अनुकरण से सम्बन्धित थी।

लुई ड्यूमो के अनुसार जहाँ तक पदसोपान के अध्ययन का प्रश्न है यदि हम मोनोग्राक्स को इसमें सम्मिलित न करें तो देखते है कि इस्टीबेसन्स ने ब्लंट से आगे प्रगति की है और मैकीम मेरियट ने स्टीवेंसन्स से आगे काम किया है, लेकिन फिर भी पदसोपान को अपने स्वाभाविक रूप में अध्ययन करने का अभाव अभी भी बना हुआ है। ड्यूमो कहते है कि इस समय तक सामाजिक स्तरीकरण पर काम करने का एक फैशन-सा हो गया। निःसंदेह यह श्रेणीगत विभिन्नता को तो स्पष्ट करता है, मगर यह पदसोपान व्यवस्था को समझने में विशेष सहायता नहीं करता एवं साथ ही साथ जाति-व्यवस्था के दूसरे पक्षों जैसे श्रम-विभाजन की भी अवहेलना करता है जैसी कि पहले जाति के धार्मिक पक्ष के साथ किया गया। ड्यूमो के अनुसार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते है कि जाति धार्मिक आधार से अधार्मिक आधार की ओर अधिक अग्रसर हुई, एवं दूसरे सम्पूर्ण के लिए किसी एक भाग को अध्ययन करने की प्रवृत्ति (अलगाव या पदसोपान) एवं पद सोपान के घटते रूप पर अधिकांश रूप से ध्यान दिया जाए।

11.6 व्यवस्था से संरचना की ओर

ड्यूमो अपनी पुस्तक 'होमो हेरारकीज दी कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इम्लीकेशंस' के दूसरे अध्याय को अवस्था से संरचना की ओर नाम देते है। यहाँ ड्यूमो का आश्य जाति-अवस्था से उसकी संरचना की ओर है। प्रो.लुई ड्यूमो अपने इस अध्याय में जाति-व्यवस्था से उसकी वैचारिकी तथा विशेष रूप से उसकी पवित्रता अपवित्रता की धारणा की विवेचना करते है।

ड्यूमो आरम्भ में ही यह प्रश्न उठाते है कि भारत में कितनी जातियाँ हैं? क्या इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य जातियों की सूची बनाई जा सकती है अथवा उनकी संख्या गिनी जा सकती है। स्वयं ड्यूमो ही प्रत्युत्तर के रूप में यह कहते हैं कि इस तरह के प्रश्न पाठकों के मन में उतना स्वाभाविक है लेकिन फिर भी हम यही इन प्रश्नों का उत्तर इसीलिए नहीं दे रहे हैं क्योंकि वे सामान्यत: अर्थहीन ही समझे जाते हैं जातियों की संख्या गिनने या उनकी सूची बनाने से हमारे अध्ययन का कोई पक्ष स्पष्ट नहीं होता। अत: हम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देगें।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि जैसा कि हम देखेगे कि प्रत्येक वास्तविक जाति व्यवस्था कम या अधिक रूप में एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित होती है। आपके अनुसार पदसोपान व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान भारत के लगभग समस्त क्षेत्रों में सबसे ऊपर आता है तो क्या

हम ब्राह्मण जाति की बात कर सकते है। ड्यूमो के अनुसार ऐसा करना एक श्रेणी के रूप में यहाँ वर्ण-व्यवस्था कहा जाता है जाति नहीं। ठीक यही स्थिति अछूतों की भी है, जो कि इस पद सोपान व्यवस्था में सबसे नीचे आती है। इन अछूतों की अनेक जातियाँ केवल एक ही भौगोलिक क्षेत्र या जिले में देखी सकती है। ड्यूमो उदाहरण देकर कहते हैं कि नाई लगभग भारत में सभी जगह पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी प्रस्थति उत्तरी भारत व दक्षिणी भारत दोनों ही जगह पृथक्-पृथक् स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

लुई ड्यूमो के अनुसार जाति जो कि बाहर से एक दिखाई देती है, अपने भीतरी स्वरूप में अनेक मतों में विभाजित है अर्थात एक जाति की अनेक उपजातियाँ होती हें और भी सामान्य रूप में एक विशिष्ट जाति एक जटिल समूह है जो कि विभिन्न अवस्थाओं और स्तरों के द्वारा समझी जा सकती है एवं इन विभिन्न स्तरों के साथ अलग-अलग प्रकार्य लगाए गए है।

ड्यूमो के अनुसार सामान्य शब्दों में जाति मस्तिष्क की एक दशा है अर्थात मस्तिष्क की एक ऐसी दशा जिसे विभिन्न समूहों के विभिन्न परिस्थितियों में उद्भव आदि के रूप में जाति के तौर पर परिभाषित किया जाता है।

ड्यूमो यहाँ हट्टन द्वारा प्रस्तुत परिभाषा को देखते है जो कि उन्होंने विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर तैयार की। प्रो.हट्टन के अनुसार जाति समाज की अर्द्ध-सावयवी व्यवस्था (Organic System) में एक सामाजिक इकाई के रूप में देखी व समझी जा सकती है तथा इसे सम्पूर्ण भारत में आसानी से पहचाना जा सकता है। प्रो.हटन जो कि 19 व 21 की भारतीय जनगणना के अखिल भारतीय कमिश्नर एवं एक निर्विवाद लेखक थे, ने जाति की एक अन्य परिभाषा देते हुए लिखा है कि जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अनेक आत्म-केन्द्रित तथा एक-दूसरे से पृथक् इकाइयों (जातियो) में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच-नीच के आधार पर परम्परा द्वारा निर्धारित होते है।

हट्टन द्वारा प्रस्तुत विचार पश्चिम विचारकों की सूची मे यद्यपि अधिक संतुलित हैं लेकिन जिन अर्थो में हट्टन ने 'आत्म-केन्द्रित' शब्द का प्रयोग किया है जिसका सम्बन्ध मूलत: जातिवाद से है जाति-अवस्था से नहीं। हट्टन ने लिखा है कि आधुनिक विज्ञानों की एक विशेषता यह है कि संरचना के किसी एक तत्व को तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक कि उसके प्रकार्या को न देखा जाए।

इस तरह हट्टन समाजशास्त्र में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के समर्थक समझे जाते हैं। हट्टन का आग्रह है कि हमारा पहला लक्ष्य सम्पूर्ण व्यवस्था का अध्ययन करना है और तभी हम सम्पूर्ण जाति को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

ड्यूमो आगे इस तथ्य की भी विवेचना करते है कि जाति एक 'व्यवस्था' से हम क्या समझते हैं। ड्यूमो के अनुसार यह शब्द दो विभिन्न आधारों में सामान्यत: प्रयुक्त किया जाता है, वे हैं -

(क) आनुभाविक रूप में (Empirically)

(ख) वैचारिकी रूप में (Ideologically)

ड्यूमो के अनुसार वे जातियाँ जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहती हैं, उन्हें भौगोलिक परिस्थितियों के रूप में देखा जा सकता है। उनके अनुसार इस बात को माने के पर्याप्त कारण है कि प्राचीन समय में जाति-व्यवस्था इस तरह के अमूर्त सम्पूर्ण रूप मे देखी पर यह आधार न तो प्राथमिक माना जा सकता है और ना ही पर्याप्त बल्कि इसका मूर्त सम्पूर्ण के लिए हमें इसे सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर देखना चाहिए। इस अर्थ में कोई व्यक्ति जातिव्यवस्था को भारतीय संस्था के रूप में विश्लेषित कर सकता है। इस प्रकार इस स्तर पर सम्पूर्ण रूप में जाति-व्यवस्था विचारों (Ideas) एवं मूल्यों (Values) की एक व्यवस्था है एवं बौद्धिक अर्थ में जाति-व्यवस्था एक औपचारिक, व्यापक एवं तार्किक व्यवस्था है।

लुई ड्यूमो के अनुसार यहीं हमारा पहला उद्देश्य जाति-अवस्था की इस बौद्धिक व्यवस्था को देखना व समझना है। दूसरे शब्दों में हमें इसकी वैचारिकी को देखना है अत: ड्यूमो के अनुसार हमारे लिए प्रथम तो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य जाति को विचारों ब मूल्यों की व्यवस्था के रूप में देखना, समझना व विश्लेषित करना हैं।

11.7 पवित्रत एवं अपवित्रत की अवधारणा

लुई ड्यूमो ने 'पवित्रा' एवं 'अपवित्रा' शब्दों की विवेचना की है। ड्यूमो कहते हैं कि इन शब्दों को समझने के लिए सतही तौर पर दो प्रश्न हमारे सामने प्रमुख रूप से उभर कर आते है-

(क) पवित्रा व अपवित्र का अन्तर अनुवांशिक समूहों पर क्यों लाग किया जाता है ? एवं

(ख) यदि ये ब्राह्मणों व अछूतों के विरोधाभास के कारण है तो क्या इन्हें विशाल समाजों के विभाजन जो कि अनेक समूहों में विभाजित दिखाई देते है, पर भी समान रूप से लागू किया जा सकता है?

लुई ड्यूमो के अनुसार हम यहाँ इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर नहीं देंगे, लेकिन इन पर संक्षिप्त रूप में टिप्पणी अवश्य करेंगे आपका मानना है कि सामान्य रूप से ही स्वीकार किया जाता है कि इन दो पूर्ण विरोधी कोटियों ब्राह्मणों व अछूतों के लिए सामान्यत: इन दोनों अवधारणाओ-पवित्र व अपवित्र का प्रयोग किया जाता है।

ब्राह्मण सैद्धान्तिक रूप से पुजारी हैं, जो कि सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था में श्रेष्ठता की श्रेणी पर आते हैं एवं अछूत जो कि बहुत अधिक अपवित्रा नौकर हैं। इन अछूतों को सामान्यत: गाँव से अलग-थलग रखा जाता है एवं ये लोग सामान्यत: उन कुओं से पानी नहीं प्राप्त कर सकते हैं (वर्तमान में थोड़े-बहुत स्थानीय संशोधनों को छोडकर) जहाँ से अन्य दूसरे व्यक्ति पानी प्राप्त किया करते हैं। ये अछूत हिन्दू मन्दिरों में प्रदेश नहीं कर सकते एवं ऐसी ही अनेक निर्योग्यताएँ इन अछूतों पर लागू की गई हैं।

ड्यूमो लिखते है कि यहाँ यह समझ जाना चाहिए कि इस परम्परागत स्थिति में गाँधी के द्वारा चलाए गए आन्दोलनों से थोडा-बहुत परिवर्तन अवश्य आया है एवं स्वतन्त्र भारत ने अपृश्यता को अवेध घोषित किया है। ड्यूमो के अनुसार निःसन्देह यह एक महत्वपूर्ण चरण है,

लेकिन यह चरण एक रात में परम्परागत स्थिति को परिवर्तित करने की क्षमता नहीं रखता एवं इसी परम्परागत स्थिति से हमारा यहाँ सम्बन्ध हैं।

ड्यूमो ने आगे चलकर अपनी पुस्तक में इस बात की विस्तार से विवेचना की कि पवित्रता व अपवित्रता की धारणा को किस प्रकार जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित किया गया है। ड्यूमो पवित्रता और अपवित्रता की धारणा को जाति-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग मानते है और इसी आधार पर इनकी विवेचना करते है। पुन: ड्यूमो ने 'अपवित्रता' की धारणा को दो भागों में विभाजित किया

(अ) अस्थाई अपवित्रता,

(ब) स्थाई अपवित्रता।

ड्यूमो के अनुसार संसार के अधिकाँश भागों में व्यक्ति के जन्म, मृत्यु आदि घटनाओं को लगभग सभी परिवारों में महत्वपूर्ण माना जाता है और इन घटनाओं से प्रभावित व्यक्तियों की 'अस्थाई अपवित्रता' की धारणा आरोपित की जाती है। फलस्वरूप इन अस्थाई अपवित्र व्यक्तियों के लिए अन्य व्यक्तियों का सम्पर्क आदि निषेध होता है।

ड्यूमो एक उदाहरण देकर इस बात की विवेचना करते हैं कि एक नई कैथोलिक माँ जिसने एक बच्चे को जन्म दिया है, चर्च से केवल चालीस दिनों तक बाहर रहती है। अर्थात 40 दिनों तक उसके लिए चर्च में प्रवेश अपवित्रता है एवं इन चालीस दिनों के बाद वह एक जलती हुई मोमबत्ती लेकर पहली बार चर्च के पोर्च में पादरी से मिलती है और अपनी पवित्रता को पुन: प्राप्त करती है।

लुई ड्यूमो के अनुसार अपवित्रता की यह धारणा जिस रूप में दिखाई देती है उसके लिए स्थान कर लेना इस अपवित्रता को समाप्त करने देने का सबसे बडा उपाय है।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि भारत में ही इस प्रकार की अपवित्रता का सामना करना पड़ता है। वे प्रो.पी.बी.काने (P.V.Kane) की पुस्तक 'हिस्ट्री ओफ धर्मशास्त्र' से उदाहरण देकर बताते हैं कि एक व्यक्ति को घनिष्ठ सम्बन्धी एवं एक अच्छे मित्र को इन धारणाओं के कारण कुछ निश्चित समय के लिए अछूत रहना पड़ा। ड्यूमो ने भारतीय आदिवासी समाजो से अनेक उदाहरण देकर इस अपवित्रता की धारणा की विस्तार से विवेचना की है।

लुई ड्यूमो अपने अध्ययन में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का भी सहारा लेते हैं एवं इन ऐतिहासिक तथ्यों के द्वारा पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा को समझाने का प्रयास करते हैं। वे कहते है कि आदर्शात्मक साहित्य अर्थात् धार्मिक साहित्य मैं शुद्धीकरण (शुद्धि) को एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में समझा जाता है। ड्यूमों ने मनु से उदाहरण लेकर इस तथ्य की विवेचना की है कि मनु अपवित्रता के जिन बाहर क्षेत्रों की विवेचना करता है जो कि मूलत: अपने मूल्यों पर आधारित है जैसे सिल्क को सूती कपड़े की अपेक्षा एवं सोने को चाँदी व ताँबे की अपेक्षा पवित्र मान गया हैं लेकिन ड्यूमो के अनुसार वस्तुएँ 'सम्पर्क' से अपवित्रता नहीं मानी जाती बल्कि वे इस बात से पवित्र व अपवित्र मानी जाती है कि उनका किस तरह प्रयोग किया जाता है। लेकिन ड्यूमो यह भी बताते हैं कि वर्तमान में नए गहने इत्यादि लगभग सभी व्यक्तियों द्वारा पहने जाते है। ड्यूमों लिखते हैं कि यह, देखा गया है कि व्यक्ति के स्वयं का

विस्तार, उसके गहने, उसकी पत्नी, उसके बच्चे, उसके पानी के बर्तन, आदि उसके लिए पवित्र हो सकते है लेकिन ये ही वस्तुएँ दूसरे के लिए अपवित्र हो सकती है।

ड्यूमो इसी सम्बन्ध में 'पारिवारिक अपवित्रता' की चर्चा करते हैं, और कहते हैं कि इस तरह की अपवित्रता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसे भारत में 'सूतक' के रूप में देखा जा सकता है जो कि विशेषत: जन्म एव मृत्यु के अवसरों पर स्पष्टत: देखी जा सकती है। जन्म जहाँ केवल माँ एवं उसके बच्चे को अपवित्र करता है वहाँ मृत्यु के कारण मृतक के सभी सम्बन्धी अपवित्र माने जाते हैं।

ड्यूमो के अनुसार यह पवित्रता 'भौतिक अपवित्रता' की अपेक्षा एक तरह से सामाजिक अपवित्रता है एवं इसे न केवल उस घर में जहाँ कि मृत्यु हुई है अनिवार्य रूप से देखा जाता है बल्कि मृतक के सम्बन्धियों में भी भले ही वे कितने ही दूर रहते हों स्पष्टत: देखा जा सकता है।

लुई ड्यूमो के अनुसार यह पवित्रता, नातेदारी (Kinship) की श्रेणियों के अनुसार अलग-अलग देखी जा सकती है अपने कथन की पृष्टि में ड्यूमों प्रो.कैने के अध्ययन से उदाहरण देकर बताते हैं कि यह अपवित्रता पिता, माता, लड़के, पति, पत्नी व मुखिया के लिए सामान्यत: दस दिन की (यदि वह इनमें से कोई एक नहीं हैं एवं उस संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों के लिए तीन दिन की एवं अन्यों के लिए मृत्यु की खबर सुनने के बाद स्नान करने तक देखी जा सकती है। प्रो.लुई ड्यूमो कहते हैं कि इन अपवित्रता के अलावा भी अन्य अनेक अपवित्रताओं को स्पष्टत: देखा जा सकता है। जैसे एक रजस्वला स्त्री (Mansturate Woman) अपने मृत पति के साथ सती भी नहीं हो सकती। उसे चार दिन तक इन्तजार करना पड़ता हैं एवं स्वयं को जिन्दा जलाने से पूर्व अनिवार्य रूप से स्नान करना पड़ता है। यदि किसी निकटस्थ व्यक्ति की मृत्यु हो जाए तो विवाह समारोह भी स्थगित हो जाते हैं।

ड्यूमो के अनुसार किस तरह इन अस्थाई पवित्रताओं को समाप्त किया जा सकता हैं वे बताते हैं कि इसका सबसे पड़ा उपाय स्नान करना है एव पानी पवित्राता का सबसे बड़ा साधन है। यद्यपि पानी की भी अपनी विभिन्न सीमाएँ हैं। उदाहरण के लिए किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर व्यक्ति को निश्चित अवधि के बाद कपड़ों सहित नहाना होता है फिर पानी भी सभी तरह की अपवित्रताओं में पवित्रता का सबसे अच्छा साधन माना जाता है, इनमें भी अनेक पानी है जैसे गंगा का सर्वाधिक पवित्र माना जाता है। इसी प्रकार मुण्डन संस्कार जिसमें किसी बच्चे के सिर के बाल को समर्पित किए जाते हैं एवं गाय के पाँच उत्पाद (गोमूत्रा, उपले आदि) ही हिन्दुओं के लिए अपवित्र से पवित्र होने के सहायक है। ये अपवित्रता के साधन व्यक्तियों को उनके काम से लौटने के बाद या बाजार से आने के बाद भी पवित्र करते हैं।

ड्यूमो के अनुसार इस प्रकार गंगा में नहाना एवं गाय के विभिन्न उत्पादों का प्रयोग करना भी अपवित्र से पवित्र होने का साधन है।

11.8 पद-सोपन : वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त

प्रो.लुई ड्यूमो ने अपनी पुस्तक में पद-सोपान वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त प्रस्तुत किया हैं लुई ड्यूमो अपने इस अध्ययन में पद-सोपान व्यवस्था की सामान्य विवेचना के साथ-साथ

वर्ण-व्यवस्था, जाति एवं वर्ण, पद-सोपान एवं शक्ति, प्रादेशिक प्रस्थिति श्रेणी व केन्द्रीय भारत का एक प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत करते है प्रो.लुई ड्यूमों के अनुसार पद-सोपान के मूल अर्थ आरम्भ में धार्मिक श्रेणियों से था लेकिन आधुनिक युग में ड्यूमो के अनुसार पद-सोपान व्यवस्था ही 'सामाजिक स्तरीकरण' के रूप में परिवर्तित हो गई। वे कहते है कि पद-सोपान व्यवस्था को जहाँ पूरी तरह धार्मिक मूल्यों के साथ सम्बन्धित किया जाता है, वही यह देखना स्वाभाविक है कि यह पद-सोपान व्यवस्था किस तरह शक्ति (Power) से सम्बन्धित है एवं किस तरह सत्ता (Authority) को परिभाषित किया जा सकता है।

पद-सोपान सिद्धान्त को लुई ड्यूमो के अनुसार पवित्र व अपवित्र के विरोध स्वरूप प्रस्तुत किया था, लेकिन यहीं हम ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि यह विरोध जो कि पूरी तरह धार्मिक है हमें समाज में शक्ति के स्थान के बारे में कोई जानकारी नहीं प्रदान करता है। इसके लिए हमें परम्परागत हिन्दू सिद्धान्त को देखना होगा जो कि कम से कम जाति में निहित नहीं था। इस तरह ड्यूमो के अनुसार इसे 'वर्ण-व्यवस्था' के आधार पर समझा जा सकता है। ड्यूमो के अनुसार किसी भी हालत में कोई व्यक्ति वर्ण की विवेचना किए बिना जाति की विवेचना नहीं कर सकता।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि हमें जाति की अपेक्षा प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा एवं साथ-साथ वर्ण एवं जाति के सम्बन्ध को देखना होगा। वर्ण व जाति का यह सम्बन्ध विशेषकर पद सोपान ब शक्ति के सम्बन्ध के दृष्टिकोण से करना चाहिए तभी हम वर्ण-व्यवस्था की भी विधिवत् व्याख्या कर सकेंगे एवं पद-सोपान व्यवस्था व शक्ति एवं सत्ता की अवधारणाओं को विधिवत् रूप से समझ पायेंगे।

इस प्रकार हम देखते है कि ड्यूमों के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था में न केवल गति बल्कि वर्ण भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है तथा पद-सोपान व्यवस्था व 'वर्ण' के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस प्रकार लुई ड्यूमो वर्ण-व्यवस्था को अपने अध्ययन का केन्द्रिय कारण मानते है। ड्यूमों कहते है कि भारत में पवित्रा व अपवित्रा के पद-सोपान के अतिरिक्त एक परम्परागत पद-सोपान यहाँ चार वर्णो के रूप में देखा जा सकता है। यहाँ हम वर्ण के सामान्य अर्थ की विवेचना पहले करेंगे।

(अ) वर्ण का अर्थ (Meaning of Varna) :

'वर्ण-व्यवस्था' भारतीय सामाजिक संगठन के एक प्रमुख तत्व के रूप में दिखाई देती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारकों ने मुनष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्थित विधि के रूप में कार्यात्मक दृष्टिकोण से समाज को चार भागों में विभाजित किया था और इस तरह समाज में चार वर्ण प्रचलन में आये, वे हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' (वृत-वरणै) धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'वरण' अथवा 'चुनाव करना'। इस प्रकार, व्यक्ति अपने कर्म तथा स्वभाव के आधार पर जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, वही वर्ण है। सर्वप्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 'रंग' अर्थात 'काले' और

'गोरे' रंग की जनता के लिए किया गया है और प्रारम्भ में आर्य तथा दास, इन दो वर्णो का ही उल्लेख मिलता है । डॉ. घुरिये ने बतलाया है कि आर्य लोगों ने यहाँ के आदिवासियों को परजित करके उन्हें दास या 'दस्तु' नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंग-भेद से है । वर्ण के इस अर्थ से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्या तथा दस्युओं के बीच पाए जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया ।

सामान्यत: 'वर्ण' एवं 'जाति' को समान अर्थो में प्रयुक्त कर लिया जात है । वास्तविकता यह है कि वर्ण-व्यवस्था एक बृहत् व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण समाज को कार्यात्मक रूप से चार बड़े समूहों में विभाजित किया गया था जबकि जाति-व्यवस्था एक ऐसा संगठन है जिसका निर्माण हजारों जातियों के संस्तरण द्वारा हुआ है । वर्ण की व्यापकता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि आज एक-एक वर्ण के अन्तर्गत ही हजारों जातियों का निर्माण हो गया है । इसके अतिरिक्त, विभिन्न वर्णो के धर्म, वर्णो के पारस्परिफ सम्बन्ध और वर्ण-व्यवस्था की प्रकृति भी वर्तमान जाति-व्यवस्था के सिद्धान्तों से बिल्कुल भिन्न है । वर्ण अपेक्षाकृत रूप से एक उदाहरण अवस्था है जबकि जाति मानव-संकीर्णता का चरम रूप है । इसी आधार पर हट्टन का कथन है कि "जाति और वर्ण को बिल्कुल पृथक् दो धाराओं के रूप में समझा जाना चाहिए ।"

वेदों, उपनिषदों, महाभारत तथा कुछ स्मृतियों में वर्ण-व्यवस्था का जो रूप देखने मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके माध्यम से मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज का कार्यात्मक विभाजन किया गया था । इस व्यव्स्था ने सभी वर्णों के लोगों को अपना दायित्व समुचित ढंग से निभाने की अपूर्व प्रेरणा दी । समाज के हित की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण के कार्य को महत्ता प्रदान की गई और व्यक्तियों में इस भावना को कूट-कूट कर भरा गया कि उनका हित इसी में है कि वे अपने वर्ण- धर्म का पालन करें । जब तक व्यक्ति के सम्मुख दायित्व-निर्वाह की समुचित प्रेरणा नहीं होगी, तब तक वह अपने कार्यो को सुचारु रूप से नहीं कर पायेगा । इस व्यवस्था ने व्यक्तियों को कर्तव्य-पालन की प्रेरणा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया । इसके द्वारा व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाया गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का पालन करेंगे, उन्हें दूसरे जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होगी । इस व्यवस्था ने समाज को विभिन्न खण्डों में बाँटने के बजाय उसे संगठित रखने का प्रयास किया एवं पारस्परिक अन्तर-निर्भरता को प्रोत्साहन दिया । निम्नलिखित आधारों पर वर्ण-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व को स्पष्ट किया जा सकता है :

(क) इस व्यव्स्था ने लोगों को वर्ण-धर्मानुसार अपने-अपने कर्तव्य-पालन की प्रेरणा दी, उन्हें अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक किया । इसके अन्तर्गत विभिन्न वर्णो के अलग-अलग कार्यो का निर्धारण कर लोगों को एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से रोका गया, अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियन्त्राण लगा कर उन्हें संघर्षो से मुक्त रखा गया ।

(ख) श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की यह एक अद्वितीय व्यवस्था रही है । बाल्यावस्था से ही व्यक्ति अपने पारिवारिक पर्यावरण में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर विशेषीकृत ज्ञान का लाभ उठा सके हैं । विभिन्न वर्णो में सभी प्रकार के कार्य बाँट कर समाज को प्रगति की ओर बढ़ाया जा सका है ।

(ग) वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी लचीली व्यवस्था रही है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपने गुणों तथा कर्मो के आधार पर अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उन्नत करने का सुअवसर कभी प्राप्त था। स्पष्ट है कि नियन्त्रित गतिशीलता के आधार पर इस व्यवस्था ने सामाजिक प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया ।

(घ) वर्ण-व्यवस्था समता की नीति पर आधारित रही है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का चार वर्णो के रूप में कार्यात्मक विभाजन अवश्य हुआ है, परन्तु प्रत्येक वर्ग की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व दिया गया है । विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से चारों वर्णो की उत्पत्ति यही प्रकट करती है कि प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् कार्य होते हुए भी कार्यात्मक दृष्टि से सभी का समान महत्व है ।

(ङ) इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न प्रजातीय समूह रक्त की शुद्धता को बनाये रख सके अलग-अलग वर्गो के रूप में संगठित होने से विभिन्न प्रजातीय समूहों को एक ओर रक्त की शुद्धता बनाये रखने का अवसर मिला दूसरी ओर अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की सुगमता से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने का ।

(च) वर्ण-व्यवस्था का महत्व इस दृष्टि से भी है कि इसने समाज में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने में योग दिया । इस व्यवस्था के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया कि विभिन्न शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों या उनके समूह विशेष में केन्द्रित न हों । समाज में चार प्रकार की शक्तियाँ पायी जाती हैं- शास्त्र या ज्ञान - शक्ति, शस्त्र या सेना-बल, अन्न या सम्पत्ति और सेवा या श्रम का बल । यदि ये सभी शक्तियाँ कुछ ही व्यक्तियों या उनके किसी समूह विशेष के केन्द्रित हो जाएँ तो समाज में अत्याचार बढ़ेंगे । इन शक्तियों से युक्त समूह में अहंकार तथा निरंकुशता की वृद्धि होगी । यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था में चारों शक्तियों और पुरस्कार पृथक्-पृथक् रखे गये है । ब्राह्मण अपने शान से समाज की सेवा करता और पुरस्कार के रूप आदर प्राप्त करता है, क्षत्रीय समाज की रक्षा करता और शासन के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है, वैश्य अन्नादि के उत्पादन द्वारा समाज की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर धन के रूप में पुरस्कार प्रापत करता है और शूद्र तीनों वर्णो की सेवा करके पुरस्कार के रूप में जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रापत करता है । इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण के पास सम्मान था परन्तु धन तथा शासन-शक्ति नहीं थी, क्षत्रिय के पास शासन-शक्ति और घर सभी कुछ एक ही के पास केन्द्रित हो जाय तो उस दशा में समाज में अन्याय और अत्याचारों के बढ़ने की सम्भावना रहेगी । ऐसी स्थिति में समाज में असन्तोष बढ़ेगा परिणामस्वरूप सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होंगे । इसी से बचने के लिए वर्ण-व्यवस्था मे सम्मान, शासन तथा धन को एक दूसरे से पृथक् रखा गया है ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था एक अत्यन्त विकसित सामाजिक व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करती है । यहाँ सामाजिक प्रगति हेतु सभी व्यक्तियों को अपनी शक्तियों एवं योग्यताओं को उपयोग में लाने का समुचित अवसर दिया गया है । वर्ण-व्यवस्था के महत्व को स्पष्ट करते हुए श्री ''मैनेयर विल्सन' ने कहा है कि यह मनुष्य को स्वार्थ-त्याग का पाठ पढ़ाती, दुराचार से रोकती, दरिद्रता को दूर करती तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है ।

लुई ड्यूमो कहते है कि वर्ण के सिद्धान्त में यह अवश्य स्पष्ट करना चाहिए कि ब्राह्मण व क्षत्रियों के अवधारणा के सम्बन्ध कैसे थे ? यद्यपि यह सम्बन्ध बहुत पुराने समय में स्थापित किये गये थे लेकिन फिर भी आज भी इन सम्बन्धों को स्पष्ट देखा जा सकता है ।

यह पुजारियों एवं क्षत्रियों या शासनकर्ताओं के रूप में पाये जाने वाले स्पष्ट विभाजन को संकेत करता है । तुलनात्मक रूप से हम कह सकते है कि इसमें क्षत्रियों लोगों का धार्मिक महत्व धीरे-धीरे कम हुआ है । इस प्रकार ड्यूमो के अनुसार उपर्युक्त वर्ण के सिद्धान्त में कोई भी व्यक्ति यह जान पाता है कि प्रस्थिति एवं शक्ति को सामान्य पदसोपान व्यवस्था में अलग किया गया था ।

ड्यूमो के अनुसार धार्मिक मूल्यों के साथ शक्ति का अनिवार्य तत्व भी जुड़ा हुआ है और यह शक्ति का तत्व समाज में स्तरीकरण को उत्पन्न करता है । ड्यूमो इसे राजशाही प्रारूप (Kingly Model) अर्थात क्षत्रियों अथवा शक्ति, ब्राह्मण व पुजारियों के मध्य पायी जाने वाली एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं जो कि परस्पर सद्भाव और एक दूसरे पर प्रभावी रूप से-जुडे हुए, स्वीकार करते हैं, साथ ही, दोनों ही जातियों के धार्मिक अनुष्ठानात्मक व्यवस्था से भी जुडे हुए हैं ।

(ब) जाति एवं वर्ण (Caste and Varna) :

ड्यूमो कहते है कि हमें जाति एवं वर्ण-सम्बन्ध को भी यही देख लेना चाहिए एवं उनके मुख्य लक्षणों की विवेचना करनी चाहिये । इनके प्रमुख लक्षणों को इस प्रकार रखा जा सकता है।

बहुत से व्यक्ति वर्ण तथा जाति को एक मान लेते है जबकि वास्तव में ये 'दोनों एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न हैं । वर्ण और जाति में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं

(क) 'वर्ण' गुण तथा कर्म पर आधारित थे, जातियाँ जन्म पर आधारित है ।श्रीकृष्ण ने 'भगवद्गीता' में कहा है कि चारों वर्णो की व्यवस्था गुण कर्मानुसार की गई है । जन्म के समय सभी व्यक्तियों को शूद्र माना जाता था । उपनयन संस्कार के पश्चात् ही उन्हें द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य) माना जाता है उनके वर्ण का निर्धारण गुण तथा कर्मो के आधार पर ही होता था । व्यक्ति उत्तम कर्म द्वारा ब्राह्मण बन सकता था तथा निकृष्ट कर्म से ब्राह्मण भी शूद्र बन जाता था । जाति-व्यवस्था में गुण तथा कर्म को महत्व न देकर जन्म को ही महत्व दिया गया है । ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति जीवन भर ब्राह्मण जाति का ही सदस्य माना जाता है, चाहे उसके गुण तथा कर्म शूद्र जैसे ही- 'क्यों न हों । एक निम्न जाति से उत्पन्न व्यक्ति चाहे कितना ही शिक्षित क्यों न हो, चाहे

ब्राह्मण के 'समान ही उत्तम कर्म क्यों न करता हो, पर जन्म के आधार पर वह सम्पूर्ण जीवन भर निम्न जाति का सदस्य या शूद्र ही माना जायेगा ।

(ख) वर्ण व्यवस्था बहुत अधिक लचीली और पीरवर्तनशील थी जबकि जाति व्यवस्था' अपरिवर्तनशील, कठोर और स्थिर है । गुण तथा कर्म के आधार पर व्यक्ति अपने वर्ण को परिवर्तित कर लेता था । ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते है जिनसे स्पष्ट है कि वर्ण में परिवर्तन होते थे । क्षत्रिय विश्वामित्रा बाद में कर्म के आधार पर ब्राह्मण बन गये थे । परशुराम यद्यपि ब्राह्मण थे तथापि कर्म से क्षत्रिय हो गए । प्राचीन भारत में वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं परन्तु जाति प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी जाति को परिवर्तित नहीं कर सकता । जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे एक ही जाति में जिसमें उसका जन्म हुआ हो, रहना पड़ता है ।

(ग) वर्णो की संख्या केवल चार है जबकि जातियों की संख्या बहुत अधिक है । 'रोज' ने विभिन्न जातियाँ की संख्या वर्तमान में करीब चार हजार बतायी है । ये जातियाँ जन्म, पर 'आधारित सामाजिक वर्ग हैं । व्यक्ति साधारणत: अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं । वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्रा काफी विस्तृत था ।

(घ) वर्ण में विवाह, भोजन तथा सामाजिक-सहवास सम्बन्धी प्रतिबन्ध नहीं पाए जाते जबकि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वे प्रतिबन्ध बहुत कठोर होते है । राजा शानतनु ने क्षत्रिय होते हुए भी शूद्र-कन्या सत्यवती के साथ विवाह किया, क्षत्रिय राजा ययाति ने ब्राह्मण ऋषि कण्व द्वारापालित शकुन्तला से विवाह किया और क्षत्रिय राजा ययाति ने ब्राह्मण पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया । इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णो के सदस्यों के बीच वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित होते थे तथा उन लोगों का एक दूसरे, के साथ खान-पान, का सम्बन्ध पाया जाता था । परन्तु जाति प्रणाली इतनी कठोर एवं स्थिर है कि प्रत्येक व्यक्ति को खान-पान सम्बन्धी व्यवहार और विवाह अपनी जाति में ही करना पड़ता है । इस सम्बन्ध में सभी जातियों के अपने-अपने नियम है और इनका उल्लेख करने वालों को जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है ।

(ङ) जाति-व्यवस्था में खण्ड-विभाजन तथा ऊँच-नीच की भावना विद्यमान है, वर्ण-व्यवस्था में ये दोनों नहीं पाये जाते । जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज कई पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित है जिनमें ऊँच-नीच की भावना बहुत अधिक पाई जाती है, वर्ण-व्यवस्था में समाज पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित नहीं था और न ही ऊँच-नीच की भावना पाई जाती थी । गाँधीजी ने लिखा है कि "वर्ण हमारे अधिकार नहीं कर्त्तव्य बताता है ।" यह आवश्यक रूप से उन पेशों से सम्बन्धित है जो मानव-कल्याण के लिए अनिवार्य है । इसका यह भी तात्पर्य है कि कोई भी पेशा बुरा-मला नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वर्ण और जाति दो भिन्न धारणाएँ हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रो. लुई डूयूमो ने अपने स्तरीकरण के सिद्धान्त में पद सोपान को सर्वाधिक महत्व दिया है । इस पद सोपान की विवेचना में वे 'जाति' को यद्यपि महत्वपूर्ण मानते है लेकिन फिर भी उन्होंने 'वर्ण' के महत्व को स्वीकार किया है । डयूमो वर्ण को परम्परागत धार्मिक आधारों पर देखने के साथ ही साथ उन्हें विशेषकर 'शक्ति' जैसी अवधारणा के साथ सम्बन्धित करते हैं । ड्यूमो के इन वर्णो में विशेषकर ब्राह्मणों व पुजारियों एवं क्षत्रियों व राजाओं का महत्वपूर्ण स्थान है । इसी आधार पर प्रो. लुई ड्यूमो ने पद सोपान और शक्ति की विवेचना एवं उनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को विस्तार से समझने का प्रयास किया है । इस प्रकार ड्यूमो के अनुसार शक्ति के आधार पर ही सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना की जा सकती है ।

11.9 पदसोपान एवं शक्ति

इसके बाद लुई ड्यूमो ने पद सोपान एवं शक्ति के आपसी सम्बन्ध की विवेचना की है और ड्यूमो का मानना है कि इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर ही सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना की जा सकती है । शक्ति को परम्परागत एवं आधुनिक दोनों ही रूपों में समझा जा सकता है ।

ड्यूमो प्रादेशिक प्रस्थिति, श्रेणी तथा केन्द्रीय भारत का एक उदाहरण भी प्रस्तुत करते है ।

ड्यूमो ने 'पी.एस.महार' व 'मेकिम मैरियट' द्वारा उत्तर प्रदेश व पश्चिम भाग में किये गये अध्ययन की विवेचना की है । मैकिम मैरियट का मत है कि जातिगत पद सोपान सामाजिक संरचना का एक अनिवार्य अंग है । उनका मानना है कि जाति सामूहिक सम्मति का एक संगठन है जिसमें किन्हीं जातीय समूहों को एक सम्पूर्णता के सम्बन्ध में उच्च या निम्न स्थान प्रदान किया जाता है । यह सोपान सामान्यत: प्राथमिकता एवं प्रतिष्ठा के आधार पर निर्मित होता है । मैकिम मेरियट ने अपने अध्ययन को पाँच क्षेत्रों केरल, कोरोमण्डल, गंगा का उच्चतट, मध्य सिन्धु व बंगाल के डेल्टा में सम्पन्न किया था । केरल में जातिगत क्रम अधिक स्पष्टता से देखा गया जबकि वहाँ के रेखिक क्रम-विन्यास के कारण धार्मिक समूहों के अनुसार अन्त: क्रिया व परस्पर सेवाओं का आदान-प्रदान होता था । कोरोमण्डल में जातिगत क्रम-विन्यास कम स्पष्ट पाया गया वहाँ मूलत: निम्न जातियों में यह विवाद था कि कौन सी जाति ऊँची है । गंगा के तट पर क्रम-विन्यास सरल व क्षैतिजीय पाया गया एवं वहाँ साँस्कारिक व गैर-साँस्कारिक अन्तःक्रियाओ में स्पष्ट स्तरीकरण का अभाव पाया गया । शेष दो क्षेत्र जो मुस्लिम प्रधान थे उनमें भी जाति-विन्यास साधारणत: सरल देखा गया ।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि पद सोपान का सिद्धान्त एक श्रेणी के रूप में अधिकार आरोपण (Attribution) एवं अन्तःक्रिया की एक व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक का सम्बन्ध सम्पूर्ण से है । इस प्रकार ड्यूमो का मानना है कि व्यवस्था की प्रत्येक इकाई सम्पूर्ण से सम्बन्धित है और इस इकाई के अध्ययन के लिए हमें उसे सम्पूर्ण में ही देखना चाहिये ।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि मैकिम मैरियट द्वारा प्रस्तुत अवधारणायें पूरी तरह सत्य नहीं कही जा सकती क्योंकि मैकिम मैरियट का सम्बन्ध मूलत: जातिगत श्रेणियों से ही था । वे

अपने अध्ययन में पद सोपान सिद्धान्त एवं उसके सम्पूर्ण से सम्बन्ध को स्पष्टत: विवेचित नहीं कर सके । फलस्वरूप मैकिम मैरियट द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त में सामाजिक पद सोपान व सम्पूर्ण के पक्षों की उपेक्षा की ।

लुई' ड्यूमो कहते हैं कि हम इस बात से सहमत हैं कि पद सोपान व श्रम-विभाजन घनिष्ठ रूप से अन्तर्सम्बन्धित है लेकिन फिर भी उन्हें पृथक् रूप से विश्लेषित नहीं किया जा सकता बल्कि उनके इस सम्बन्ध को तभी समझा जा सकता है जबकि हम इसकी विवेचना सम्पूर्ण रूप से करें । यह सिद्धान्त कुछ सीमा तक अलगाव को भी स्पष्ट करता है जो कि अधिकार आरोपण है ।

ड्यूमो का मानना है कि अन्तःक्रिया को सम्पूर्ण वैचारिक अभिस्थापन के स्थान पर आरोपित नहीं किया जा सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लुई ड्यूमो अपने सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त में जहाँ पद सोपान एवं जाति के सम्बन्ध की विवेचना करते हैं वही वे वर्ण-व्यवस्था को भी पद सोपान की एक अनिवार्य परम्परागत आवश्यकता मानते हैं और उसे विश्लेषित करते हैं ।

साथ ही साथ लुई ड्यूमो पद सोपान व्यवस्था में 'शक्ति' की अवधारणा को भी महत्वपूर्ण मानते हैं और उनका आग्रह है कि यह शक्ति सम्मूर्ण के सन्दर्भ में देखी व विश्लेषित की जानी चाहिए । पद सोपान की किसी एक इकाई के सन्दर्भ में शक्ति की विवेचना अर्थहीन होगी और इसके लिए ड्यूमो मैकिम मैरियट की आलोचना करते हैं जिन्होंने केवल जातिगत श्रेणियों से ही शक्ति-सम्बन्धों की विवेचना की है तथा पद सोपान व्यवस्था एवं सम्पूर्ण के साथ इनके सम्बन्ध को विश्लेषित नहीं किया है । साथ ही ड्यूमो ने 'श्रम-विभाजन' को पद सोपान व्यवस्था के साथ सम्बन्धित किया है एवं अधिकार-आरोपण व अन्तःक्रिया को इसके साथ विश्लेषण किया है ।

11.10 श्रम-विभाजन

लुई ड्यूमो के सामाजिक स्तरीकरण के विचारों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके श्रम-विभाजन से सम्बन्धित विचारों को भी देखें । उनका मानना है कि जाति-व्यवस्था निर्णायक समूहों के विशिष्टीकरण एवं आत्मनिर्भरता की एक व्यवस्था है । यह विशिष्टीकरण इन समूहों में अलगाव को स्पष्ट करता है लेकिन यह सम्पूर्ण की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में ही अभिस्थापित किया जा सकता है । सम्पूर्ण के साथ यह सम्बन्ध पद सोपन के साथ श्रम-विभाजन की धारणा को प्रमुखता से स्पष्ट करता है ।

ड्यूमो के अनुसार भारतीय सामाजिक श्रम-विभाजन एवं आधुनिक आर्थिक व्यवस्था जो कि मूलत: व्यक्तिगत लाभ पर आधारित है, एवं जिसमें सैद्धान्तिक रूप मे बाजार (Market) सम्पूर्ण व्यवस्था में जहाँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, में पाये जाने वाले विभाजन को स्पष्ट करता है ।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि पुराने समय में जाति-व्यवस्था के व्यावसायिक पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया गया था एवं जाति-व्यवस्था को औद्योगिक श्रम-विभाजन (न कि धार्मिक) के आधार पर विश्लेषित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

इस प्रकार लुई ड्यूमों का मानना है कि लगभग 1950 के आसपास जितना भी साहित्य उपलब्ध है उस सभी ने इस पक्ष की उपेक्षा की है । ड्यूमो का मानना है कि इसकी जगह विशेषकर गाँव में जजमानी व्यवस्था (Jajmani System) का एक स्वरूप पाया जाता है जिसकी विवेचना भी अनिवार्य ही है ।

11.11 जाति एवं व्यवसाय

लुई ड्यूमो ने लिखा है कि जाति व व्यवसाय के मध्य निश्चित रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसे आसानी से नहीं देखा जा सकता । ड्यूमो इस सम्बन्ध में ब्लण्ट के विचारों को प्रस्तुत करते है ।

ब्लण्ट ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति में व्यावसायिक आधार को महत्वपूर्ण मानते हुए इसे रिजसे के प्रजातीय सिद्धान्त से मिलाने का प्रयत्न किया है । आपके अनुसार, जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति एक वर्गगत समाज में व्यावसायिक विभाजन उत्पन्न होने की स्थिति से सम्बन्धित है । इसे स्पष्ट करते हुए ब्लण्ट का विचार है कि भारतीय समाज आरंभ से ही बहुत से प्रजातीय समूहों में विभाजित रहा है जिसका आधार प्रजातीय विशुद्धता अथवा प्रजातीय मिश्रणकी मात्रा थी । इसी समय यहाँ व्यवसाय के आधार पर अनेक संघों (Groups) का निर्माण हुआ जिनमें सभी समूहों के व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त होने लगी । ये संघ शक्तिशाली संगठनों के रूप में विकसित होने लगे और अपने व्यावसायिक ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने अन्तर्विवाह की नीति को अपना लिया । इन व्यावसायिक संघों का रूप इतना व्यापक था कि अनेक जनजातीय समूह भी इनमें सम्मिलित होने लगे । इसके पश्चात भी ये जनजातीय समूह केवल अपने समूह में ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने पर जोर देते थे । यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रमुख जातियाँ और उपजातियाँ अपने आपमें अन्तर्विवाही है । ब्लण्ट का विचार है कि अधिकतर जनजातियां अपनी उत्पत्ति एक विशेष पूर्वज से मानते हैं । यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के अनतर्गत यद्यपि प्रमुख जातियों का कोई सामान्य पूर्वज नहीं होता, जबकि अनेक उपजातियाँ आज भी अपनी उत्पत्ति किसी विशेष पूर्वज से होने का दावा करती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्लण्ट की मान्यता है कि भारतीय समाज में व्यावसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई । व्यवसाय के आधार पर यहीं अनेक व्यावसायिक संघ बने जिनकी सदस्यता प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता था । धीरे-धीरे ये संगठित होने लगे और व्यवसायिक ज्ञान को अपने तक ही सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करने लगे । इसी उद्देश्य से उन्होंने अन्तर्विवाह की नीति का पालन किया और ये अपने ही समूह के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे । ये समूह ही बाद में जातियों में बदल गये है । आज भी अन्तर्विवाह जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

डॉ. जी. एस. घुर्ये का कहना है कि व्यवसाय सम्बन्धी इस बन्धन के साथ जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में क्रियान्त्रित हो रहा था, यह कट्टर विश्वास भी विद्यमान था कि बहुसंख्यक जातियों में से प्रत्येक का अपना परम्परागत व्यवसाय था और इसलिए वही उनके

सदस्यों का वंशानुगत व्यवसाय हुआ, जिसको दूसरे व्यवसाय की खोज में त्याग देना यदि पापपूर्ण नहीं तो कम से कम अनुचित अवश्य था ।

समाज में प्रचलित व्यवसायों का विभिन्न मूल्याँकन न केवल सभी समाजों का चिन्ह रहा है, अपितु वह अनेक आदिवासी या अपठित समाजों का भी रहता आया है । सामाजिक विकास के इस लक्षण की ओर ड्यूमो ने समुचित स्थानों पर यत्रातत्रा विषय की उपयुक्त माँग के अनुसार ध्यान आकृष्ट किया है परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो जायेगा कि पश्चिम की आंग्ल तथा अमेरिकन जैसे आधुनिक समाज में भी यह मूल्याँकन उनके सामाजिक गठन तथा मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का लक्षण है । उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के जाति-समाज में भी, किन्हीं जातियों के प्रति रूपात्मक आचरण तथा सामाजिक प्रस्थिति के सम्बन्ध में कहावतों तथा सूक्तियों में गर्भित चमत्कारी किन्तु एकांगी निर्णयों को छोड़कर सामाजिक वरिष्ठता तथा व्यवसायों अथवा व्यवसाय-समूहों की श्रेणि-बद्धता की लगभग सर्वसम्मत योजना विद्यमान थी । इस योजना का उपयोग करते हुए हरबर्ट रिजले ने बंगाल की जातियों को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सामाजिक वरिष्ठता की दृष्टि से क्रमबद्धतापूर्वक व्यवस्थित किया ।

व्यवसायों के भारतीय मूल्याँकन में शारीरिक श्रम की तुलना में अशारीरिक श्रम के कार्य को उच्चतर मानने का लक्षण उसी प्रकार विद्यमान था, जैसा कि समकालीन ब्रिटेन तथा अमेरिका में मौन रूप से मान लिया गया था, किन्तु इस सिद्धान्त के कार्यान्वयन में जाति तथा पवित्रा धर्मशास्त्रा का अधिक महत्वपूर्ण विचार इससे आगे निकल जाता था । कार्य के सामाजिक मूल्याँकन का दूसरा स्वरूप यानी वह कार्य या उससे सम्बन्धित पदार्थ शुद्ध है या अशुद्ध, पवित्रा है अथवा अपवित्रा भ्रष्टताकारक है अथवा नहीं, जो कभी शताब्दी के समाज में इतना प्रमुख था कि इसे किसी कार्य या व्यवसाय के सामाजिक मूल का निर्धारण करने वाला कारक माना जा सकता है किन्तु यह मूल्याँकन स्वयं जाति-व्यवस्था में इतना जन्मजात हो गया था कि इसका सचेतन सामाजिक दृश्य में अवरोध प्रकट ही नहीं होता था । लगभग सर्वत्रा ही वे व्यवसाय-समूह को भ्रष्ट करने वाले नहीं थे, सामान्यत: शुद्ध उच्चतर जातियों के लिए खुला क्षेत्र माने जाते थे, और उनके चारों ओर ही लौकिक मूल्याँकन केन्द्रित था । कम से कम भारतीय आर्यों के समय के भारत में उच्चतर जाति के लोग व्यवसाय चयन में अपना मार्गदर्शन आप ही उस सीमा तक करते थे जितना कि वह उस अधिकाँश गतिहीन तथा ग्रामीण समाज में व्यवहारिक था जो कार्यो तथा व्यवसायों के भेद-भाव तथा वैशिष्ट्य पर एक हजार वर्षो से भी अधिक लम्बे समय से आधारित रहा और जिसका प्रतिनिधित्व ऐसे कथन से होता है; व्यवसायों में "कृषि उत्तम है, जबकि व्यापार मध्यम तथा नौकरी सबसे निकृष्ट है।"

निश्चित ही ब्रिटिश प्रशासन के आगमन के पूर्व नौकरी की बहुत कम गुन्जाइश थी, और वेतन बहुत थोड़ा मिलता था । नौकरी की वास्तविक दशा भी ऐसी थी जो लोगो के विकसित आत्म-सम्मान से मेल नहीं खाती थी । मनु ने बहुत समय पूर्व ही यह घोषणा कर दी थी कि नौकरी कुत्ते का जीवन है । इसके साथ ही यह कुख्यात तथ्य के विद्यमान था कि सभी स्तरों के प्रशासकीय अधिकारी भ्रष्ट तथा दुष्ट स्वभाव के होते थे । ग्राम लेखपाल राजस्व-कर्मचारी, सीमा-शुल्क तथा अन्य कर-संग्राहक विभागों के सदस्यगण के लिए तो यह कहावत ही

बन गई है कि वे बड़े धूर्त होते थे । राजा के अधिकार भी इससे कम नहीं होते थे, जैसा कि काश्मीर के ब्राह्मण इतिहासकार कायस्थ अपने पाठको को इनके विषय में बतलाते हुए अपने व्यथित हृदय से उनकी भर्त्सना करते हैं । कल्हण कायस्थों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहते है। री आर. एम. पण्डित का यह अति-व्याप्त कथन सही नहीं माना जा सकता कि 'कायस्थ सरकारी सेवक या नागरिक पदाधिकारी है..... किसी जाति विशेष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है और हमें राज्य की नागरिक तथा सैनिक दोनों प्रकार की सेवाओं मे सभी जातियों के लोग मिलते है । ' यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं है कि कल्हण के अध्ययन में भी कायस्थ जाति की अपेक्षा सरकारी पदाधिकारी ही अधिक हैं, जबकि ये कायस्थों का उल्लेख करते हैं । इनका मन सरकारी पदाधिकारियों के लिए भी उतना ही तिरस्कार से भरा हुआ है जितना कायस्थ जाति के लिए । यह उनके इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि वे कायस्थ के वंश-परम्परागत व्यवसाय या धन्धे को वामशक्रमोचित की संज्ञा से पुकारते हैं । भूतकाल मे क्लर्क तथा प्रशासकीय पदाधिकारियों क समूह में आने वाले कार्यकर्ताओं की प्रस्थिति तथा प्रतिष्ठा चाहे जैसी ही रही हो हो, ब्रिटिश शासन के अधीन भारत में न केवल उनमें वृद्धि हुई अपितु उन्हें जनता के संरक्षक तथा प्रशासन के गठन के आधार माना गया, और स्वतन्त्रता प्राप्ति से कुछ पूर्व तक ऐसा ही चलता रहा ।

इस व्यवसायिक समूह की रचना कम से कम तीन अनुक्रमों से हुई है जिनको सुविधानुसार प्रशासकीय कर्मचारियों के उन, मध्य तथा निम्नवर्ग के नाम से पृथक्-पृथक् कर सकते हैं । यह न केवल आर्थिक प्रस्थिति की दृष्टि से ही अपितु उनके स्वरूप की दृष्टि से भी सही है विशेष रूप से जबकि हम तीसरे अनुक्रम के लोगों को ध्यान में लाते है, इनमें मानसिक श्रम करने वाले तथा शारीरिक श्रम करने वाले दोनों प्रकार के कार्यकर्ताओं के लक्षण सम्मिलित हो जाते है ।

लुई ड्यूमो ने डॉ. जी. एस. घुर्ये के विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है कि घुर्ये ने भाषायी आधार पर इनकी विवेचना की है । वे कहते हैं कि डॉ. धुर्ये के अनुसार हिन्दू जाति समाज में अपने-अपने विशिष्ट नाम वाले अनेक समूह विद्यमान है जातियों के बडे समूहों में बहुतों के नाम ही ऐसे हैं जो अनेक मुख्य धन्धों या शिल्पकारियों से निकलते हैं जिनमें वे लगे हुए थे और अधिकाँश में अब भी लगे हुए है । ब्राह्मण का अर्थ वह व्यक्ति है जो प्रार्थना क्रिया पद्धति के सूत्रों या मंत्रों का उच्चारण करता है और जो उस समूह को निर्दिष्ट करता हो' जिसके सभी सदस्य किसी समय इसी प्रकार से लगे हुए थे, यद्यपि वह नाम या उपाधि उस समूह विशेष की होकर रह गई है जिसके सदस्य पूर्ण यप से पौरोहित्य के कार्य में नहीं लगे हुए हैं, यही तक कि वे ऐसे कार्यो में भी लगे हुए हैं जो मूल आदर्शो के सर्वथा विपरीत है ।

उन समूहों में जो वाणिज्य-व्यापार करते है अधिकाँश 'वणिक' या 'बनिया' नामधारी होते हैं । यह शब्द संस्कृत से निकला हुआ है और इसका अर्थ व्यापारी होता है ऐसा प्रतीत होता है कि तामिल चेट्टी भी उस भाषायी प्रदेश में इसी समूह के धन्धे का संकेत करता है । पंजाब के जात का अर्थ कृषक होता है । ऐसा ही अर्थ तामिल के वेल्लाल तथा कन्नड़ प्रदेश के वक्कलिंग का है । कुर्मी तथा कुणबी भी सम्भवत: उस समूह का व्यवसाय यानि कृषि सूचित करते हैं,

यद्यपि यह भी सम्भव नहीं कि इन नामों का मूल जन-जातियों से सम्बद्ध हो । उत्तर भारत में कृषि करने वाली जाति का नाम किसान है । यह अवश्य ही कृषि के द्योतक संस्कृत शब्द से निकला है । कभी-कभी कृषि का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से जोड़ा जाता है जैसे मध्य-प्रान्त में लोधा नाम से प्रकट होता है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह नाम मिट्टी का ढेला या लोंदा फाँदने वाला गँवार संस्कृत शब्द 'लोह' यानी 'लोंदा' से निकला है और कृषक का संकेत करता है । मवेशी यानी गाय-बैल पालने वाला समूह ग्वालों या ग्वाला है महत्वपूर्ण नाम को धारणा करता है जो संस्कृत के 'गो' शब्द से निकला हैं सोनी या सोनार जो स्वर्णकार जाति का नाम है उस पदार्थ का संकेत करता है जिसका यह समूह विशेषज्ञ होता है । बढ़ाई, तर्खन, ल्च्छन तथा सुतार विभिन्न भाषायी प्रदेशों में काष्ट-कर्म-कुशल जाति की उपाधियां हैं और ये उस पदार्थ को' जिस पर कार्य किया जाता है, उसकी शिल्प-विधि, या उस शिल्प के विशिष्ट यन्त्रों एवं औजारों को सूचित करती हैं । धातु का काम करने वाली जातियों के नाम जैसे लोहार, ताँबत, कसार तथा ठठेरा उस धातु से निकलते हैं जिसका उपयोग ये समूह करते हैं, जैसे लोहा, ताँबा काँसा तथा पीतल । बननर, जोडिया ताँती, कोष्टि, पटक, पट्टानुलकरण तथा साल बुनकर यानी - वयनजीवी जातियों के नाम है । प्रथम दो नामों की उत्पत्ति तार जोडने से अथवा रेशमी वस्त्र के संस्कृत शब्द से निकली है। कुम्भार या कुम्बार कुम्हार जाति का नाम है और इसका अर्थ होता है कि वह व्यक्ति जो कुम्भ पकाता हैं तिली या तेली या तेल पेरने वाले का अर्थ या तो तेल निकालने वाला होता है या वह व्यक्ति जो तिल का व्यापार करता हो । नाई जाति का नाम या तो नाई के संस्तुत पर्याय से निकला है या इसका अर्थ बाल काटने वाला होता है । लुनिया तथा आगरी का अर्थ नमक बनाने वाला होता है । बारी यानी पत्तलें बनाने वाली जाति का नाम बारयानी पत्ते-पौधों से निकाला है और तम्बोली यानी पान बेचने वाले का नाम पान के पर्यायवाची संस्कृत शब्द 'ताम्बूल' से बना है धारकार का अर्थ है रस्सी बनाने बाला और बाँसफोड का अर्थ है बाँस चीरकर टोकरियाँ बनाने वाला । चमार या चाभार यानी चमड़े समानार्थक संस्कृत शब्द चर्म से निकला । उत्तर भारत में एक जाति का नाम कहार है - इसका अर्थ जल लाने वाला होता है । प्राचीन समय में यह जाति केवल जल लाने में लगी रहती थी, परन्तु अब वह सामन्य तथा घरेलू भृत्यों या सेवकों पर लागू होता है। पासी का अर्थ पाश का उपयोग करने वाला होता है । यह मुख्यत: आदिवासी जाति का नाम है, जो जंगली पक्षियों तथा छोटे-छोटे आखेट के पशु-पक्षियों को पकड़ कर तथा ताड़-खजूर आदि के वृक्ष काटकर अपनी जीविका उपार्जित करती है । भेड़े चराने वाली जाति का अर्थ भेड़ के पर्यायवाची शब्द से निकला हुआ प्रतीत होता है । कम से कम गड़रिया शब्द तो ऐसा ही है जो गाडर शब्द से बना है, जो प्राचीन हिन्दी में भेड़ के लिए व्यवहृत होता था ।

इन विराट समूहों मे कतिपय ऐसे हैं जो जातियाँ कहलाते हैं और जिनके नाम या तो जनजातियों या नस्लों से सम्बद्ध है । उदाहरण के रूप में अरोडा, गूजर, लुहाण भोटिया गौना, भील, डोम, आरॉव मुण्डा, न्थाल, अहीर, महार, मराठा, गोण्ड, खोड़ आदि नाम विद्यमान है ।

11.12 जजमानि प्रथा

इसके बाद लुई ड्यूमो जजमानी प्रथा पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं । वे बताते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के लिए भारत में पायी जाने वाली जजमानी प्रथा को समझे बिना सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना नहीं की जा सकती । विलियम वाइजर ने सबसे पहले ग्रामीण भारत में जजमानी प्रथा का उल्लेख किया हैं आस्कर लेविस ने जजमानी प्रथा की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'जजमानी व्यवस्था में गाँवों में प्रत्येक जाति समूहों से अन्य जातियों के परिवारों को भी कुछ निश्चित सीमाओं की आशा की जाती है । गाँवों में - लकड़ी की चीजें बनाता है, लुहार लोहे के औजार बनाता है, एवं नाई बाल काटता है किन्तु वे अपनी सेवाएँ सभी व्यक्तियों को प्रदान न करके केवल उन्हीं परिवारों को प्रदान करते हैं, जिनसे उनके परिवार के सम्बन्ध चले आ रहे हैं व्यक्ति के पिता ने भी उन्हीं परिवारों की सेवा की होगी और उसका लड़का भी उन परिवारों के लिए कार्य करता है । इस प्रकार यह व्यवसाय और सीमायें जाति के आधार पर परम्परागत रूप से चलती रही है और जजमानी प्रथा में जिस परिवार की सेवा की जाती है वह परिवार अथवा परिवार का मुखिया सेवा करने वाले का जजमान कहलाता है और सेवा प्रदान करने वाला व्यक्ति 'कमीन' अथवा काम करने वाला कहलाता है । इन शब्दों का प्रयोग उत्तरी पश्चिमी भारत में किया जाता है । भारत के अन्य भागों में जहाँ यह प्रथा पाई जाती है, कमीन के दूसरे नाम भी प्रचलित हैं जजमानी प्रथा को महाराष्ट्र में 'ब्लूटे' मद्रास में 'मद्रास' और मैसूर में 'अद्दे' कहते हैं । वाइजन ने जजमानी प्रथा को परिभाषित करते हुए लिखा है. 'इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का कोई निश्चित कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है । इस कार्य पर उसका एकाधिकार होता है । इसमें एक जाति दूसरी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है । ' श्री रेड्डी का मत है कि जजमानी अवस्था में पुश्तैनी तौर पर एक जाति का सदस्य दूसरी जाति को अपनी सेवाएँ परम्परागत आधार पर प्रदान करता है । ये सेवा-सम्बन्ध जो पुश्तैनी तौर पर शासित होते हैं, 'जजमान-कमीन सम्बन्ध कहलाते हैं ।

वेबस्टर शब्दकोष में लिखा है, 'जजमान एक ऐसा व्यक्ति है जिसने धार्मिक सेवाओं के लिए ब्राह्मणों को किराये पर लिया है, इस तरह वह एक संरक्षक कार्यार्थी है । '

जजमान शब्द संस्कृत के यजमान से लिया गया है जिसका अर्थ यज्ञ करने वाले से था। क्रमश: यह शब्द उन सभी के लिए प्रयुक्त होने लगा जो कि सेवा के रूप में किसी से भी काम कराते थे। इस प्रकार जजमानी प्रथा में मुद्रा का विनिमय कम होता है क्योंकि वह खुली बाजार अर्थव्यवस्था नहीं है और न ही जजमान के कमीन के सम्बन्ध पूँजीवादी व्यवस्था की तरह सेवायोजक एवं सेवाकारी की तरह है । जजमान अपने कमीन को समय-समय पर नकद या अनाज में भुगतान करता हैं कमीन को सेवा के बदले भोजन, वस्त्र, निवास स्थान तथा कुछ औजारों का उपयोग करने एवं कच्चे माल की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं । ये सुविधाएँ इस व्यवस्था को सुदृढ़ बनाती है । आज जबकि मुद्रा का उपयोग बहुत बढ़ गया है फिर भी किसान अनाज में भुगतान करना अच्छा समझते हैं ।

वाइजर ने जब मैनचुरी जिले के करीमपुर गाँव का अध्ययन कर अपनी पुस्तक लिखी थी तब वे यह नहीं जानते थे कि यह व्यवस्था इतनी व्यापक है । ऑस्कर लेबिस ने रामपुर

गाँव में इसका विस्तार से अध्ययन किया है । पूर्वी उत्तर प्रदेश, मालाबार और कोचीन के कुछ हिस्सों, मैसूर जिले, तन्जोर, हैदराबाद, गुजरात और पंजाब में हुए अनेक अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि जजामनी प्रथा व्यापक है और उसमें स्थानीय आधार पर अन्तर भी पाया जाता है ।

इस प्रकार ड्यूमो ने वाइजर द्वारा किए गए अध्ययन की विवेचना की हैं वे एक उदाहरण देते है जो करीमपुर गाँव से सम्बन्धित है । करीमपुर जो गंगा व जमुना के दो-आब के मध्य 754 व्यक्तियों का एक गाँव है एवं जहाँ ब्राह्मण प्रभुत्व जाति (Dominant Caste) के रूप में पाए जाते हैं एवं जिन्होंने जमीन के बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार कर रखा है । संख्यात्मक रूप से भी ये सबसे ज्यादा है । 161 परिवारों में से जो कि लगभग 24 जातियों के है अकेले ब्राह्मणों के 41 परिवार पाए गए है ।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि 'जजमानी प्रथा जो कि परम्परागत रूप से भारत में श्रम-विभाजन का एक महत्वपूर्ण आधार थी, को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ कुछ विशेषताओं को देख सकते हैं । ड्यूमो के अनुसार संक्षेप में दो तरह की जातियाँ दिखाई देती हैं- पहली वे जिनके पास जमीन है और दूसरी दे जिनके पास जमीन नहीं है ।

ड्यूमो का मानना है कि लगभग प्रत्येक गाँव में एक या कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका जमीन पर स्वामित्व है और इसे ही प्रभुत्व जाति (Dominant Caste) माना जा सकता है । ये प्रभुत्व जातियाँ आर्थिक शक्ति की स्वामी हैं एवं जमीन निर्वाहक वस्तुओं व राजनीतिक शक्ति पर भी इनका स्वामित्व है ।

प्रभुत्व जाति भी अन्तर्जातीय सम्बन्धों को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । इस प्रकार प्रभुत्व जाति वह जाति होती है जो संख्या की दृष्टि से गाँव अथवा क्षेत्रा में अधिक होती है, जाति संस्तरण में जिसकी स्थिति ऊँची होती है । प्रभुत्व जाति अन्य जातियों पर अपनी संख्यात्मक शक्ति, आर्थिक सम्पन्नता और राजनीतिक प्रभुत्व के कारण हावी होती है । वह गॉव की अन्य जातियाँ के विवादों का निपटारा करती है और उन पर नियन्त्रण रखती है । गाँव में प्रभुत्व जाति ही अधिक सम्पन्न होती है । गाँव की अधिकांश भूमि की वही मालिक होती है अत: आर्थिक रूप से अन्य जातियाँ प्रभुत्व जाति पर निर्भर होती है । प्रभुत्व जाति के लोग ही अधिक शिक्षित होते हैं, उनके प्रशासकीय अधिकारियों से सम्बन्ध होते है और वे ही ग्रामीण राजनीतिक शक्ति का केन्द्र होते हैं । प्रभुत्व जाति ही अन्य जातियों का राजकाज में सहायता प्रदान करती है और उन्हें राजनीतिक संरक्षण भी देती है । प्रभुत्व जाति अन्य जातियों पर अपने दबाव का प्रयोग कर मत जुटाती है । इस प्रकार प्रभुत्व जाति भी अन्तर्जातीय सम्बन्धों को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । प्रभुत्व जाति की अवधारणा का महत्व बताते हुए ड्यूमो कहते हैं कि प्रभुत्व की अवधारणा अथवा प्रभुत्व जाति, भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में किए गए अध्ययनों की दृढ और लाभदायक उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करती है ।

इस प्रकार लुई ड्यूमो का विचार है कि संख्यात्मक शक्ति प्रभवता का परिणाम है न कि, प्रभुत्व का आधार । ड्यूमो का मत है कि जाति की साँस्कारिक प्रस्थिति संस्तरण (पवित्रता और अपवित्रता) के सिद्धान्त पर आधारित है । इसे प्रभुत्व से स्पष्ट रूप में पृथक् किया जाना

चाहिए । प्रभुत्व भूमि पर स्वामित्व का परिणाम है । कई विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि प्रभुत्व भूमि पर स्वामित्व का परिणाम है । कई विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि प्रभुत्व को जाति के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि ये दोनों भिन्न-भिन्न तथ्य हैं ।

लुई डयूमों ने श्रम विभाजन के रूप में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसमें वे जाति एवं व्यवसाय की प्रमुखता से विवेचना करते है तथा इस सम्बन्ध में ब्लंट एवं घुर्ये के विचारों को प्रस्तुत करते है । ड्यूमो का मानना है कि जाति का व्यवसाय से अनिवार्यत: सम्बन्ध है और जाति की पद सोपानिक व्यव्स्था को व्यावसायिक विभाजन के आधार पर स्पष्टत: समझा जा सकता है । यद्यपि ऐसा करने में हमें भारतीय जाति-व्यवस्था के परम्परागत रूप को ध्यान में रखना होगा । इसी प्रकार ड्यूमो जजमानी व्यवस्था को भी पद सोपानिक व्यवस्था में एक परम्परागत श्रम-विभाजन के महत्वपूर्ण आधार के रूप में स्वीकार करते हैं और इसी के साथ वे प्रभुत्व जाति की अवधारणा की विवेचना करते है । ड्यूमो के अनुसार प्रत्येक गाँव में एक या कुछ जातियाँ ऐसी होती है जो गाँव की अन्य जातियों से अनेक आधारों पर श्रेष्ठ होने का दावा करती हैं, और बे आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति की स्वामी तो होती ही हैं साथ ही साथ उनके पास जीवन निर्वाहक साधनों का भी प्रभुत्व होता है । यही जातियाँ गाँव के बारे में प्रमुख रूप से निर्णय लेती है और शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण स्थान रखती है ।

11.13 विवाह के नियम : अलगाव व पदसोपान

सामाजिक स्तरीकरण से संबन्धित विचारों को हम ड्यूमो के द्वारा प्रस्तुत विवाह के नियम व अलगाव व पदसोपान की व्यवस्था में देख सकते हैं ।

ड्यूमो के अनुसार विवाह से सम्बन्धित नियमों में विवाह का महत्व, अन्तर्विवाह-इसका सामान्य दृष्टिकोण व सीमाएँ, विवाह तथा समरूप इकाइयों के पदसोपान की व्यवस्था एवं अनुलोम व प्रतिलोम विवाह के कुछ उदाहरण के साथ-साथ विवाह एवं वर्ण के सिद्धान्त को देखा जा सकता है

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के लगभग प्रत्येक भाग में पाई जाती है। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक संस्थाओं में प्रमुख स्थान है । मनु ने कहा है कि जैसे सब प्राणी हवा के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से जीवन प्राप्त करते है । विवाह के द्वारा व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है एवं चार पुरुषार्थो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है ।

इस प्रकार विवाह से सम्बन्धित कुछ नियम प्रत्येक समाज में अवश्य पाए जाते हैं, हिन्दू समाज में पाये जाने वाले नियम अन्य समाजों में पाए जाने वाले नियमों से पृथक् है ।

यहाँ ड्यूमो कुछ नियमों की विशेषकर चर्चा करते हैं, जिन्हें हम अन्तर्विवाह अनुलोम व प्रतिमोम विवाह के अन्तर्गत देख सकते हैं -

'अन्तर्विवाह (Endogamy) का तात्पर्य अपने ही वर्ण में विवाह करने से है, प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियाँ एवं उपजातियों पाई जाती हैं इसलिए अन्तर्विवाह वर्ण से सम्बन्धित न होकर जातियों एवं उपजातियों से सम्बन्धित है अर्थात सभी लोग अपनी जाति या उपजाति में

ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते है । अन्य शब्दों में अन्तर्विवाह का तात्पर्य है-अपने ही समूह में विवाह करना । यह समूह विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकता है । हिन्दुओं में जाति अन्तर्विवाह की प्रथा पाई जाती है अर्थात सभी हिन्दू अपनी-अपनी जाति में ही विवाह सम्बन्ध स्थापित करते है ।

वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय सब द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का एक ही वैवाहिक समूह था अर्थात इन तीन वर्णो के लोग आपस में विवाह कर सकते थे । इसका कारण यह था कि ये तीनों वर्ण (द्विज) इण्डो-आर्यन प्रजाति के ही थे और इनमें प्रजातीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समानता थी । उस समय केवल शूद्र वर्ण ही एक पृथक् समूह माना जाता था । स्मृतिकाल में यद्यपि प्रारम्भ में अन्तर्वर्ण विवाहों की आज्ञा थी परन्तु जैसे-जैसे प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों और उप-जातियों में विभक्त होता गया जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र भी सीमित होने लगा और लोग अपनी ही जाति में विवाह करने लगे । एक ही वर्ण की विभिन्न जातियों ने आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने बन्द कर दिए ।

हिन्दू समाज में अन्तर्विवाह को यद्यपि मान्यता दी जाती है तथापि ड्यूमो का मानना है कि अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के द्वारा अपने वर्ण, जाति तथा उपजाति के बाहर भी विवाह सम्बन्ध स्थापित किए जाते है ।

जब निम्न वर्ण, जाति, उपजाति अथवा कुल की लड़की का विवाह उसी के समान अथवा उससे उच्च वर्ण, जाति, उपजाति या कुल में किया जाए, तो ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते है । ऐसे विवाह में साधारणत: स्त्री की तुलना में पुरुष का वर्ण अथवा जाति उच्च होती है । जब एक ब्राह्मण लडके का विवाह क्षत्रीय, वैश्य एवं शूद्र लड़की से होता है, तो इसे अनुलोम विवाह कहते हैं । प्रतिलोम विवाह का तात्पर्य है उच्च कुल, जाति अथवा वर्ण की लड़की का निम्न कुल, जाति या वर्ण के लडके से विवाह । ऐसे विवाहों में लड़की की जाति या वर्ण उच्च होता है या निम्न वर्ण होता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ड्यूमो अपने इस अध्याय के अन्त में 'विवाह एवं वर्ण के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं । वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत अनुलोम विवाह का एक प्रमुख सामाजिक नियम है । सामन्यत: प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह अपने वर्ण के सदस्य से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित करेगा । इसके पश्चात भी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत अनुलोम विवाह का नियम अधिक कठोर नहीं है । यदि एक उन वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता है, तो इसे भी वर्ण-व्यवस्था के द्वारा मान्यता प्रदान की गई है । ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जब इस अव्यवस्था के अन्तर्गत बहुत से ब्राह्मणों ने शूद्र कन्याओं तक से विवाह किए और ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को ब्राह्मण वर्ण में भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

वर्ण-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता मनोवैज्ञानिक है । विवाह से सम्बन्ध होता है। विवाह से सम्बन्ध दर्शाता है । ऐसा करने में रक्त की पवित्रता का ध्यान रखा गया है । इस

व्यवस्था के द्वारा सभी वर्णो को अपने-अपने रक्त की पवित्रता बनाए रखने का प्रोत्साहन दिया गया है ।

स्पष्ट है कि ड्यूमो ने विवाह की प्रमुख सामाजिक संस्था के रूप में विवेचना करते हुए सामाजिक स्तरीकरण में इसके महत्व को विश्लेषित किया है तथा भारतीय समाज में पाए जाने वाले अर्न्तविवाह की विस्तार से चर्चा की है साथ ही साथ विवाह से सम्बन्धित दो प्रमुख नियमों अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों की भी विवेचना करते हैं तथा इससे सम्बन्धित नियमों को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं ।

ड्यूमो के लिए विवाह को भी वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के भीतर ही समझा जा सकता है. और विवाह में वर्ण अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । ड्यूमो विवाह एवं समरूप इकाइयों के पदसोपनकी व्यवस्था की विवेचना करते है । इसका तात्पर्य यह है कि किस प्रकार, विभिन्न समरूप इकाइयाँ पदसोपान व्यवस्था में एक निश्चित क्रम से बँधी होती हैं ।

11.14 सम्पर्क व खान-पान के नियम

इसी तरह लुई ड्यूमो सम्पर्क व खान-पान के नियमों में विभिन्न नियमों की विस्तार से विवेचना करते हैं जिनमें वे सम्पर्क व अस्पृश्यता, खान-पान के सामान्य रूप एवं खान-पान व विशेषकर पानी को जाति के सम्बन्ध में विस्तार से प्रस्तुत करते है ।

ड्यूमो के अनुसार भोजन को भी सामान्यत: दो भागों में बाँटा गया है कच्चा एवं पक्का। सामान्यत: किन्ही दो जातियों के लोग परस्पर कच्चा भोजन ग्रहण नहीं करते । ब्राह्मण सामान्यत: क्षत्रियों एवं अन्य जातियों के यहाँ कच्चा भोजन ग्रहण नहीं करता है ।

सभी निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ण के यहीं जल ग्रहण कर सकते है किन्तु उच्च वर्ग के लोग केवल स्पृश्य जातियों के यहीं ही, जिनके यहाँ जल ग्रहण किया जा सकता है, पक्का भोजन भी ग्रहण कर लेते हैं किन्तु इसके अपवाद भी हैं जैसे ठाकुर चेरों लोगों के यहाँ तथा कलवार तेलियों के यहाँ जल ग्रहण कर सकते हैं, भोजन नहीं । निम्न जातियों और कबायली जातियाँ परस्पर जल ग्रहण करती हैं ।

ड्यूमो के अनुसार इसी प्रकार सम्पर्क के भी अपने नियम पाए जाते हैं । सामानयत: अस्पृश्य निम्न वर्ण के व्यक्ति उच्च वर्ण के व्यक्तियों को छू नहीं सकते । इन नियमों को भी विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर देखा जा सकता है ।

इस प्रकार लुई ड्यूमो के सामाजिक स्तरीकरण को पदसोपान व जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, पदसोपान एवं शक्ति समूह, पदसोपान एवं शक्ति पवित्रता व अपवित्रता की धारणा, श्रम विभाजन, विवाह के नियम एवं सम्पर्क व खान-पान के नियमों के रूप में देखा जा सकता है!

11.15 प्रभव जाति (Dominant Caste) कीं अवघारणा

भारतीय गाँवों में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार जाति प्रथा है । यही विभिन्न जातियाँ जजमानी प्रथा द्वारा आर्थिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं । निम्न एवं उन जातियो के पारस्परिक सम्बन्ध भूस्वामी और काश्तकार, मालिक और सेवक, साहूकार और ऋण

लेने वाले, संरक्षक और मातहत, आदि के रूप में भी पाये जाते हैं । जातियों के पारस्परिक सम्बन्धो एवं ग्राम एकता को समझने के लिए प्रभव जाति, की अवधारणा को समझना अवश्यक है । यह की अवधारणा गाँव की राजनैतिक व्यवस्था, शक्ति एवं न्याय व्यवस्था और प्रभुत्व को समझने में भी योग देती है ।

(1)संख्यात्मक शक्ति, (2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व (3) धार्मिक कृत्यों अथवा जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति, (4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय, (5) गाँव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य ।

(1) संख्यात्मक शक्ति (Numerical Strength) - प्रभु जाति का सर्वप्रमुख आधार उसकी संख्यात्मक शक्ति है । 'प्रभु जाति, गाँव में अथवा क्षेत्र में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संख्या में होती है । संख्या में अधिक होने से वह अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है। अल्पसंख्यक जातियों को उसकी शक्ति के समुख झुकना होता है और कई बार तो प्रभु जाति उन पर अत्याचार भी करती है । अल्पसंख्यक जातियाँ ऐसी स्थिति में प्रभु जाति का विरोध भी करती हैं ।

(2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व (Econimic and Political Dominance) - क्षेत्र अथवा गाँव में प्रभाव जाति आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति रखती है । उसके पास गाँव की सर्वाधिक भूमि होती है जिस पर अन्य जातियों के लोगों द्वारा काम करवाया जाता है ।

इस प्रकार अन्य जातियाँ प्रभु जाति पर आर्थिक रूप से निर्भर होती हैं । आर्थिक निर्भरता राजनैतिक प्रभुत्व को भी जन्म देती है । चुनाव के समय प्रभु जाति अपने आश्रितों के मत प्राप्त करने में सक्षम होती है । कभी-कभी वह राजनैतिक शक्ति एवं पद पाने के लिए बल का प्रयोग और डराने-धमकाने का कार्य भी करती है । गाँव में प्रभु जातियाँ राज्य विधानसभा और लोकसभा के चुनावों में 'वोट बैंक' का कार्य करती है ।

(3) जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च सामाजिक स्थिति (Higher Status in Caste Hierarchy) प्रभाव जाति के लिए यह आवश्यक है कि वह जाति व्यवस्था में अपना ऊँचा स्थान रखती हो । कोई भी निम्न जाति नहीं पायी गयी है क्योंकि सामाजिक संस्तरण में जातियों की पवित्रता और अपवित्रता भी एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है । कई बार एक निम्न जाति संख्या में अधिक होने अथवा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी गाँव में प्रभु जाति का स्थान इसलिए ही नहीं ले पायी कि वह जाति संस्तरण में निम्न स्तर पर है ।

(4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय (Mordern Education and New Occupations) - गाँव में प्रभव जाति अन्य जातियों की अपेक्षा आधिक शिक्षित होती है । वह नवीन व्यवसायों और नौकरियों में लगी होती है । शिक्षित होने के कारण उसका सम्पर्क राजकीय अधिकारियों से होता है । इन सब बातों का अन्य जातियों पर प्रभाव पड़ता है और वे प्रभु जाति का दबदबा मानती हैं ।

(5) सम्पूर्ण गाँव की एकता, न्याय और कल्याण के लिए कार्य (Administration of Justice, Unity and Welfare for the Whole Community) - प्रभव जाति गाँव की एकता को बनाये रखने में योग देती है और ऐसे कार्य करती है जिससे सारे समुदाय की भलाई

हो । यह सारे गाँव में झगड़े निपटाने एवं न्याय का कार्य भी करती है । प्रभु जाति अन्य जातियों के नियमों का समान करती है । अन्य जातियों के विवाद हल करने के लिए प्रभु जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास लाये जाते हैं; प्रभु जाति निष्पक्ष और तटस्थ होती हैं । केवल वे मामले ही जो जाति से सम्बन्धित होते हैं, पास के गाँवों में रहने वाले अपनी जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास ले जाते है । सार्वजनिक उत्सवों एवं सभाओं में प्रभु जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

प्रभु जाति की अवधारणा का महत्व बताते हुए ड्यूमा कहते हैं कि "प्रभुत्व की अवधारणा अथवा प्रभु जाति, भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों की दृढ़ और लाभदायक उपलब्धि का प्रतिधित्व करती है ।

आलोचना :

ड्यूमो का विचार है कि संख्यात्मक शक्ति प्रभुत्व का परिणाम है न कि प्रभुत्व का आधार । ड्यूमो का मत है कि जाति की सांसारिक प्रस्थिति (ritual status) संस्तरण (पवित्रता और अपवित्रता) के सिद्धान्त पर आधारित है । इसे प्रभुत्व से स्पष्ट रूप में पृथक किया जाना चाहिए । प्रभुत्व भूमि पर स्वामित्व का परिणाम हे । कई विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि प्रभुत्व को जाति के साथ नहीं जोड़ा चाहिए क्योंकि ये दोनों भिन्न-भिन्न तथ्य हैं ।

कई बार गाँव में संख्या, जाति संस्तरण तथा आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से एक से अधिक जातियाँ प्रभुत्वशाली होने का दावा करती हैं । ऐसी स्थिति में यह तय करना बड़ा कठिन होता है कि उनमें से किसे प्रभुत्व जाति कहा जाय । ऐसी दशा में हमें प्रभुत्व जाति के स्थान पर प्रभु जातियॉ दिखाई पड़ती हैं । उदाहरण के लिए, भागलपुर के पास भारको गाँव में ब्राह्मण यादव दोनों ही प्रभुत्व का दावा कर रहे थे । ऐसी ही स्थिति का उल्लेख बेली ने उड़ीया के गाँवों के बारे में किया है । वर्तमान में नवीन परिवर्तनों के कारण परम्परात्मक प्रभुत्व जाति को चुनौती दी गयी है और अन्य जातियाँ प्रभु जाति का स्थान ग्रहण कर रही हैं जिनमें मध्यम स्तर की जातियाँ भी हैं । जमींदारी प्रथा के उन्मूलन और भूमि सुधार के कारण प्रभु जाति के भू-स्वामित्व में कमी आयी है । पंचायती राज-व्यवस्था, निम्न जातियों के लिए चुनावों में आरक्षण तथा वयस्क मताधिकार. आदि ने प्रभु जाति की शक्ति को कमजोर किया है । उत्तर प्रदेश के चानुखेड़ा एवं सेनापुर तथा माधोपुर गाँवों में वहीं की राजपूत प्रभुत्व जाति की शक्ति को चमार, नोनियाँ, कहार, आदि निम्न जातियों ने चुनौती दी है । भारत के अन्य गाँवों में भी परिवर्तन की यह प्रक्रिया देखी जा सकती है ।

11.16 सारांश

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे-

- लूईस डयूमों का व्यक्ति एवं कृतित्व
- लुईस डयूमों का समाजशास्त्रा को योगदान
- डयूमों का भारत विद्याशास्त्री परिप्रेक्ष्य
- सामाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र में डयूमो का विशलेषण
- जाति व्यव्स्था के संदर्भ में ड्यूमो का विश्लेषण'

11.17 अभ्यासर्थ प्रश्न

1 डयूमो के परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण कीजिये ।

2 डयूमो के जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त का विवेचन कीजिये ।

3 जाति अवस्था से सम्बधित खान-पान प्रतिबन्धों को डयूमो ने किस प्रकार प्रस्तुत किया है?

4 ड्यूमों द्वारा प्रतिपादित जजमानी सम्बन्धों को लिखिये?

5 ड्यूमो की जाति अवधारणा नेसफील्ड और रिजले से किस प्रकार अलग हैं

11.18 संदर्भ ग्रन्थ

1 हैरारकी एण्ड मैरिर एलायन्स इन साउथ इंडिया (1954) (Hierarchy and Marriage Alliance in South Indian Kinship 1954)

2 होमो हैरारकी 1970 (Homo Hierarchicus 1970)

3 रिलीजन पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री इन इडिया : फ्रोम मेंडविले दू म्रार्क्स 1970 (Religion Polities and History in India: Mandeville to Marx 1970)

4 ऐसेज ऑन इन्दीविजुअलिजम 1986 (Essays on Indiviualism1986): तथा

5 ला आईडियोलिजी एलमन्डे 1994 (L'ideologie Allmande1994)

इकाई 12

आन्द्रे बेताई का योगदान

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व
12.2 समसामायिक विषय
12.3 कृषक एवं कृषक समाज की अवधारणा
12.4 आन्द्रे बेताई का नृतत्वशास्त्रीय परिपेक्ष्य
12.5 अध्ययन की रूचियां एवं विचार
12.8 सामाजिक परिधि एह दायित्व
12.7 वर्ग संरचना
12.8 शक्ति एवं सत्ता संरचना
12.9 असमानता एवं निर्धनता
12.11 सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान
12.12 कृषक एवं जनजातीय समाज सामाजिक असंतोष के कारण
12.12 सुसंगत एवं कुसंगत व्यवस्थाएँ
12.13 परम्परागत प्रतिमान एवं परिवर्तन
12.14 भूमि सुधार कार्यक्रमों से सम्बन्धित आंद्रे बेताई के विचार
12.15 सारांश
12.16 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.17 संदर्भ ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- आंद्रे बेताई का व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में जान सकेगे ।
- जाति व्यवस्था का विशलेषण की जानकारी हासिल कर सकेंगे ।
- सामाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र में आंद्रे बेताई का योगदान के बारे में समझ सकेंगे ।
- सम-सामायिक विषयों का विश्लेषण के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे ।
- शक्ति सत्ता एवं प्रभुत्व जाति की अवधारणा के बारे में जानकारी ज्ञात कर सकेंगे ।
- भारतीय समाज में परम्परा एवं परिवर्तन का विश्लेषण के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे ।
- आंद्रे बेताई का विभिन्न क्षेत्रों में योगदान क्या है इसके बारे में समझ सकेंगे ।

12.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(1) आंद्रे बेताई भारत के अग्रणीय समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्री हैं, इन्होंने दक्षिण भारत की जाति प्रथा पर कार्य किया ।

(2) इनका जन्म चन्दन नगर में हुआ और कलकत्ता के सेंट जेवियर कॉलेज से अध्ययन किया

(3) इन्होंने कलक्ता विश्वविद्यालय से मानवशास्त्र में स्नातक और स्नातकोत्तर अध्ययन किया।

(4) दिल्ली विश्वविद्यालय से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की । तत्पश्चात इन्होंने भारतीय सांख्यकीय विभाग में शोध कर्त्ता के रूप में कार्य किया ।

(5) दिल्ली स्कूल ऑफ इक्मोमिक्स में समाजशास्त्र विभाग में प्रोफेसर के रूप में पद प्राप्त किया।

(6) अपने अध्यापन काल में इन्होने उल्लेखनीय स्थानों जैसे आक्सफोर्ड, कैम्ब्रीज एवं शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया ।

(7) वर्तमान में सेन्टर फॉर स्टडीज इन सोशल सांईस कलकत्ता एवं इंडियन कॉसिल ऑफ सोश्ल साईस रिसर्च के अध्यक्ष पद पर आसीन है ।

(8) वर्ष 2005 में प्रधानमंत्री राष्ट्रीय ज्ञान आयोग के सदस्य मनोनीत हुये परन्तु जातिवाद की राजनीति के कारण आयोग को छोड़ा ।

2005 में उन्हें पदम् भूषण से सम्मानित किया गया । कलकत्ता के सेंट जेवियर कॉलेज से अध्ययन किया।

प्रकाशित पुस्तकें

(1) Social Inequality - Selected Readings - 1960
सोश्ल इनिक्वीलिटी - सलेक्टेड रीडिंगस - 1960

(2) Caste class and power:changing patterns of stratification in Tanjore village.
कास्ट क्लास एंड पावर : चेजिंग पैर्टन ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन इन तंजोर विलेज

(3) The Back Ward classes in Contemporary India - 1992
दी बैकवर्ड क्लासेज इन कनटेम्पररी इंडिया- 1992

(4) The idea of indigenous people - 1998
दी आईडीया ऑफ इडिजीनस पीपूल - 1998

(5) Society and Politics in India Essays in a Comparative Perpective
सोसाईटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया - ऐसेज इनका कामपेरेटिव परसपेकटिव

(6) chronics of our time - 2000
क्रोनिक्स ऑफ अवर टाइम - 2000

(7) The Idea of Natural Inequality and Other Essays - 2003
द आईडिया ऑफ नेचूरल इन इकवेलिटि एंड अदर ऐसेज - 2003

12.2 समसामयिक विषय

आंदे बेताई ने तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से भारतीय समाज की विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन तुलनात्मक पद्धति के आधार पर किया है । दक्षिण भारत के तंजौर जिले के अध्ययन के माध्यम से न केवल जाति प्रथा का अध्ययन किया बल्कि ग्रामीण समाज में कृषक सम्बन्ध शक्ति एवं सत्ता का रूप, स्तरीकरण के प्रतिमान आदि का अध्ययन किया उपरोक्त अध्ययन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में मील का पत्थर माना जाता है इसके आंतरिक भी उनका योगदान अग्रणीय हैं ।

दक्षिण भारत से प्रकाशित 'हिन्दु' पत्रिका में उनके कई लेख प्रकाशित हूए है जो सम सामाजिक विषयों से सम्बधित भी है तथा इनमें भारतीय समाज को गहराई से समझने की अर्न्तदृष्टि भी स्पष्ट दिखती है इसका विवरण निम्न है

धर्मनिरपेक्षता सेक्यूलीरजिम रि-एक्सामिन (Secularism Re-examined) :

बेताई ने इस लेख में धर्म निरपेक्षता पर अपने विचार प्रकट किये है । उनका मत है कि भारत में धर्म निरपेक्षता की विचारधारा नई नहीं है । हिन्दु समाज में बहुदेवत्व स्वयं में धर्म निरपेक्षता की भावना का प्रतिबिम्ब है । यह पश्चिमी समाज की धर्म निरपेक्षता की धारणा से अलग है । इसे भारतीय संदर्भ में ही समझा जा सकता है । भारत विविधताओं का देश है यहां समानता का मान अनिवार्य है । बेताई अपनी सम्पूर्ण कृतियों में भारत की विविधता को बड़ा महत्व देते हैं । यही इस देश की सबसे महान विशेषता है ।

जाति एवं प्रजाति - 'कार्स्ट एंडरेस': हिन्दु में प्रकाशित लेख में बेताई का कहना है कि प्रजाति जाति कभी भी नहीं हो सकती । प्रजातीय शारीरिक लक्षणों को प्रकट करती है जो सम्पूर्ण विश्व में पायी जाती है जाति को भारतीय संदर्भ में अलग ही समझना होगा । यह न केवल जन्म पर आधारित है बल्कि इसका सम्बन्ध धर्म और कर्म की भावना से सम्बधित है । जाति को प्रजाति के आधार पर समझना एक राजनैतिक छेड़ छाड़ है ।

आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में - (Teaching and Research) : टिचिग एंड रिसर्च :

हिन्दु में प्रकाशित इस लेख में उन्होंने निम्न तथ्य प्रकट किये हैं -

(1) भारतीय समाज में शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है । निशुल्क शिक्षा से शिक्षा का प्रसार अति तीव्र गति से हुआ है

(2) भारतीय जनता में शिक्षित होने की होड़ सी लग रही है ।

(3) उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्यो के प्रति युवा वर्ग का रुझान कम है । विश्वविद्यालियों में शोध कम हो रहे है । इसलिये सरकार भी अब यह पैसा शोध के लिये एन.जी.ओ.एस. (N.G.O.S.) को दे रही है जिससे उनकी समस्याओं का समाधान हो रहा है

(4) पिछडे वर्ग के संदर्भ में - जनजातिय समाज के उत्थान के लिये सरकार प्रयत्नशील है । गैर सरकारी संस्थाऐं भी इस कार्य में अपनी भूमिका निभा रही है परन्तु इन समाजों की अपनी मूल संस्कृति लुप्त होती जा रही है यह राजनैतिक दलों का वोट बैंक बन रहे हैं सामाजिक सांस्कृति आर्थिक और राजनैतिक सब तरह से इनका शोषण हो रहा है ।

भारत की समस्याऐं:

भारत जैसे विकासशील देश के समक्ष दो समस्याऐं प्रमुख हैं - आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय । पंचवर्षीय योजनाएं, हरित क्रांति. कृषि के यंत्रीकरण द्वारा ग्रामीण पुर्ननिर्माण को प्रधानता दी गई है और भूमि सुधारों के माध्यम से किराए पर भूमि जोतने वालों (Tenants) बटाईदारी में खेती करने वालों (Share Croppers) तथा भूमिहीन श्रमिकों (Land Less Labourers) की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया गया है । नवीन किस्म के बीजों रसायनिक खादों, नवीन कृषि प्रविधियों तथा सिंचाई की सुविधाओं आदि के उपलब्ध होने से कृषि उत्पादन बढ़ा है और कच्चे माल की भी कमी नहीं है । प्रमुख समस्या उत्पादन या आर्थिक विकास की नहीं है बाल्कि उत्पादित वस्तुओं का समाज के विभिन्न वर्गो में न्यायोचित तरीके से वितरण हो जिससे विकास का लाभ केवल मात्रा शक्ति सम्पन्न लोगों को नहीं मिले और सामान्य जन भी इसका लाभ उठा सकें ।गरीबी दूर हो और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठे ।

12.3 कृषक एवं कृषक समाज की अवधारणा

आन्द्रे बेताई ने अपनी पुस्तक सिक्स एसेज इन कम्पेरेटिव सोसियोलोजी में कृषक की तीन विशेषताओं पर प्रकाश डाला है:

(1) कृषक भूमि से जुड़ा होता है वह न केवल भूमि पर रहता है बल्कि उसे अपने श्रम से फलदायक बनाता है । कानूनी दृष्टि से वह भूमि का स्वामी, उसे किराये पर जोतने वाला या बिना भू-स्वामी अधिकार के एक श्रमिक हो सकता है ।

(2) ऐसा माना जाता है कि अधिकाँश समाजों से कृषकों की निम्न स्थिति होती है । वे लोग जो कृषक के परिश्रमी, सरल तथा मितव्ययी होने की प्रशंसा करते हैं, स्वीकार करते हैं कि समाज में उनकी वास्तविक प्रतिष्ठा ऊँची नहीं होती । अक्सर कृषक वर्ग के लिए यह मान लिया जाता है कि यह कुलीन वर्ग के विपरित प्रकार की विशेषताऐ लिए हुए है । कृषकों को अपरिष्कृत, असभ्य या अशिक्षित भी माना जाता है । उनके लिए यह समझा जाता है कि सभ्य जीवन के तौर-तरीकों से वे अपरिचित हैं ।

(3) कृषकों को मजदूरों का प्रतिपक्ष या पूरक माना जाता है । ऐसा मानने से यह स्पष्ट होता है कि कृषकों का विभिन्न वर्गो के द्वारा शोषण होता है । एक ओर शोषित कृषक-वर्ग आता है तो दूसरी ओर उनके शोषणकर्ता ।

'कृषक' शब्द के उपरोक्त तीन अर्थो को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता के लिए 'कृषक समाज' शब्दावली का प्रयोग अनुप्युक्त है ।

कृषक समाज का अर्थ :

कृषक समाज के संदर्भ में आन्द्रे बेताई ने बतलाया है कि निम्न स्तर वाले कृषकों और उच्च स्तर वाले अकृषकों के बीच विभाज़न गाँव या कस्बे या नगर के बीच के भेद को व्यक्त नहीं करता है बल्कि स्वयं गाँव के भीतर के भेदन को बतलाता है । स्पष्ट है कि कृषकों के अ-कृषकों के साथ सम्बन्ध पाये जाते हैं परन्तु ये अ-कृषक लोग कस्बे या नगर के रहने बाले है । कम से कम भारत में तो वास्तविकता यही है ।

संरचनात्मक दृष्टि से भारतीय ग्रामों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है । सभी ग्रामों के लिए कृषक समुदाय संज्ञा का प्रयोग करने से हम ग्रामीण भारत की कृषि सम्बन्धी संरचना के विभिन्न प्रकारों के बीच पाये जाने वाले महत्वपूर्ण अन्तर को नहीं समझ पायेंगे । भारत में कार्य कर रहे अनेक सामाजिक मानवशास्त्री इस मान्यता को लेकर आगे बढ़े कि ग्रामीण भारत कृषक समाज का भौतिक स्थान है । भारत और विदेशों में कार्यरत रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुयायियों की रचनाओं से भी यही बात प्रकट होती है ।

आन्द्रे बेताई ने लिखा है कि, "यद्यपि कुछ समाजों को कृषक समाजों के रूप में चित्रित करना लाभदायक हो सकता है, परन्तु यह संदेहजनक है कि कोई परम्परागत भारत के लिए इस बात को माने जहाँ एक ओर वृहद् जातीय-संस्तरण की प्रणाली पायी जाती है तो दूसरी ओर जटिल कृषि सम्बन्धी स्तरीकरण की।"

भारतीय समाज को अनेक समाजों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है । हम अपने समाज को ग्रामीण समाज, नगरीय समाज, जनजातीय समाज, एवं कृषक समाज आदि खण्डों में विभाजित कर सकते हैं । सर्व प्रथम भारतीय समाज को नगरीय और ग्रामीण खण्डों में बाँटा जाता है, तत्पश्चात ग्रामीण खण्ड को जनजातीय, और अजनजातीय खण्डों में । अजनजातीय गाँवों से मिलकर भारतीय समाज का कृषक खण्ड निर्मित होता है । अनेक विश्वविद्यालयों में सामाजिक मानवशास्त्र के अध्यापन में विद्यार्थियों को नगरीय भारत तथा जनजातीय भारत के सम्बन्ध में बतलाया जाता है और शेष भारत के लिए यह मान लिया जाता कि यह कृषकों का समाज है । ऐसा करने से परम्परागत भारत के कृषि सम्बन्धी संस्करण से जो आज देश भर के अनेक भागों में पाया जाता है, लोग पारिचित नहीं हो पाते । इसके अतिरिक्त भारत में किए गए कुछ ग्राम-अध्ययन वास्तव में कृषकों के अध्ययन न होकर विजातीय समुदायों के अध्ययन है । ये अध्ययन कृषक समाज को सही अर्थो में चित्रित नहीं कर पाते हैं ।

आंन्द्रे बेताई की मान्यता है कि भारत में बहुत से जनजातीय गाँव वास्तव में कृषकों के समुदाय है । यदि हम छोटी, घुमुन्तू शिकारी तथा फल-फूल एकत्रित करने वाली जनजातियों को छोड दें, तो पायेंगे कि बहुत सी बडी जनजातियाँ जो एक स्थान पर रह कर खेती करती हैं तथा समुदायों में संगठित है, कृषक वर्ग के समान है । आंन्द्रे बेताई ने तो यहीं तक कहा है कि यदि भारत में कृषक समुदायों को देखना है तो उसके लिए सर्वोत्तम स्थान जहाँ से प्रारम्भ करना है, सन्थाली, औरांव तथा मुन्डा लोगों में हैं उपरोक्त कथन से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जनजातीय समाज के लिए कृषक समाज शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए और शेष ग्रामीण समाज के लिए कोई अन्य नाम खोजा जाना चाहिए । इसका स्पष्टत: तात्पर्य यही है कि हमें कृषक समाज नामक अवधारणा की बड़ी सावधानीपूर्वक जाँच करनी चाहिए । इसका लक्ष्य यही होना चाहिए कि भारत में ग्रामीण समुदायों के मध्य पाये जाने वाले वास्तविक सम्बन्धो की प्रकृति को सही रूप में समझा जाय । इसके लिए ग्रामीण भारत में भूमि वितरण, कृषि सम्बन्धों, जाति संरचना तथा कार्य के संगठन पर ध्यान देना होगा तभी हम विविध ग्रामीण समुदायों के सम्बन्ध में गहनता के साथ कुछ जान सकेंगे । स्पष्ट है कि केवल कृषक समाज

तथा 'जनजातीय समाज जैसे शब्दों के प्रयोग मात्रा से ग्रामीण भारत की कृषि सम्बन्धी संरचना को सही अर्थो में नहीं समझा जा सकता।

12.4 आन्द्रे बेताई का नृतत्वशास्स्त्रीय परिपेक्ष्य

आन्द्रे बेताई के अनुसार नृतत्वशास्त्र की स्थापना भारत में एक भौतिक विषय के रूप में लगभग 50 वर्षों पूर्व मानी जा सकती है । इस समय प्रत्येक नृतत्वशास्त्री भौतिक संस्कृति (Marerial Culture) सामाजिक संगठन (Social Organization) तथा धार्मिक विश्वासों व मान्यताओं (Religious Beliefs & practices) के अध्ययन हेतु प्रशिक्षित था । दूसरे शब्दों में नृतत्वशास्त्रीयों ने स्वयं को आदिम, अशिक्षित एवं जनजातीय समुदायों के अध्ययन तक सीमित कर रखा था ।

लेकिन आज नृतत्वशास्त्रीयों ने स्वयं को अनेक समुदायों के अध्ययन में लगा रखा है और जिनका अध्ययन सम्भव: वे 20 वर्षा पूर्व नहीं किया करते थे आज अधिकांश नृतत्वशास्त्री न केवल गैर-आदिम समाजों का बल्कि कस्बों व शहरी समुदायों का भी अध्ययन करने में व्यस्त हैं। आदिम समाजों के अध्ययन अब केवल युवा नृतत्वशास्त्रियों एव समाजशास्त्रियों की रुचि की बात हो गई है ।

इस संदर्भ में आन्द्रे बेताई के अनुसार भारतवर्ष में मुख्यत: दो प्रकार की गतिविधियाँ प्रमुख रूप से रही हैं जिनमें सामाजिक व सांस्कृतिक नृतत्वशास्त्रियों ने वर्तमान शताब्दी की तीसरी व चौथी दशाब्दियों में स्वयं को व्यस्त रखा । वे हैं -

(i) उन्होंने सांस्कृतिक इतिहास जो कि मुख्यत: भारतीय व विदेशी आदिम समाजों की प्रथाओं को इकट्ठा करने व उनकी तुलना करने से सम्बन्धित था, को ढूँढने का प्रयास किया ।

(ii) आरम्भ से ही किसी विशिष्ट आदिम समुदायों के सम्पूर्ण संरचनात्मक अध्ययन ही नृतत्वशास्त्रियों की रुचि के विषय रहे हैं जिसमें कि वे उनके भौतिक, साँस्कृतिक, सामाजिक संगठन एवं धार्मिक विश्वासों व मान्यताओं आदि के अध्ययन पर विशेष ध्यान देते हैं ।

आन्द्रे बेताई ने अनेक नृतत्वशास्त्रीय अध्ययनों की विवेचना की है जैसे एस. सी. राय का छोटा नागपुर में किया गया अध्ययन, प्रो. के. पी. चट्टोपाध्याय (K.P.Chattopadhyay) का अध्ययन आदि । विशिष्ट आदिम जनजातियों पर अनेक मोनोग्राफ भारतीय नृतत्वशास्त्रीयों द्वारा प्रारम्भ से ही तैयार किए जाते रहे हैं ।

मजूमदार द्वारा प्रयुक्त उपागम के प्रमुख लक्षणों की विवेचना यहाँ अतार्किक नहीं होगी क्योंकि इस समय के नृतत्वशास्त्रीयों ने एवं निवर्तमान नृतत्वशास्त्रियों ने भी इस उपागम का बहुतायत से प्रयोग किया । मजूमदार ने बताया है कि हो जनजाति के द्वारा खाये जाने वाले भोजन के प्रकारों से लेकर खाद्य सामग्री के उपागम एवं कार्य का वार्षिक चक्र तथा कार्य का विभिन्न पीढ़ियों एवं विभिन्न विशेषीकृत संघों में लिंग के आधार पर किस प्रकार श्रम विभाजन किया जाता है ।

दो अन्य विशेषताएँ भी मजूमदार के उपागम की यहीं देखी जा सकती हैं । प्रथम, आर्थिक संगठन, सामाजिक संगठन का लक्ष्य न होकर कुछ अलग ही है एव दूसरी सामाजिक संगठन की लघु अवधारणा मुख्यत: गोत्रा उपगोत्रा आदि के विभाजन से सम्बन्धित होती है ।

आन्द्रे बेताई का कहना है कि सामाजिक संगठन व टोटमवाद, चचेरे ममेरे भाई वहन विवाह, एवं सास परिहार आदि संस्थाओं का विश्लेषण, खेत व बाजार में दिन प्रतिदिन की गतिविधियों के विश्लेषण से अधिक सरल है । आज नृतत्वशग़स्त्रीयों ने अध्ययन के नये क्षेत्रा तो ढूढें हैं परन्तु फिर भी इन नये क्षेत्रों में आज भी आर्थिक गतिविधियों (Economic Activities) का अध्ययन लगभग नगण्य ही है । नृतत्वशास्त्री अध्ययन तब तक एकपक्षीय ही रहेंगे जब तक कि हम सामाजिक संगठन की विस्तृत अवधारणा को स्वीकृत नहीं कर लेते जिसमें कि हमें आर्थिक संगठनों को भी एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में स्वीकारना होगा ।

भारत में नृतत्वशास्त्री अध्ययनो के दूसरे दौर में जाति व्यवस्था (Caste System) से सम्बन्धित अध्ययन प्रारम्भ किए । यह समय मुख्यत: 1950 के आस-पास का था । इस प्रकार नृतत्वशास्त्रीयों के जनजाति से जाति की ओर अग्रसर हो जाने से दो बडी सैद्धान्तिक समस्यायें प्रमुख रूप से उभर कर सामने आयीं ।

प्रथम, जनजाति समुदाय छोटे, एकाकी, आत्मनिर्भर तथा स्वायतशासी थे जबकि इसके विपरीत जाति, एकाकी, आत्मनिर्भर, एवं स्वायतशासी नहीं मानी जाती । अपितु वह अर्न्तनिर्मरता की एक जटिल व्यवस्था के रूप में गाँव, जिले, या प्रादेशिक आधार पर अध्ययन की जा सकती है ।

द्वितीय, अपनी आदर्श रूप में जनजाति समुदाय समरूप व अस्तरीकृत रूप में पाये जाते थे जबकि भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन में लगे नृतत्वशास्त्रियों के बीच स्तरीकरण का अध्ययन एक केन्द्रिय विषय हो गया ।

इस प्रकार हम देखते है कि आन्द्रे बेताई के अनुसार अनुसंधान का एक क्षेत्र जो निःसंदेह अत्यधिक महत्व का है और जिस पर भारत में समाजशास्त्रीयों एवं नृतत्वशास्त्रियों ने बहुत कम अध्ययन प्रस्तुत किए हैं वह 'कृषक अवस्थाओं का है । आन्द्रे बेताई के अनुसार कृषक व्यवस्थाओ का अध्ययन भूमि और उत्पादन कार्यो हेतु उसके प्रयोग की समस्या से सम्बन्धित है । भूमि पर आधारित सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था में कृषिक अवस्थाओं (Agrarian Systems) के अध्ययन का विशेष महत्व है । यहीं हमें यह बात कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि अभी तक नृतत्व शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है । उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि के उपयोग से सम्बन्धित विभिन्न प्रौद्योगिक अवस्थाएँ पायी जाती है । यहीं कृषि के क्षेत्रा में अनेक पारिस्थितिक (Ecological) विभिन्नताएँ भी देखने को मिलती है । यही कुछ क्षेत्र में बहुत अधिक वर्षा तो कुछ में कठिनता से ही तनिक वर्षा हो पाती है । यहाँ कुछ क्षेत्रो में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाऐं उपलब्ध हैं, और कुछ में नहीं के बराबर । विभिन्न क्षेत्रों में तापमान, नमी तथा धूप की दृष्टि से भी अन्तर पाये जाते हैं । इन सबका प्रभाव फसलों की विभिन्न किस्मों तथा उनके लिए काम में ली जाने वाली प्रौद्योगिकी (Techonology) पर पड़ता है । कृषि व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करने हेतु कृषि में प्रयुक्त प्रौद्योगिकी के महत्व को समझना आवश्यक है । तथा इन पर अन्य कारकों का भी प्रभाव पड सकता है जिसकी जानकारी रखना अति आवश्यक है जो निम्न है -

लिंग - खेती के कार्यो की प्रकृति वास्तव में काफी जटिल है । कृषि कार्यो का संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि किस समुदाय में कृषि हेतु कौन-सी प्रौद्योगिकी उपलब्ध है । लेकिन यहाँ हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि कृषि कार्य का विभाजन प्रौद्योगिकी पर आधारित न होकर सामाजिक संगठन पर आधारित होता है । समाज विशेष की संस्कृति यह निर्धारित करती है कि कृषि कार्यो में पुरुषों की भूमिका क्या होगी और स्त्रियों की क्या? जनगणना सम्बन्धी आँकडों से ज्ञात होता है कि पंजाब के बजाय पश्चिमी बंगाल में कृषि मजदूरों में स्त्रियों की सापेक्ष संख्या अधिक है । अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है। कि तमिलनाडु और केरल के कुछ भागों में कृषि-श्रमिकों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है ।

स्तरीकरण - आन्द्रे बेताई ने बताया है कि भारतीय कृषि के क्षेत्रा में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलेगी कि यहीं स्तरीकरण की अवस्था और कार्य विभाजन के बीच भी एक सम्यक पाया जाता है । गेहूँ की खेती और चावल की खेती वाले क्षेत्रों में भी कार्य के विभाजन की दृष्टि से काफी अन्तर देखने को मिलता है । जनगाणना सम्बन्धी अकड़ो से ज्ञात होता है कि पंजाब और हरियाणा में जहाँ गेहूँ की खेती विशेषत: होती है, सम्पूर्ण कृषि जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात सापेक्ष दृष्टि से कम है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में जहाँ गीले धान की खेती (Wet Paddy Cultivation) होती है, यह अनुपात अधिक है । यहीं बटाईदारी में खेती का प्रचलन भी ज्यादा है ।

आयोजकों और नीति-निर्धारकों की मान्यता है कि स्वयं के पारिवारिक श्रम द्वारा की जाने थाली खेती अधिक उन्नत प्रकार की हो सकती है, बजाय उस खेती के जो किराये पर श्रमिकों के द्वारा की जाती है । लेकिन उत्पादक संगठनों के तरीकों में मौजूद क्षेत्रीय अन्तरों की व्याख्या हम किस प्रकार करेंगे इस सम्बन्ध में समाजशास्त्रीयों की मान्यता है कि जाति संरचना ही इस व्याख्या का सूत्र है, स्वयं द्वारा खेती (Self-Cultivation) उन क्षेत्रों में सामान्य है जहाँ कृषक जातियाँ प्रभावी हैं जबकि बटाईदारों और वेतनभोगी श्रमिकों का प्रयोग उन क्षेत्रों में सामान्य है जहाँ अकृषक जातियों का भूमि पर स्वामित्व है । अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपर्युक्त अन्तर का कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव, अतिरिक्त श्रम की उपलब्धता तथा वेतन संरचना सम्बन्धी भेद है ।

कार्य की प्रकृति, - आन्द्रे बेताई के अनुसार इसका एक अन्य कारण स्वयं कार्य की प्रकृति है । एक समुदाय का इस प्रकार विभाजन जहाँ कुछ लोग स्वयं काम करते है और कुछ के लिए दूसरे काम करते हैं, आंशिक रूप से कार्य की प्रकृति पर निर्भर करता है । यही कारण है कि पंजाब और हरियाणा में दस या पन्द्रह एकड के खेत पर स्वयं कृषक परिवार ही खेती कर लेता है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में पाँच एकड के खेत पर भी लोग दूसरों से खेती कराते हैं । पंजाब व हरियाणा में गेहूँ की खेती से सम्बन्धित कार्य इतने कठोर व थकाने वाले नहीं है जितने दक्षिण में गीले धान की खेती से सम्बन्धित कार्य ।

ग्रामीण समुदाय को ऐसे दो समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता जिसमें से एक में वे लोग आते हैं जो कृषि कार्य करते हैं और दूसरे में वे लोग जो कृषि कार्य नहीं करते हैं । ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों में से अधिकांश किसी न किसी रूप में खेती से

सम्बन्धित कोई न कोई कार्य अवश्य करते हैं । वहीं कुछ लोग किराये पर भूमि लेकर जोतते हैं, तो कुछ बटाईदारी के रूप में कृषि कार्य करते हैं । कुछ ऐसे भूस्वामी भी पाये जाते हैं जो स्वयं खेत पर तो काम नहीं करते परन्तु अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कृषि कार्यो की देख-रेख करते हैं । बड़े भूस्वामी भूमिहीन श्रमिकों की सहायता से खेती का कार्य करते है । कृषि के क्षेत्र में हाथ से किये जाने वाले कार्यो में भी एक संस्तरण पाया जाता है । सबसे अधिक परिश्रम-साध्य कार्य निम्नतम जातियों अथवा स्तर के लोगों एवं स्त्रियों को करने पड़ते हैं । कृषि क्षेत्र में किसे कौन-सा कार्य सौंपा जायेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि समाज विशेष में विभिन्न कार्यो का मूल्याँकन किस प्रकार से किया जाता है । कार्यो के विभाजन में इस बात को विशेष महत्व दिया जाता है कि किसके पास कितनी भूमि है तथा अन्य भौतिक स्रोतों पर किस का कितना नियन्त्रण हैं

आन्द्रे बेताई ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि साधारणत: देखने में यह आता है कि कठोर एवं सर्वाधिक परिश्रम-साध्य कार्य उन्हें सौंपे जाते है जो भूमिहीन हैं और जो स्तरीकरण के निम्नतम स्तर पर हैं और बड़े भू-स्वामी स्वयं कार्य नहीं करते क्योंकि वे दूसरों से अपने लिए कार्य कराने में साधनों की सम्पन्नता के कारण समर्थ हैं ।

उत्पादन एवं सामाजिक संगठन जब हम उत्पादन के सामाजिक संगठन पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि न केवल कार्य के बल्कि सम्पत्ति अधिकारों के भी एक विशिष्ट प्रतिमान को वक्त करता है । उत्पादन संगठन के तीन प्रमुख प्रतिमान देखे जा सकते हैं -

(1) प्रथम प्रतिमान पारिवारिक श्रम पर आधारित है ।

(2) दूसरा किराये के श्रम पर आधारित है एवं

(3) तीसरा किराये पर भूमि जोतने वालों पर आधारित है ।

इनमें से प्रत्येक प्रतिमान के अनेक भेद दिखाई देते हैं एवं अनेक स्थानों पर इन तीन प्रतिमानों का मिला-जुला प्रतिरूप दिखाई देता है ।

जहाँ उत्पादन पारिवारिक-श्रम पर आधारित होता है, वही परिवार के विभिन्न सदस्यों को अलग-अलग कार्य सौंपे जाते हैं । कार्यो के विभाजन का एक प्रमुख आधार लिंग भेद है । जहाँ परिवार के सभी सदस्य स्वयं के खेत पर ही कार्य करते हैं, वही साथ ही उन्हें समय-समय पर आवश्यकतानुसार बाहरी लोगों का सहयोग भी लेना पड़ता है । यह सहयोग नकद भुगतान के रूप में भी हो सकता है अथवा किराये पर एक निश्चित अवधि के लिए दूसरे की भूमि जोती जाती है या बटाईदारी में खेती की जाती है, वहीं दो परिवारो के बीच सम्बन्ध पनपते हैं । इनमें एक परिवार भूस्वामी तथा दूसरा काश्तकार या बटाईदार का होता है । इन दो श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाले लोग अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा दायित्वों की दृष्टि से एक दूसरे से बँधे रहते हैं । भूस्वामी परिवार और वेतनभोगी श्रमिकों के बीच भी निश्चित प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं । अलग-अलग क्षेत्रो में इन सम्बन्धो में काफी भिन्नता देखने को मिलती है । मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों का यह दायित्व है कि वे इस-बात का पता लगाएँ कि इन विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में बेधने वाले लोगों के प्रथा अथवा कानून की दृष्टि से एक दूसरे के प्रति सिद्धान्त रूप में क्या अधिकार और दायित्व हैं तथा व्यवहार में उनका रूप क्या है?

कुछ लोगों का कहना यह भी है कि जाति ग्रामीण समाज के वास्तविक विभाजन का प्रतिनिधित्व करती है, न कि वर्ग का परन्तु इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि लोग स्वयं भूमि के स्वामित्व, नियंत्रण तथा उपयोग पर आधारित विभाजन को महसूस नहीं करते हों। आन्द्रे बेताई ने बताया है कि यदि हम ग्रामीण पश्चिमी बंगाल को लें तो पायेगें कि वहीं लोग अपने समुदाय को केवल जातीय आधार पर ही. विभाजित नहीं मानते बल्कि अपने को जमींदार, जोतदार, वर्गाकार, माहीन्दार आदि के रूप में भी विभाजित समझते हैं । वर्गीकरण का यह दूसरा क्रम वर्गो के काफी निकट है । स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामों में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में केवल जाति का ही महत्व नहीं पाया जाता बल्कि वर्गो का भी । ग्रामीण कृषि क्षेत्र में उत्पादन के संगठन के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में भी बँटे हुए हैं इन विभिन्न श्रेणियों के व्यवस्थित अध्ययन के आधार पर ही कृषक सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है ।

12.5 अध्ययन की रुचियां एवं विचार

आन्द्रे बेताई ने मूलत: ग्रामीण भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में उपस्थित अवधारणाओं व समस्या पर विस्तार से विवेचन किया है ।

आन्द्रे बेताई के अनुसार भारतीय ग्रामीण समाज की समस्याओं को दो प्रमुख अवधारणाओं को व बहुतायत से प्रेरित किया जाता रहा है । इसमें से एक जाति (Caste) की है एवं दूसरी वर्ग (Class) की । सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में जाति का बहुत खुल कर प्रयोग किया है ।

आन्द्रे बेताई इनके शाब्दिक आधार पर अपनी आपत्ति प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जाति एवं वर्ग दोनों ही अवधारणाएँ विभिन्न प्रकार के तथ्यों का प्रतिनिधित्व करती है अत: सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को इन दोनों में से किसी पर भी अर्थपूर्ण ढंग से लागू नहीं किया जा सकताहै । यूरोपियन समाजशास्त्रियो ने वर्ग एवं स्तर एव कुछ ने सामाजिक वर्ग एव सामाजिक स्तरीकरण एकदम पृथक्-पृथक् मानकर अपने अध्ययन प्रस्तुत किये हैं । आन्द्रे बेताई ने बताया है कि दक्षिण एशिया के कृषक समाज सम्पत्ति, शक्ति एवं प्रस्थिति की असमानता के आधार पर जाने जाते हैं । कुछ लेखकों ने इस असमानता को इन राष्ट्रों की गरीबी के साथ सम्बन्धित किया है । इन समाजों में सबसे प्रमुख असमानता का आधार भूमि का विभाजन है । भारत में भूमि वितरण एवं स्वामित्व के विश्वसनीय ऑकड़े यहीं प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है फिर भी यह स्वीकार करना ही पडेगा कि जाति का अध्ययन भारतीय समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण है ।

आन्द्रे बेताई कहते हैं कि कृषक समाजों के समाजशास्त्रीय अध्ययन की बहुत अधिक आवश्यकता है एवं ऐसे किसी भी कृषक समाज के अध्ययन में भूमि केन्द्रीय महत्व का विषय होना चाहिए । दे जोर देकर कहते हैं भूमि पर स्वामित्व नियन्त्रण एवं उपयोग आदि किसी भी अध्ययन को उचित विषय सामग्री प्रदान कर सकते है ।

12.6 सामाजिक परिधि एवं दायित्व

आन्द्रे बेताई ने कृषि एवं सामाजिक संगठन में विशेष सम्बन्ध पाया है । आर्थिक क्रियाकलापों की दृष्टि से सामाजिक परिधि का विशेष महत्व पाया जाता है । इन आर्थिक क्रियाकलापों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच होने चली अन्त:क्रिया आती है एवं इनमें व्यक्तियों के अधिकार एवं दायित्व भी सामाजिक रूप से परिभाषित किए जाते है । उदाहरण के लिए कृषि सम्बन्धी क्रियाओं को भिन्न-भिन्न तरीकों से संगठित किया जा सकता है! भूस्वामी स्वयं अपनी भूमि को न जोत कर वेतनभोगी मजदूरों से उसे जुतवा सकता हैं इसके अलावा वह अपनी भूमि को दूसरों को निश्चित अवधि के लिए जोतने को दे सकता है, एवं उत्पादन का एक निश्चित भाग भूमि के बदले प्राप्त कराता है । इसके अलावा कृषि की सामाजिक परिधि, सामाजिक व्यवस्था के अन्य पक्षों जैसे भागीदारी, जाति एवं स्थान विशेष से भी सम्बन्धित होती है । इसी कारण विभिन्न समूहों और श्रेणियों में पाई जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं. ।

इसके अतिरिक्त आन्द्रे बेताई के अनुसार प्रत्येक समाज के मूल्य और संगठन परस्पर सम्बन्धित होते है एवं किसी भी परिवर्तन में ये दोनों महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । परन्तु इस सम्बन्ध में हमें ध्यान अदृश्य रखना है कि संगठनों की तुलना में मूल्य परिवर्तन में अक्सर अधिक बाधक होते हैं । वर्तमान में एशियाई देशों में सामाजिक समानता को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है । इसी मूल्य को ध्यान में रखते हुए भारत ने अपने सम्मुख एक जातिविहीन और वर्गविहीन समाज (Classless Society) की रचना का लक्ष्य रखा है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि एशियाई समाजों में यद्यपि परम्परागत मूल्य आज भी मौजूद है परन्तु आदर्श एक समतावादी समाज के निर्माण का रखा गया है लेकिन इन समाजों में और विशेषत: भारत में संस्तरणात्मक मूल्यों का महत्व आज भी बना हुआ है ।

12.7 वर्ग संरचना

आन्द्रे बेताई कहते हैं कि यदि हम पश्चिमी बंगाल के ग्रामीण समाज को बारीकी से देखने का प्रयास करें तो हम पायेंगें कि वहाँ के लोग न केवल जाति की श्रेणी के आधार पर विभाजित हैं, वे कुछ आर्थिक श्रेणियो के आधार पर भी विभाजित हैं । जैसे जमींदार, तालुकेदार, जोतेदार, अड़ियार महीनदार एवं मुंशी आदि । बेताई कहते हैं कि इन प्रत्येक श्रेणियों का विश्लेषण एवं इनके बीच पाये जाने वाले अर्न्तसम्बन्धों का अध्ययन हमारे लिए कृषक वर्ग की संरचना को समझने में बहुत उपयोगी होगा ।

आन्द्रे बेताई ने कृषक सामाजिक संरचना, कृषक समाज में पाए जाने वाली वर्ग संरचना, कृषक सम्बन्धों, कृषक असन्तोष तथा कृषक आन्दोलनों का विस्तृत अध्ययन किया है। इनके अनुसार ग्रामीण कृषक संरचना में निम्नलिखित वर्ग पाए जाते हैं -

(i) भू-स्वामी कृषक;

(ii) भू-स्वामी खेतिहर कृषक

(iii) काश्तकार अथवा बटाईदार कृषक; तथा

(iv) कृषि श्रमिक

उपर्युक्त विभिन्न श्रेणियों और इनके पारस्परिक सम्बन्धों से कृषक संस्तरण प्रणाली निर्मित होती है जो भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। इस सामाजिक व्यवस्था में पाया जाने कला सामंजस्य अथवा असन्तोष इन श्रेणियों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है ।

12.8 शक्ति एवं सत्ता संरचना

परम्परागत रूप से भारतीय ग्रामों में शक्ति संरचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित थे - (i) राजवंश पर आधारित या बाद में जमींदारी या तालुकेदारी पर आधारित शासक वर्ग, (ii) जाति पद-क्रम सोपान में संस्कार के आधार पर उच्च जातियाँ जिसमें प्रस्थिति जन्म के आधार पर प्राप्त होती थी, (iii) जाति पंचायत में चौधरी का पद भी वंशानुगत था, और (iv) ग्राम पंचायत में भी प्राय: मुखिया वंशानुगत आधार पर ही होता था । इस भाँति, शक्ति और संरचना एक बन्द व्यवस्था का रूप प्रकट करती हैं जहाँ शक्ति पद-क्रम सोपान में एक क्रम से दूसरे क्रम में गतिशीलता करना प्राय: असम्भव ही है । इसके अतिरिक्त, प्रस्थिति संयोजन (Status Summation) की स्थिति भी दिखाई देती है अर्थात उच्च जाति ही उच्च वर्ग है और वही शक्ति के सर्वोच्च पद भी ग्रहण किए हुए है । परन्तु पंचायती राज के लागू किए जाने से, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार मिलने से तथा विकास के अन्य कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप यह परम्परागत शक्ति संरचना टूटने लगी है ।

12.9 असमानता एवं निर्धनता

कृषि प्रधान समाजों की एक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी गरीबी तथा सापेक्ष रूप से उनकी अपरिवर्तनीय प्रकृति है । जब इन समाजों की तुलना औद्योगिक समाजों से की जाती है तो एक स्पष्ट अन्तर यह दिखाई पड़ता है कि जहाँ कृषि-प्रधान समाजों में गरीबी पाई जाती है, वहीं औद्योगिक समाजों में समृद्धता । कृषि- प्रधान समाजों में गरीबी पाए जाने का मुख्य कारण भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाब तथा परम्परागत प्रकार की कृषि प्रौद्योगिकी का प्रयोग है ।

जब हम भारतीय समाज के विशेषत: ग्रामीण भाग पर विचार करते है तो पाते हैं कि न केवल यही गरीबी और उसकी अपरिवर्तनीय प्रकृति ही पाई जाती है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में असमानता की भी ऊँची मात्रा देखने को मिलती है । कृषक समाजों में औद्योगिक समाजों की तुलना में ये असमानताएँ अधिक कठोर और स्पष्ट होती है । मिंचल यग ने कृषक और औद्योगिक समाजों की तुलना करते हुए सार रूप में बताया है कि 'भूमि जातियाँ पैदा करती हैं, मशीन वर्ग बनाती हैं ।'

कृषि प्रधान समाजों में असमानता के दो पक्ष हैं । आन्द्रे बेताई के अनुसार इसका प्रथम पक्ष वितरण सम्बन्धी है जो सम्पत्ति, आय, साक्षरता, शिक्षा आदि के वितरण के रूप में व्यक्त होता है । इसके अलावा असमानता उनकी मूल्य व्यवस्थाओं में भी मौलिक स्थान रखती है । परम्परागत भारतीय समाज इस मामले में काफी आगे बढ़ा हुआ है जिसने सामाजिक

असमानता को वैचारिक दृष्टि से न्यायोचित ठहराया । यहीं विशेषत संस्तरणात्मक मूल्यों की प्रधानता पाई जाती है जिनका प्रभाव विभिन्न प्रकार के संगठनों पर स्पष्टत: देखने को मिलता है । देश के चहुँमुखी विकास की दृष्टि से जब नवीन संगठन निर्मित किए जाते है तो वे भी इन परम्परागत मूल्यों से साधारणत: प्रभावित हो जाते हैं ।

भारत में सहकारी समितियों, खण्ड एवं जिला विकास समितियों तथा विद्यालय प्रबन्ध मण्डलों में संस्तरणात्मक प्रणाली स्पष्टत: देखने को मिलती है । यहॉ एक ओर ऐसे व्यक्ति पाए जाते हैं जो विशेष सुविधा-प्राप्त एवं सम्पन्न हैं, जबकि दूसरी ओर ऐसे लोग जो विभिन्न साधनों, सुविधाओं एवं योग्यताओं से वंचित हैं । इस देश में सम्पन्न या सुविधा-प्राप्त लोगों के प्रति आदर का भाव सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर पाया जाता हैं । परिणाम यह होता है कि जो संगठन सामाजिक असमानता को समाप्त करने के उद्देश्य से बनाए जाते हैं, उनमें भी संस्तरण पनप जाता है । ऐसी स्थिति में नवीन विकास या सामाजिक सुधार कार्यक्रमों का लाभ विशेषत: उन लोगों को ही मिल पाता है जो संस्तरणातक प्रणाली के शिखर पर है, जो उच्च या आदरणीय समझे जाते हैं ।

आन्द्रे बेताई ने बताया है कि विकास कार्यक्रमों का सफल होना वही संदिग्ध हो जाता है जहाँ विशेष सुविधा प्राप्त और उससे वंचित लोग दोनों ही यह मानते है कि मनुष्य जन्म से ही असमान पैदा किए जाते है और जहाँ कानून द्वारा निर्मित अधिकरों को काम में लेने से अक्सर सम्बन्धो की मौजूदा व्यवस्था को चुनौती दी जाती हो । यही कारण है कि ग्रामीण समाज में सामुदायिक कार्यक्रमों का लाभ उन गिने-चुने लोगों को ही मिल पाता है जो पहले से ही सम्पन्न और शक्तिशाली थे ।

कृषक समाजों में सामान्यत: भूमि का स्वामित्व एवं नियन्त्रक आर्थिक शक्ति का प्रमुख स्त्रोत है। भारत में कुछ लोग ऐसे है जिनके पास प्रचुर मात्रा में भूमि है, तो कुछ ऐसे भी हैं जो इससे पूर्णत: वंचित हैं । यहीं भू-स्वामियों की भूमिहीनों की तुलना में काफी अधिक आय पाई जाती है । भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच प्रभुत्व एवं निर्भरता के परम्परागत बन्धन पाए जाते हैं जो प्रथम प्रकार के लोगों को भूमिहीनों को अनेक तरीकों से नियन्त्रित करने में समर्थ बना देते हैं । यहीं भूस्वामियों, किराए पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों, बटाईदारों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बीच सम्बन्धों में काफी भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं । देश के विभिन्न भागों में भूमि-सुधार योजना के अन्तर्गत पट्टेदारी तथा बटाईदारी से सम्बन्धित शर्तो की काश्तकार एवं बटाईदार की दृष्टि से समान और सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न किया है परन्तु फिर भी भू-स्वामी और भूमिहीन श्रमिकों के बीच आज भी काफी अन्तर देखने को मिलता है ।

आन्द्रे बेताई ने बताया है कि कुछ भागों में विशेषत: पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में भूमि सुधारों के बाद भी बटाईदारी में खेती असामान्य नहीं है और कभी-कभी भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग ग्रामीण जनसंख्या का एक-तिहाई भाग तक निर्मित करता है । अवलोकनों से यह भी ज्ञात होता है कि काश्तकार, बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों के अपने भू-स्वामियों के साथ आज भी कई क्षेत्रों में परम्परागत सम्बन्ध पाए जाते हैं । ये लोग अपने मालिकों के प्रति आदर और

सम्मान का भाव रखते हैं । इन विभिन्न श्रेणियों के लोगों में विशेषत: भू-स्वामी के सन्दर्भ में आज भी सामाजिक दूरी पाई जाती है ।

जाति-व्यवस्था ने भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच सामाजिक दूरी को बढ़ाने में योग दिया क्योंकि साधारणत: भू-स्वामी उच्च जातियों के और भूमिहीन निम्न जातियों के सदस्य है। उच्च जातियों से सम्बन्धित भू-स्वामी अक्सर स्वयं अपने खेतों पर हाथ से काम नहीं करते हैं । कृषि से सम्बन्धित परिश्रम साध्य कार्य जैसे जमीन खोदना, हल चलाना तथा मिट्टी बोना आदि निम्नतम या अस्पृश्य जातियों के लोग करते हैं ।

भूमि के असमान वितरण का परिणाम यह हुआ है जिसके पास जितनी अधिक भूमि है उसकी आय भी उतनी ही अधिक है । इस प्रकार भूमि असमान मात्रा में स्वामित्वता के कारण यहीं आय सम्बन्धी असमानता भी काफी मात्रा में देखने को मिलती है । बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों को साधारणत: कठिनता से ही इतनी आय हो पाती है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें । वर्तमान मे कृषि क्षेत्र में नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग तथा व्यापारिक किस्म की फसलों के प्रकार ने छोटे कृषकों तक की भी आय को बढ़ाने में योग दिया है कृषि श्रमिकों को कहीं-कहीं, विशेषतया उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि और उद्योग में श्रमिकों की माँग काफी बढ़ गई है, अधिक मजदूरी मिलने लगी है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आय का कम या अधिक होना प्रमुखत: इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का कितनी भूमि पर स्वामित्व या नियन्त्रण है ।

ग्रामीण सामाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता जीवन के ढंग (Style Of Life) सम्बन्धी अन्तरों के रूप में है । भारतीय गाँवों में बड़े भू-स्वामी जागीरदार एवं जमींदार आदि पक्के मकानों तथा कोठियों में रहते हैं । बटाईदार और कृषि श्रमिक कच्चे मकानों या झोपडियों तक में रहते है । एक ओर भू-स्वामियों और दूसरी ओर बटाईदारों व कृषि-श्रमिकों की पोषाक, बोल-चाल की भाषा, तौर-तरीके और जीवन के तप में भी काफी अन्तर देखने को मिलते हैं । कृषि क्षेत्र में विभिन्न स्तर के लोगों में साक्षरता की दृष्टि से भी भेद पाया जाता हैं । यहाँ शिक्षा को आज भी कुछ उच्च वर्गो और जातियों के विशेषाधिकार के रूप में माना जाता है । आज भी देश में कई ऐसे ग्राम मिल जाएँगे जहाँ कृषि श्रमिकों में से शायद ही कोई व्यक्ति शिक्षित हो । आन्द्रे बेताई ने बताया है कि कृषक वर्ग में साक्षरता और शिक्षा का फैलाव जापान में भूमि सुधारों की सफलता के पीछे एक महत्वपूर्ण कारक था, जबकि भारत में जहाँ पददलित या शोषित लोग जो अशिक्षित भी हैं, भूस्वामी उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखने में अधिक सफल रहे हैं ।

ग्रामीण भागों में ने केवल धन तथा प्रस्थिति की दृष्टि से ही असमानताएँ पाई जाती हैं, बल्कि शक्ति तथा सत्ता की दृष्टि से भी । यद्यपि गाँवों में प्रजातन्त्रालक संस्थाएँ प्रारम्भ तो जा चुकी हैं और सिद्धान्त रूप में सभी वर्गो और जातियों को शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से समान सुविधाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु व्यवहार रूप में ऐसा नहीं हैं । वहाँ बटाईदार और कृषि श्रमिक शक्ति संस्तरण की प्रणाली में सबसे निम्न स्तर पर है । इसका मुख्य कारण परम्परागत रूप से चली आ रही असमानताएँ है । गाँवों में यह भी देखने में आता है कि वहाँ

विशेषाधिकार सम्पत्ति एवं शक्ति एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होती है तथा सामाजिक दृष्टि से पद-दलित लोग न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी वितिध साधनों एवं सुविधाओं से वंचित रहते हैं । यहीं आनुवंशिक सिद्धान्त पर विशेषत: जोर दिए जाने के कारण सामाजिक विभेद और भी बढ़ जाते हैं । ऐसी स्थिति में समाज को समतावादी आधार पर निर्मित करने में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है ।

ऐसी दशा में विकास एवं सुधार कार्यो में लगे लोगों का संस्तरणात्मक प्रणाली के शिखर पर बैठे समूहों को छोड़कर उन लोगों तक पहुँचना जिनके लाभ के लिए योजनाएँ बनाई गई हैं, बहुत कठिन है । परिणामस्वरूप विकास कार्यक्रमों एवं किसी भी नवीन योजना का लाभ साधारणत: उन्हीं लोगों को मिल पाता है जो पहले से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से सम्पन्न है ।

आन्द्रे बेताई ने बताया है कि मालाबार के कृषक संस्तरण की प्रणाली और जातियों की संस्तरण प्रणाली एक दूसरे से काफी निकट और सम्बन्धित पाई गई । साधारणत: कृषक भू-स्वामी जातियों की प्रस्थिति सबसे उच्च होती है, इनके नीचे कृषि करने वाली और दस्तकारी का काम करने वाली जातियाँ आती है और सबसे नीचे कृषि श्रमिकों की जातियॉ । ग्रामीण स्तर पर प्रभुत्वशाली भू-स्वामी समूह की स्थिति जाति संस्तरण की प्रणाली में शिखर पर न होकर मध्य में थी । भारत में नवीन राजनीतिक व्यवस्था ने इन प्रभुत्व-सम्पन्न कृषक जातियों में महत्व को और भी बढ़ा दिया है । व्यस्क मताधिकार ने इनकी शक्ति को बढ़ाने में विशेष योग दिया है । कृषि-संस्तरण के निम्नतर स्तर पर बटाईदार और भूमिहीन कृषि श्रमिक आते हैं जो साधारणत निम्न या अस्पृश्य जातियों से सम्बन्धित हैं ।

कृषक क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए आन्द्रे बेताई ने बताया है कि वयस्क मताधिकार तथा ग्राम पंचायतों की स्थापना से गाँव में केवल भू-स्वामित्व तथा परम्परागत प्रस्थिति ही शक्ति के आधार नहीं रहे है । संगठित संख्या की शक्ति अब इतनी महत्वपूर्ण बन गई है जितनी पहले कभी नहीं थी । इसके उपरान्त भी भूमिहीन लोगों के पास शक्ति बहुत कम हो गई है, चाहे उनकी संख्या कितनी ही ज्यादा क्यों न हो । साधारणत: हुआ यह है कि कृषक भू-स्वामियों मध्यम, और बडे को अकृषक भू-स्वामियों की कीमत पर शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ लाभ मिला है कहने का तात्पर्य यह है कि कृषक भू-स्वामियों की शक्ति सापेक्ष रूप से बढती है परन्तु भूमिहीन लोगों की स्थिति में इस दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है ।

भूमि सुधार (Land Reform) में हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि कृषि क्षेत्रों में जहाँ एक ओर कुछ लोगों के पास भूमि काफी अधिक मात्रा में पाई जाती है, वही दूसरी ओर बहुत से लोग इससे पूर्णत: वंचित हैं । परिणाम यह हुआ कि एक ओर जमींदारों और दूसरी ओर किराए पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों तथा भूमि-हीन श्रमिकों के बीच असमानता की खाई बहुत बढ़ गई है। देश के स्वतन्त्रा होने के तुरन्त पश्चात लोगों का ध्यान असमानता के इन विपरीत छोरों की ओर गया । फलस्वरूप स्वतन्त्र भारत में ऐसा संविधान लागू किया गया जो

जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज के लिए प्रतिबन्ध था । यहीं सोचा गया कि भूमि सुधारों के माध्यम से सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को समाप्त अथवा कम किया जा सकेगा ।

भारत में भूमि सुधार की दृष्टि से सर्वप्रथम जमींदारी व्यवस्था को समाप्त किया गया। सोचा यह गया कि ऐसा करने से मध्यस्थों के हितों को समाप्त किया जा सकेगा और किसानों के राज्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किए जा सकेंगे लेकिन जमींदारी उन्मूलन से किसानों के एक ऐसे समरूपवर्ग का निर्माण नहीं हो पाया जो देश के सभी भागों में करीब-करीब समान आकार के खेतों को स्वयं अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से जोतते हों । इसका कारण यह था कि यहीं किसान के अन्तर्गत एक ओर वे छोटे भू-स्वामी आते है जो अपने परिवार की सहायता से ही खेती करते हैं, तो दूसरी ओर वे बड़े भूस्वामी भी जो काश्तकारों को किराए पर भूमि जोतने को देते हैं । जमींदारी उन्मूलन से बटाईदार में खेती और किराए पर लेकर भूमि जोतने के विभिन्न प्रकारों का प्रचलन समाप्त नहीं हुआ । साथ ही इससे भूमिहीनो श्रमिकों के एक बहुत बड़े वर्ग की स्थिति में भी कोई सुधार नहीं लाया जा सका ।

12.10 सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान

आन्द्रे बेताई ने दक्षिणी भारत में मद्रास के तंजौर जिले में पाये जाने वाले कृषक सम्बन्धों (Agrarian Ralations) की विस्तार से विवेचना की है ।

सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना निःसन्देह हम भूविज्ञान (Grology) के आधार पर ही करते है अर्थात जिस तरह पृथ्वी एक दूसरे के ऊपर स्थित अनेक पतों का एक मिलाजुला रूप है ठीक उसी तरह समाज भी एक दूसरे पर अवस्थित विभिन्न स्तरों की एक व्यवस्था है ।

आन्द्रे बेताई ने स्तरीकरण की समस्या की वितेचना मुख्यत: भूमि के स्वामित्व (Ownership), नियंत्रण (Control) एवं उपयोग (Use) के आधार पर की है । लेकिन वे लिखते हैं कि इसका यह आशय नहीं लगाया जाना चाहिए कि कृषक-वर्ग संरचना का यह एक मात्रा अन्तिम विश्लेषण है अपितु इस आधार पर इसे विश्लेषित करने का सबसे बड़ा कारण यह है कि सामान्यत: ग्रामीण भारत में कार्यरत नेतृत्वशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों ने इस पक्ष की उपेक्षा की । अत: जब तक हम इस पक्ष को निकटता से नहीं जान लेते कि किस प्रकार भूमि का स्वामित्व, नियन्त्रण व उपयोग असमानता के प्रतिमान को प्रस्तुत करता है तब तक हमारी 'जाति के प्रति समझ भी अधूरी रहेगी ।

आन्द्रे बेताई कहते है कि अब हमें पहले इन कोटियों के पदसोपानिक पक्ष को देखना चाहिये, जैसा कि हमने यहीं तंजौर जिले में पाया है । कोई भी व्यक्ति इनमें पायी जाने वाली तीन तरह की असमानता को आसानी से देख सकता है-

(क) भू-स्वामी एवं पट्टेदारों के मध्य पायी जाने वाली असमानता ।

(ख) भूमि के मालिक एवं मजदूरों के मध्य पायी जाने वाली असमानता ।

(ग) बड़े, मध्यम व छोटे स्वामियों के मध्य पायी जाने वाली असमानता ।

इन असमानताओं में से पहले दो वर्गो में पायी जाने वाली असमानतायें स्पष्टत: विरोधाभासी विभाजन पर आधारित है यद्यपि तीसरे वर्ग में केवल श्रेणी अन्तर पाया जाता है ।

सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति में यहाँ एक गाँव से दूसरे गांव में अलग-अलग दिखाई देते है । सामाजिक स्तरीकरण को तुलनात्मक रूप से देखने का एक अन्य आधार यह है कि हम पद-सोपानिक अवस्था में सबसे ऊपर व सबसे नीचे आने वाले वर्ग की सामाजिक दूरी को देखने का प्रयास करें । बेताई का मानना है कि इन कोटियों की प्रकृति एवं इनके मध्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी तब तक स्पष्टत: नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम इसे जाति के सन्दर्भ में नहीं समझें । हालाँकि ऐसा करने में हमें अत्यधिक सावधानी बरतनी होगी ।

आन्द्रे बेताई के अनुसार जाति एवं कृषक वर्ग संरचना के मध्य दो प्रकार के संबंध स्पष्टत: देखे जा सकते हैं-

(1) सतही सम्बन्ध (Surface Relationship) अर्थात् यह माना जाना कि भूस्वामी उच्च जाति के एवं भूमिहीन सामान्यत: निम्न जाति के व्यक्ति हैं ।

(2) गहरे सम्बन्ध (Deeper Relationship) अर्थात जाति के श्रेणीगत मूल्य भूमि मालिकों, पट्टेदारों व कृषक श्रमिकों के मध्य असमान सम्बन्धो के रूप में दिखाई देते हैं तथा यह मान्यता प्राप्त है । कुछ लोग यह भी स्वीकार करते हैं कि जाति में तो एक पद-सोपानिक व्यवस्था होती है लेकिन वर्ग में ऐसा नहीं है । लेकिन वस्तुत: यह सत्य नहीं माना जा सकता। भूस्वामियों, भूमि मालिकों, पट्टेदारों व कृषक श्रमिकों के रूप में इस पदसोपानिक व्यवस्था को आसानी से देखा जा सकता है ।

कृषक पदसोपानिक व्यवस्था में सबसे ऊपर व सबसे नीचे आने वालों में स्पष्ट अन्तर किया जा सकता है बडे भू-स्वामियों एवं भूमिहीन मजदूरों के जीवन व रहन सहन के तरीकों में भी अनेक व स्पष्ट अन्तर देखे जा सकते हैं । प्रथम तो वे कार्य करने में ही अलग-अलग है । बड़े भूस्वामी किसी तरह के शारीरिक श्रम (Phyusical Labour) में व्यस्त नही हैं । यह अन्तर भूस्वामियों व भूमिहीनों में विशेषकर औरतों में जिन्हें कोई भी तंजौर जिले में चावलों के खेत में काम करते हुए देख सकता है, और यह अनुभव कर सकता है कि ये लोग न केवल जाति संरचना में बल्कि कृषक पदसोपानिक व्यवस्था में भी निम्न स्थान रखते हैं ।

आन्द्रे बेताई लिखते हैं कि तंजौर जिले में भू-स्वामी व पट्टेदारों में भी पाया जाने वाला अन्तर उतना अधिक नहीं है जितना कि पहले दिखाई देता था । इसका कारण यह रहा कि 1950 के बाद पट्टेदारों में एक वर्ग के रूप में काफी परिवर्तन हुए हैं ।

आन्द्रे बेताई के अनुसार कृषक व्यवस्था की आधारभूत समस्या अभी भी भूस्वामियों व भूमिहीन मजदूरों के मध्य सम्बन्ध की है । यह समस्या अब कुछ नये आकार ग्रहण कर रही हैं और इन्हें समझने के लिए हमें जिले की राजनैतिक शक्तियों को समझना होगा ।

12.11 कृषक एवं जनजातीय समाज : सामाजिक असंतोष के कारण

भारतीय कृषक संरचना के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कृषि के क्षेत्र में पाई जाने वाली विभिन्न श्रेणियों के मध्य भूमि के स्वामित्व, नियन्त्रण आय ओर जीवन के तौर-तरीकों सम्बन्धी अनेक अन्तर पाए जाते हैं

कृषक क्षेत्र में व्याप्त सामाजिक असमानताओं और इनके सम्बन्ध में जागरूकता बढने के कारण वर्तमान समय में कृषक असन्तोष बढ़ता जा रहा है । ग्रामीण क्षेत्रो में छोटे किसानों, काश्तकारों तथा पट्टेदारी पर खेती करने वालों और भूमिहीन श्रमिकों के जीवन में अनेक अभाव पाए जाते हैं । उनके अस्तित्व की दशाएँ शोचनीय है एवं जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं से भी वे सामान्यत: वंचित भी हैं । ऐसी स्थिति में उनमें असन्तोष का पाया जाना स्वाभाविक है। यद्यपि राजनीतिक आन्दोलनों में इन लगा में अपने अस्तित्व की दशाओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के प्रति विशेष भूमिका निभाई ।

कृषक असन्तोष सामान्यत: लोगों की भौतिक दशाओं से सम्बन्धित है, जैसे -जैसे समाज के कमजोर वर्गो की भौतिक दशाओं में गिरावट आती जाती है वैसे-वैसे सामाजिक असन्तोष भी बढ़ता जाता है । भौतिक दशाओं में सुधार होने से कमजोर वर्ग में पाया जाने वाला असन्तोष कम होता है और उनमें सहयोग उन्नत होता है । यह भी सही है कि वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रो में हरित-क्रान्ति के कारण स्थिति में कुछ सुधार हुआ है । खाद्यान्नों का उत्पादन भी बढ़ा है तथा लोगों ने नवीन तकनीक, उपकरणों, रासायनिक खादों, उन्नत बीजों आदि को अपनाना प्रारम्भ किया है । साथ ही लोगों का यह अनुभव भी है कि वर्तमान में सामान्य व्यक्ति की आय, उनके वेतन, मजदूरी व भत्ते बढ़े हैं, लेकिन इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन भौतिक दशाओं में होने वाले सुधार से सामाजिक असन्तोष समाप्त प्राय: हो जाता है । वास्तविकता इसके कुछ विपरीत है । आज भी कहीं कोई भूमिहीन जबरन भूमि पर किस्सा करने का प्रयास करता है तो कहीं भू-स्वामी अपने काश्तकार को भूमि पर से बेदखल करने पर लगा हुआ है अनेक स्थानों पर भू-स्वामियों के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है तो कहीं-कहीं भू-स्वामित्व काश्तकार एवं भूमिहीन श्रमिकों का शोषण करते हुए दिखाई देते है । कहीं-कहीं भूमि को लेकर मारपीट-गोली मार देने एवं जिंदा जला देने जैसी घटनाएँ भी आम तौर पर सुनाई देती हैं । जो लोग यह मानते है ग्रामीण क्षेत्रों में संघर्ष और हिंसा में वृद्धि हुई है, उनकी मान्यता है कि यद्यपि हरित क्रान्ति से ग्रामों का काया-पलट तो हुआ है, परन्तु इसका लाभ अधिकांशत: कुछ थोडे से धनी किसानों को हुआ है छोटे किसानों, काश्तकारों तथा भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और विशेषत: बढ़ते हुए मूल्यों का इनकी भौतिक दशाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है ।

12.12 सुसंगत एवं कुसंगत व्यवस्थाएँ

प्रो. आन्द्रे बेताई ने दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का उल्लेख किया है । जिनमें से एक को सुसंगत सामाजिक व्यवस्था (Harmonic System) एवं दूसरी को कुसंगत सामाजिक व्यवस्था (Disharmonic System) के नाम से पुकारा गया है । आन्द्रे बेताई के अनुसार एक सुसंगत सामाजिक व्यवस्था वह है जिसमें अस्तित्वात्मक व्यवस्था तथा प्रतिमानात्मक या आदर्शात्मक व्यवस्था के बीच सामंजस्यता पाई जाती है, असमानताऐ न केवल वास्तव में पाई जाती हैं लेकिन उन्हें वैध या उचित माना जाता है । एक कुसंगत सामाजिक अवस्था वह है जिसमें आदर्शात्मक व्यवस्था अस्तित्व सम्बन्धी व्यवस्था से असामंजस्यता की

स्थिति में होती है, वास्तव में असमानताएँ पाई जाती है लेकिन उन्हें अब वैध या उचित नहीं माना जाता । अनुभव के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि निर्धनता और असमानता सामाजिक असन्तोष और संघर्ष के पीछे प्रमुख शक्ति हैं । परम्परागत समाजों में निर्धनता और असमानता काफी मात्रा में पाई जाती रही है लेकिन वे इनके प्रति सहिष्णु रहे हैं । इन समाजों में असन्तोष और संघर्ष के बजाय शान्ति और व्यवस्था पाई जाती है ।

12.13 परम्परागत प्रतिमान एवं परिवर्तन

(1) परम्परागत कृषि संस्तरण में परिवर्तन - आन्द्रे बेताई ने बताया है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत में परम्परागत कृषिक संस्तरीय प्रणाली के सबसे ऊपरी भाग के महत्व को घटा दिया और स्वरूप भी बदल दिया गया है । यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि भूमि सुधार ही इसका एकमात्र कारण है, लेकिन इसने निश्चित रूप से इसमें प्रमुख भूमिका निभायी है । पिछले पन्द्रह वर्षो में बहुत से बड़े जमींदारों, तालुकेदारों तथा जागीरदारों की अवनति हुई है और उनके साथ न केवल भूमि के स्वामित्व का एक विशिष्ट स्वरूप ही समाप्त हुआ है, बल्कि 'सामन्ती' प्रकार के जीवन के ढंग के बहुत से तत्व

(2) भूस्वामियों के प्रभुत्व कास - भूमि सुधारों का एक प्रभाव यह पड़ा कि बडे-बडे जागीरदारों-जमींदारों की, जिनकी देश के विभिन्न भागों में जैसे ग्रामीण बंगाल, राजस्थान तथा अन्य कई राज्यों में आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मामलों में प्रभुत्वशाली स्थिति थी, अब वह स्थिति नहीं रही । परम्परागत कृषि संरचना के सबसे ऊपरी भाग वाले लोगों के पास यद्यपि भूमि तो काफी मात्रा में थी, परन्तु उनका वास्तविक कृषि कार्यो से नहीं के बराबर सम्बन्ध था । वे दूसरों को किराये पर या बटाईदारी में भूमि जोतने को देते थे: अनुपात पहले की तुलना में घट गया है । अब कृषि के माध्यम से आर्थिक लाभ के अवसर बढ़ गये है । इससे प्रेरित होकर कुछ पूर्ववर्ती जागीरदार और जमींदार कृषि कार्य में अधिक प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने लगे हैं । आजकल कई जमींदार स्वयं 'पूँजीपति किसान (Capitalist Farmers) बन गये है । अब वे अपने खेतों पर और कुछ नहीं तो देख-रेख का ही कार्य करने लगे है । यद्यपि आज भी उनकी आय काफी है, परन्तु अब उन्हें वह सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है जो किसी समय जागीरदार के रूप में थी । वर्तमान में पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'सामन्ती' प्रकार के भूस्वामी की बजाय 'आर्थिक' प्रकार के भूस्वामी का महत्व बढ़ा है ।

(3) नवीन प्रकार के भूस्वामियों का उदय - यही इस ओर ध्यान देना भी आवश्यक है कि इस नवीन प्रकार के भूस्वामी का उदय जो वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से खेती करने की ओर अग्रसर है, कुछ ही लोगों के हाथ में भूमि के केन्द्रीकरण की प्रवृति को किस सीमा तक बदल पाया है इसमें कोई सन्देह नहीं कि बडी-बड़ी जागीरें जिनका क्षेत्र सैकडो मीलों अथवा कई गाँवों तक विस्तृत था, समाप्त प्राय हो चुकी हैं, परन्तु आज भी 100 से 200 एकड के खेत या फार्म कई लोगों के पास हैं । इन लोगों ने भूमि की उच्चतम सीमा

सम्बन्धी कानूनों से बचने के लिए भूमि का विभाजन अलग-अलग व्यक्तियों के नाम दिखा अवश्य रखा है, परन्तु वास्तव में पूरे फार्म पर एक ही परिवार का अधिकार है ।

(4) अर्जित पदों का महत्व - जन्म पर आधारित प्रदत्त पदों के स्थान पर अर्जित पदों का महत्व बढ़ रहा है । आन्द्रे बेताई ने अपने अध्ययन में बताया है कि पंचायत में चुनाव अब वोट के आधार पर होता है । गॉव में उन लोगों का प्रभुत्व बढ़ रहा है जो सरकारी दफ्तरों या राजनेताओं से अच्छे सम्बन्ध रखते हैं और किसी का काम करा देने की स्थिति में है । जिस परिवार के सदस्य उच्च सरकारी पदों पर पहुँच जाते है उनका भी ग्रामीण समाज में महत्व बढ़ जाता है । जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो चुका है । द्रव्य पर आधारित अर्थ व्यवस्था के लाग हो जाने से गाव में उन परिवारों का महत्व भी बढ़ जाता है जो पैसे वाले हो गए हैं । निश्चित ही आश्रयदाता और सेवक का वह परम्परागत सम्बन्ध टूट रहा है ।

(5) भूमि वितरण सम्बन्धी असमानता - आन्द्रे बेताई ने बताया है कि कुछ लोग उचित आकार के खेत के स्वामी या नियन्त्रक है जबकि अधिकांश कृषक परिवारों के पास छोटे खेत ही है । नेशनल सैम्पल सर्व (National Sample Survey) द्वारा 1953-54, 1959-60 तथा '1960-61 ने जो आँकडे दिये गये है, वे विभिन्न आकार की जोतों के वितरण में कोई परिवर्तन व्यक्त नहीं करते । 1953-54 में 60 प्रतिशत जोत 5 एकड से छोटे थे जबकि 1959-60 तथा 1960-61 के लिए ये ऑकडे क्रमश: 62.96 तथा 61.69 प्रतिशत थे । इस आकार के जोतों द्वारा घेरा हुआ क्षेत्र 1953-54 में कुछ क्षेत्रा का 15.44 प्रतिशत था, 1959-60 में 18.88 तथा 1960-61 में 19.18 प्रतिशत था । दूसरी ओर 1953-54 में - 30 एकड़ से ऊपर के जोत सम्पूर्ण का 4.27 प्रतिशत थे और ये 30.81 प्रतिशत क्षेत्रा घेरे हुए थे: 1960-61 में ये खेत कुल खेतों का 3.21 प्रतिशत थे और कुल क्षेत्र का 23.65 प्रतिशत भाग घेरे हुए थे । इन आकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में भूमि वितरण सम्बन्धी असमानता काफी मात्रा में व्याप्त है ।

सन् 1976-77 में जहाँ देश में कुल कार्यशील जोतों की संख्या 8.15 करोड़ थी, वहीं 1980-81में यह 8.94 करोड तथा 1990-91 में 10.53 करोड हो गयी । इनमें से सीमान्त एवं लघु जोतों की संख्या बढकर कुल जोतों की करीब 75 प्रतिशत है एक हेक्टेयर से कम बाली जोतों को सीमान्त जोत (Marginal Holding) तथा एक हेक्टेयर से अधिक, किन्तु दो हेक्टेयर से कम बाली जोतों को लघु जोत (Small Holdingl) 2 से 4 हेक्टेयर तक जोतों को अर्द्ध-मध्यम जोते, 4 से 10 हेक्टेयर तक को मध्यम जोते तथा 10 हेक्टेयर या उससे अधिक को वृहत जोते माना गया है ।

यद्यपि आज अकृषक भूस्वामी या अनुपस्थित प्रकार के भूस्वामी जो अकृषक कार्यो में लगे हुए हैं, अपनी भूमि को बेचने की ओर प्रवृत्त हैं, परन्तु इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भूमि का अधिक लोगों में वितरण हो रहा है । स्थिति यह है कि खेतों से उत्पन्न वस्तुओं की कीमतों के तेजी से बढने का आर्थिक लाभ उठाने हेतु बडे आर्थिक भूस्वामी और अधिक भूमि खरीद कर अपने खेतों का आकार बढाना चाहते हैं । यहीं इस दृष्टि से विचार करना भी आवश्यक है कि नवीन किस्म के उत्पादक प्रबन्धों की व्यवस्था में विभिन्न व्यक्तियों

के बीच पाये जाने बाले सम्बन्ध पुरानी उत्पादक व्यवस्था की तुलना में कम अथवा अधिक संस्तरणात्मक हैं ।

यह कहा जा सकता है कि नवीन उत्पादक व्यवस्था संस्तरण के परम्परागत प्रतिमान के महत्व को कम करने में सहायक है । 'आर्थिक' भूस्वामी स्वयं भी किसी न किसी रूप में खेत पर काम करता है । वह कभी खेत में ट्रेक्टर चलाता है तो कभी कोई अन्य कार्य करता है और कभी निरीक्षणकर्ता के रूप में अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कार्यो की देख-रेख करता है ।

(4) भूमि सुधार कार्यक्रमों ले फलस्वरूप जमींदारों द्वारा काश्तकारों का जो शोषण होता था उसका अन्त हुआ हैं अत वे उनसे बेगार नहीं ले सकते ।

(5) भूमि सुधार कार्यक्रमों में उत्पादन में भी वृद्धि हुई है क्योंकि अब किसान लगन से काम करने लगे हैं ।

(6) जमींदारी उन्मूलन से कृषकों का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिससे उनको सरकारी सहायता मिलन में आसान हो गया है ।

(7) भूमि सुधार कानूनों से सामन्तवाद का अन्त हो गया है अब कृषक लोकतन्त्र एवं समाजवाद में भाग ले सकते हैं ।

(8) इन कानूनों से किसानों की दशा सुधरी है एवं उनकी उन्नति हुई है । भूमिहीन कृषकों को भूमि प्राप्त हुई है ।

(9) इन कानूनों से पंचायतों की आय में वृद्धि हुई है क्योंकि उन्हें बंजर एवं चरागाह भूमि का प्रबन्ध करने का अधिकार मिल गया है । इस आय को वे गाँव के विकास कार्य में लगा सकते हैं।

(10) भूमि सुधार कार्यक्रमों से ग्रामीण रोजगार में वृद्धि हुई है ।

(11) इन अधिनियमों से भूमि के असमान वितरण में कमी आयी है ।

(12) इन अधिनियमों से सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिला है ।

(13) इनके कारण गाँवों में वर्ग संघर्ष पर रोक लगी है ।

(14) भूस्वामी एवं काश्तकार के बीच अनार की समाप्ति - आन्द्रे बेताई ने इस सम्बन्ध में बताया है कि पहले वाली उत्पादक व्यवस्था में भूमि के स्वामित्व और हाथ से काम करने में विपरीत प्रकार का सम्बन्ध था । जब भूस्वामी स्वयं भी किसी न किसी रूप में खेत पर काम करता है, तो उसके और उसी के खेत पर काम करने वाले श्रमिकों के बीच की एक महत्वपूर्ण बाधा समाप्त हो जाती है, चाहे भूस्वामी की जोत का आकार कितना ही बड़ा और श्रमिकों का वेतन कितना ही कम क्यों न हो । स्पष्ट है कि नवीन पारिस्थितयों ने उत्पादन सम्बन्धों को पहले की तुलना में कुछ कम संस्तरणात्मक बनाने में योग दिया हैं ओज- -बडे भूस्वामी भी आस पास के खेतों को किराये पर लेकर अपने खेतों के आकार को बढाने की ओर प्रयत्नशील हैं । ऐसी स्थिति में - आज -कई भूस्वामी साथ ही काश्तकार भी हैं और ऐसी दशा में भूस्वामी और काश्तकार के बीच पाये जाने वाले कई अन्तर अब धीरे-धीरे कम होते जा रहे है, परन्तु समाप्त नहीं । परन्तु आज भी

वास्तविकता यह है कि पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा देश के अनेक भागों में भूमि के वितरण के सम्बन्ध मे अनेक असमानताएँ पाई जाती हैं ।

प्रश्न यह उठता है कि भूमि सुधार सम्बन्धी विभिन्न अधिनियमों के पारित होने के उपरान्त भी कृषि क्षेत्र में सभी मध्यस्थों से छुटकारा प्राप्त क्यों नहीं किया जा सका और काश्तकारों एवं भूमिहीन श्रमिकों का शोषण क्यों नहीं रोका जा सका? कृषिक सामाजिक संरचना में ही कुछ ऐसी विशेषताएँ मौजूद है जिनकी वजह से इच्छित परिवर्तन नहीं लाये जा सके । सर्वप्रथम हम पाते हैं कि स्वयं कानून में 'कृषक' (Cultivator) की परिभाषा में उन लोगों को भी सम्मिलित कर लिया गया जो स्वयं खेती तो नहीं करते, परन्तु जो भूस्वामी है । यह मौजूदा सामाजिक व्यवस्था से एक समझौता था, क्योंकि ब्राह्मण एवं राजपूत, आदि उच्च जातियों के लोग भूस्वामी हो हैं, परन्तु अधिकांशत: स्वयं खेती नहीं करते । ऐसे लोगों को भी 'कृषक' की परिभाषा के अन्तर्गत ले लिया गया । डेनियल थोर्नर ने बताया है कि यह वास्तव में परम्परागत भारतीय समाज के संस्तरणात्मक मूल्यों के प्रति एक छूट थी । न केवल कानूनों के निर्माण में बल्कि उनके क्रिया चयन में अधिकारियों तक के द्वारा भूस्वामियों की उच्चता को स्वीकार किया गया है । भूमि सुधार प्रयत्नों की असफलता का एक प्रमुख कारण प्रशासन की अकुशलता या अधिकारियों का कमजोर वर्ग के लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रहा है । परिणाम यह हुआ है कि दूसरों की भूमि को किराये पर जातेने वाले काश्तकार और भूमिहीन श्रमिक जिनके लाभ के लिए समय-समय पर विभिन्न अधिनियम पारित किये गये, लाभान्वित नहीं हो सके ।

यहाँ किराये पर भूमि लेकर जोतने के प्रचलन की पूर्ण समाप्ति व्यवहार रूप में कठिन है । भूमि पर जनसंख्या के अधिक भार के कारण भूस्वामी और काश्तकार दोनों ही भूमि के छोटे से टुकडे से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । काश्तकार भी आर्थिक कारणों की बजाय प्रस्थिति या प्रतिष्ठा सम्बन्धी कारणों से भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करने की बजाय दूसरों की भूमि किराये पर जोतने या बटाईदारी में खेती करने को ज्यादा पसन्द करते हैं । उदाहरण के रूप में, कृषक जातियाँ जैसे जाट, आदि श्रमिकों के बजाय काश्तकारों या बटाईदार के रूप में कार्य करना अधिक उत्तम समझती है, चाहे आर्थिक दृष्टि से यह लाभप्रद नहीं भी हो।

आज किराये पर भूमि जीतने वाले काश्तकारों अथवा बटाईदारी में खेती करने वालों की स्थिति अनेक कानूनों के उनके पक्ष में होने के बावजूद भी काफी अस्पष्ट है । पहले भूस्वामी बटाईदारी में खेती को एक अच्छी अवस्था समझते है, लेकिन आज वे ऐसे बटाईदार या किराये पर भूमि जोतने वाले काश्त कारको भूमि पर से बेदखल करके उस भूमि को स्वयं जोतना या उसे कृषि श्रमिकों से व्यक्तिगत देखरेख में जुतवाना लाभप्रद समझते है । इससे कम से कम वे इस भय से तो मुक्त हो जाते हैं कि नये-नये कानूनों के बनने से कहीं उनकी भूमि पर काश्तकारी का अधिकार नहीं हो जाये, कहीं दह भूमि का मालिक नहीं बन जाये । अत: पट्टेधारी काश्तकार (tenant) की स्थिति इस दृष्टि से अनिश्चित और असुरक्षित है कि शक्तिशाली भूस्वामी उसे भूमि पर से बेदखल करने और उसके द्वारा जोती जाने वाली भूमि को स्वयं के

प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे लेने में सफल हो जाता है, परन्तु जहाँ किराये पर चुभे जीतने वाला कोई काश्तकार भूमि पर अपना कानूनी अधिकार स्थापित करने में सफल हो जाता है, वहाँ उसे पहले के समान अपने भूस्वामी की कृपा पर निर्भर नहीं रहना पडता । ऐसे काश्तकार की आर्थिक स्थिति में भी सुधार की सम्भावना अधिक रहती है । यद्यपि कुछ क्षेत्रों में काश्तकारी की स्थिति में थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, परन्तु सम्पूर्ण देश की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कानूनों के काश्तकारों के पक्ष में होने के उपरान्त भी उनकी वास्तविक स्थिति न केवल अनिश्चित बल्कि साथ ही असुरक्षित भी है । तथ्यों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जहाँ काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों को संगठित राजनीतिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त है, वहाँ उनकी स्थिति में सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सुधार हुआ

12.14 भूमि सुधार कार्यक्रमों से सम्मधित आंद्रे बेताई के विचार

आन्द्रे बेताई ने भूमि सुधारों का मूल्यांकन करते हुए बताया है कि तथ्यों के सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि सुधार कृषिक सामाजिक संरचना में व्याप्त मौलिक असमानताओं को समाप्त या कम करने में असफल रहे है । भूमि-सुधार से किराये पर जोती जाने वाली भूमि के क्षेत्र में अवश्य कमी आयी है और उच्च मध्यस्थों के अधिकार भी समाप्त हुए हैं । परन्तु इससे भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीकरण कम नहीं हुआ है और न ही उन छोटे काश्तकारों की स्थिति में सुधार हुआ है जो केवल मौखिक रूप से निर्धारित शर्तो के आधार पर किराये पर भूमि जोतते हैं या जो बटाईदार के रूप में खेती करते हैं । इस सम्बन्ध में जी. पी. मिश्रा ने अपने अध्ययन के आधार पर लिखा है कि भूमि सम्बन्धों की मौलिक संरचना वैसी की वैसी बनी हुई है जैसा कि भूस्वामी कृषक, किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकार तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की कृषक बनावट से व्यक्त होता है । कृषि के क्षेत्र में हरित क्रान्ति का विशेष लाभ बडे भूस्वामियों को मिला है और इससे असमानता और निर्धनता कम नहीं हो पायी है । इसका मूल कारण यह है कि पंचवर्षीय योजनाओं में नवीन कृषि प्रौद्योगिकी को काम में लेते हुए कृषि उत्पादन को बढ़ाने पर तो विशेष जोर दिया गया, लेकिन उत्पादित वस्तुओं के समुचित वितरण और सामाजिक न्याय पर कम । अत: कृषि संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया न तो कमजोर वर्ग के लोगों की संख्या को घटाने और न ही उनकी आर्थिक दशा को सुधारने में सफल हो सकी ।

विडम्बना यह भी है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश की नीतियाँ तो किसान विरोधी हैं एवं अमेरिका, यूरोपीय देशों एवं जापान जैसे उद्योग प्रधान देशों की नीतियाँ किसान समर्थक हैं । एक बात और भी है, भारत में राजस्व के प्रशासन का सारा ढाँचा ब्रिटिश राज की देन है और हमारी गुलामी की याद दिलाता है और आज भी हम भारतीय किसानों को गुलामी की विडम्बनाओं से मुक्त करना नहीं चाहते है ।

उत्पादन और इससे सम्बन्धित भूमि सम्बन्धों की कृषिक संरचना को इस दृष्टि से बदलें कि कृषि क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का न्यायोचित तरीके से वितरण हो सके, यह दृढ राजनीतिक संकल्प या निश्चय पर निर्भर करता है न कि नियोजन पर । अभी तक के भूमि सुधार प्रयत्नों से यही प्रमाणित होता हैं भूमि सम्बन्धों की कृषि संरचना में परिवर्तन लाने हेतु

आवश्यक है कि भूमि का कमजोर वर्ग के लोगों में अधिकाधिक वितरण किया जाय और उन्हें कृषि हेतु आवश्यक सुविधाऐं प्रदान की जायें । ऐसा करने से एक समतावादी कृषिक व्यवस्था का उदय हो पायेगा और कृषि क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का लाभ कुछ बडे भूस्वामियों या आर्थिक किसानों को ही नहीं मिलकर काश्तकारों, बटाईदारों एवं कृषि श्रमिकों को भी मिल पायेगा ।

भूमि सुधार कार्यक्रमों की सफलता के लिए आवश्यक है कि

(i) भूमि सम्बन्धी नवीन रिकार्ड तैयार किया जाय जिसमें स्वामित्व का विकास समाप्त हो,

(ii) कुशल प्रशासकीय मशीनरी स्थापित की जाय,

(iii) खेतिहर श्रमिकों के संघ बनें एवं उनके प्रतिनिधियों को भूमि सुधार कार्यक्रमों में सम्मिलित किया जाय,

(iv) भूमि सुधार कानूनों का प्रचार-प्रसार किया जाय.

(v) कानूनों को लाग करने की सरल विधियाँ अपनायी जायें,

(vi) नये कृषकों के लिए वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध किया जाय ।

12.15 सारांश

1 अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आंद्रे बेताई का योगदान विस्तार पूर्वक जाना ।

2 नृतत्वशास्त्रीय उपागम के माध्यम से भारतीय जनजातीय एवं कृषक समाजों के अध्ययन का प्रारूप समझा ।

3 ग्रामीण समाज में व्याप्त असमानता एवं उसके आधारों को समझा ।

4 स्तरीकरण की प्रकृति एवं शक्ति प्रतिमान जाने ।

5 स्तरीकरण का बदलता स्वरूप किस प्रकार का है?

6 जाति सम्बन्धी अवधारणा के सम्बन्ध में विचारों की विस्तृत एवं गहन व्याख्या जानी ।

12.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 कृषक एवं कृषक समाज की अवधारणा क्या है? कृषक सम्बन्धों के अध्ययन उपागमों की व्याख्या कीजिये ।

2 आद्रे बेताई के नृतत्वशास्त्रीय परिपेक्ष्य को समझाईये ।

3 सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान की व्याख्या कीजिये ।

4 भारतीय ग्रामीण समाज के परम्परात्मक प्रतिमान में परिवर्तन का विश्लेषण कीजिये ।

5 आन्द्रे बेताई भारतीय समाज के अग्रणीय समाज शास्त्री हैं उनके योगदान की विस्तृत व्याख्या कीजिये ।

12.17 संदर्भ ग्रंथ

1 आन्द्रे बेताई - स्टडीज इन एग्रेरियन सोशल स्ट्रक्चर 1974

2 रॉबर्ट रेडफील्ड - पिसेन्ट सोसईटी एंड कल्चर

3 एम. एन. श्री निवास - रिलीजन एण्ड सोसाइटी एमोंग कुर्गस ऑफ साउथ इण्डिया

4 ए. आर. देसाई - एन इन्ट्रोक्शन टू रूरल सोशोलिजी इन इंडिया - 1959
5 गोविंद सदाशिव धुर्ये- कास्ट क्लास एंड ऑक्यूपेशन इन इंडिया 1961
6 कास्ट क्लास एंड पावर चेजिंग पैर्टन ऑफ स्ट्रेफिकेशन इन अ तंजौर विलेज
7 दी बैकवर्ड क्लासेज इन कनटेम्परारी इंडिया - 1992
8 सोसाईटी एंड पोलिटिक्स इन इंडिया - ऐसेज इनका कमपेरेटि व परसपेकीटव
9 द आईडिया ऑफ नेचूरल इन इक्वेलिटि एंड अदर ऐसेज - 2003

इकाई 13

ग्रामीण भारत में कृषिक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 कृषक की अवधारणा
13.3 कृषिक समाज का अर्थ
13.4 कृषिक सम्बन्धों के अध्ययन बिन्दु
13.5 कृषक व्यवस्थाओं का अध्ययन : एक नृतत्वशास्त्रीय उपागम
13.6 विचार एवं रुचियाँ
13.7 कृषि की सामाजिक परिधि
13.8 कृषक समाज में वर्ग संरचना
13.9 भारतीय कृषक समाज एवं असमानता
13.10 तंजौर जिले में कृषिक सम्बन्ध
13.11 कृषक असंतोष के कारण
13.12 सुसंगत एवं कुसंगत व्यवस्थाएँ
13.13 भूमि सुधार अधिनियमों का प्रभाव
13.14 भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन
13.15 सारांश
13.16 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.17 संदर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे

- कृषिक सम्बन्धों के अध्ययन उपागम के बारे में जान सकेंगे ।
- कृषिक सम्बन्धों की प्रकृति एवं प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में समझ सकेंगे ।
- कृषकों की समस्याएं एवं असंतोष के कारणों का पता लगा सकेंगे ।
- कृषकों की कुसंगत एवं सुसंगत व्यवस्थाऐं क्या इसके बारे में जान सकेंगे ।
- भूमि सुधार के प्रभाव एवं मूल्यांकन की जानकारी हासिल कर सकेंगे ।

13.1 प्रस्तावना

ग्राम एक इकाई नहीं अपितु भारतीय समाज एवं संस्कृति का प्रतीक भी है । कृषि उनका व्यवसाय ही नहीं अपितु जीवन शैली भी है । स्वतन्त्राता के समय 85% से भी अधिक

जनसंख्या गावों में निवास करती थी जो धीरे-धीरे नगरों की ओर स्थानान्तरित होती गई और अब लगभग 74 प्रतिशत जनसंख्या गांवो में निवास करती है कृषि अब भी उनकी जीविका का मुख्य साधन है और कुल राष्ट्रीय आय का करीब 50% प्रतिशत इसके माध्यम से होता है । भारत जैसे विकासशील देश के समक्ष दो समस्याऐं प्रमुख हैं - आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय । पंचवर्षीय योजनाएं, हरित क्रांति. कृषि के यंत्रीकरण द्वारा ग्रामीण पुर्ननिर्माण को प्रधानता दी गई है और भूमि सुधारों के माध्यम से कराए पर भूमि जोतने बालों (Tanants) बटाईदारी में खेती करने वालों (Share croppers) तथा भूमिहीन श्रमिकों (Land Less Labourers) की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया गया है । नवीन किस्म के बीजों रसायनिक खादों, नवीन कृषि प्रविधियों तथा सिंचाई की सुविधाओं आदि के उपलब्ध होने से कृषि उत्पादन बढ़ा है और कच्चे माल की भी कमी नहीं है । प्रमुख समस्या उत्पादन या आर्थिक विकास की नहीं है बल्कि उत्पादित बल्कों का समाज के विभिन्न वर्गो में न्यायोचित तरीके से वितरण हो जिससे विकास का लाभ केबल मात्रा शक्ति सम्पन्न लोगों को नहीं मिले और सामान्य जन भी इसका लाभ उठा सके । गरीबी -दूर हो और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठे । इन कार्यक्रमों की सफलता को समझने के पहले यह आवश्यक है कि ग्रामीण कृषक संरचना और कृषिक सम्बन्धों की प्रकृति को समझें । इसके अन्तर्गत कृषक समाज की भूमि अवस्था, बड़े जमीदारों एवं भूस्वामियों, छोटे भूस्वामियों किराये पर भूमि जोतने वालों साझेदारी में खेती करने वालों और भूमि हीन श्रमिकों के रूप में काम करने वालों का अनुपात अर्थात संरचना क्या है? भू स्वामियों के किराये पर भूमि जोतने बालों के साथ तथा भूमिहीन श्रमिकों के साथ सम्बन्धो प्रतिमानों की प्रकृति क्या है? कृषक समाज की संरचना एवं सम्बन्धात्मक प्रतिमान को समझाने के लिये आवश्यक है कि हम इनसे सम्बन्धित कुछ प्रत्ययों को समझे इसी संदर्भ में कृषक और कृषक समाज की व्याख्या करेंगे ।

13.2 कृषक की अवधारणा

चैम्बर्स डिक्सनेरी के अनुसार "कृषक वह है जो एक ग्रामीण है, एक देहाती है एवं जिसका व्यवसाय ग्रामीण काम है, और एक कृषक वर्ग वह है जिसमें कृषक या भूमि को जोतने वाले देहाती श्रमिक आते हैं।"

आन्द्रे बैते ने अपनी पुस्तक 'सिक्स एसेज इन कम्पेरेटिब सोसियोलोजी में कृषक की तीन बिशेषताओं पर प्रकाश डाला है:

(1) कृषक भूमि से जुडा होता है वह न केवल भूमि पर रहता है बल्कि उसे अपने श्रम से फलदायक बनाता है । कानूनी दृष्टि से वह भूमि का स्वामी, उसे किराये पर जोतने बाला या बिना भू-स्वामी अधिकार के एक श्रमिक हो सकता है ।

(2) ऐसा माना जाता है कि अधिकाँश समाजों से कृषकों की निम्न स्थिति होती है । दे लोग जो कृषक के परिश्रमी, सरल तथा मितव्ययी होने की प्रशंसा करते हैं, स्वीकार करते हैं कि समाज में उनकी वास्तविक प्रतिष्ठा ऊँची नहीं होती । अक्सर कृषक वर्ग के लिए यह मान लिया जाता है कि यह कुलीन वर्ग के विपरित ' प्रकार की विशेषताएँ लिए हुए है । कृषकों

को अपरिष्कृत, असभ्य या अशिक्षित भी माना जाता है । उनके लिए यह समझा जाता है कि सभ्य जीवन के तौर-तरीकों से वे अपरिचित है ।

(3) कृषकों को मजदूरों का प्रतिपक्ष या पूरक माना जाता है । ऐसा मानने से यह स्पष्ट होता है कि कृषकों का विभिनन वर्गो के द्वारा शोषण होता है । एक ओर शोषित कृषक-वर्ग आता है तो दूसरी ओर उनके शोषणकर्त्ता ।

'कृषक' शब्द के उपरोक्त तीन अर्थो को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि संमूर्ण भारतीय 'सभ्यता के लिए 'कृषक समाज शब्दावली का प्रयोग अनुप्रयुक्त है ।

13.3 कृषक समाज का अर्थ

'रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार "वे ग्रामीण लोग जो जीवन-निर्वाह के लिए अपनी भूमि पर नियन्त्रण बनाये रखते है और उसे जोतते हैं तथा कृषि जिनके जीवन के परम्परागत तरीके का एक भाग है और जो कुलीन वर्ग या नगरीय लोगों की ओर देखते हैं और उनसे प्रभावित होते हैं, जिनके जीवन का ढंग उन्हीं के समान हैं-लेकिन कुछ अधिक सभ्य प्रकार का । "

इस सम्बन्ध में आन्द्रे बैतई ने बतलाया है कि निम्न स्तर वाले कृषकों और उच्च स्तर वाले कृषकों के बीच विभाजन गाँव या कस्बे या नगर के बीच के भेद को व्यक्त नहीं करता है बल्कि स्वयं गाँव के भीतर के भेदन को बतलाता है। स्पष्ट है कि कृषकों के अ-कृषको के साथ सम्बन्ध पाये जाते हैं परन्तु ये अ-कृषक लोग कस्बे या नगर के रहने वाले है। कम से कम भारत में तो वास्तविकता यही है।

तियोडोर शमीन ने 'कृषक-समाज' का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से इसके चार मौलिक पक्षों पर ध्यान दिया है जो निम्नलिखित है

(1) कृषक परिवार का खेत बहु-आयामीय समाजिक संगठन की मौलिक इकाई के रूप में।

(2) भूमि कृषि-कर्म जीवन-निर्वाह के प्रमुख साधन के रूप में जिससे उपभोक्ता आवश्यकताओं के प्रमुख भाग को पूर्ति।

(3) लघु समुदायों के जीवन के ढंग से सम्बन्धित विशिष्ट परम्परागत संस्कृति।

(4) निम्न आर्थिक स्थिति - कृषक वर्ग पर बाह्य-शक्तियों का प्रभुत्व।

13.4 कृषिक सम्पन्धों के अध्ययन बिन्दु

आन्द्रे बैते ने 'स्टेडिज इन एग्रेरियन सोसियल स्ट्रेक्चर' में कृषक सम्बन्ध सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया है।

आन्द्रे बैते ने अपनी इस पुस्तक में आठ विषयों को प्रस्तुत किया है -

(1) कृषक व्यवस्थाओं का अध्ययन

(2) विचार एवं रूचियां

(3) कृषि की सामाजिक परिधि

(4) कृषक समाज में वर्ग-संरचना

(5) कृषक समाज एवं असमानता

(6) तंजौर जिले में कृषक सम्बन्ध

(7) कृषक असन्तोष के कारण

(8) सुसगंतत एवं कुसंगत व्यवस्थाएँ

13.5 कृषक व्यवस्थओं का अध्ययन : एक नृतत्यशास्त्रयि उपागम

इस संदर्भ में आन्द्रे बैते के अनुसार भारतवर्ष में मुख्यत: दो प्रकार की गतिविधियॉ प्रमुख रूप से रही हैं जिनमें सामाजिक व सांस्कृतिक नृतत्चशास्त्रियों ने वर्तमान शताब्दी की तीसरी व चौथी दशाब्दियों में स्वयं को व्यस्त रखा। वे है -

(i) उन्होंने संस्कृतिक इतिहास जो कि मुख्यत: भारतीय व विदेशी आदिम समाजों की प्रथाओं को इकट्ठा करने व उनकी तुलना करने से सम्बन्धित था, को ढूढने का प्रयास किया।

(ii) आरम्भ से ही किसी विशिष्ट आदिम समुदायों के संमूर्ण संरचनात्मक अध्ययन ही नृतत्वशास्त्रियों की रुचि के विषय रहे हैं जिसमें कि वे उनके भौतिक, संस्कृतिक सामाजिक संगठन एवं धार्मिक विश्वासों व मान्यताओं आदि के अध्ययन पर विशेष ध्यान देते हैं।

आन्द्रे बैते ने अनेक नृतलशास्त्रीय अध्ययनों की विवेचना की है जैसे एस.सी.राय का छोटा नागपुर में किया गया अध्ययन, प्रो.के.पी.चट्टोपाध्याय (K.P.Chattopadhyay) का अध्ययन आदि। विशिष्ट आदिम जनजातियों पर अनेक मोनोग्राफ भारतीय नृतत्वशास्त्रियों द्वारा प्रारम्भ से ही तैयार किए जाते रहे है।

मजूमदार के द्वारा प्रयुक्त उपागम के प्रमुख लक्षणों की विवेचना यहीं अतार्किक नहीं होगी क्योंकि इस समय के नृतत्वशास्त्रियो ने एवं निवर्तमान नृतत्वशास्त्रियों ने भी इस उपागम का बहुतायत से प्रयोग किया। मजूमदार ने बताया है कि हो जनजाति के द्वारा खाये जाने वाले भोजन के प्रकारों से लेकर खाद्य सामग्री के उपागम एवं कार्य का वार्षिक चक्र तथा कार्य का विभिन्न पीढ़ियों एवं विभिन्न विशेषीकृत संघों में लिंग के आधार पर किस प्रकार श्रम विभाजन किया जाता है।

दो अन्य विशेषताएँ भी मजूमदार के उपागम की यहाँ देखी जा सकती हैं। प्रथम आर्थिक संगठन सामाजिक संगठन का लक्ष्य न होकर कुछ अलग ही है एवं दूसरी सामाजिक संगठन की लघु अवधारणा मुख्यत: गोत्र उपगोत्र आदि के विभाजन से सम्बन्धित होती है।

आन्द्रे बैते का कहना है कि सामाजिक संगठन व टोटमवाद चचेरे ममेरे भाई वहन विवाह, एवं सास परिहार आदि संस्थाओं का विश्लेषण, खेत व बाजार में दिन प्रतिदिन की गतिविधियों के विश्लेषण से अधिक सरल है। आज नृतत्वशास्त्रियों ने अध्ययन के नये क्षेत्र तो ढूढें हैं परन्तु फिर भी इन नये क्षेत्रों में आज भी आर्थिक गतिबिधियों (Economic Activities) का अध्ययन लगभग नगण्य ही है। नृतलशास्त्री अध्ययन तब तक एकपक्षीय ही रहेंगे जब तक कि हम सामाजिक संगठन की विस्तृत अवधारणा को स्वीकृत नहीं कर लेते जिसमें कि हमें आर्थिक संगठनों को भी एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में स्वीकारना होगा।

भारत में नृतत्चशास्त्री अध्ययनों के दूसरे दौर में जाति व्यवस्था (Caste System) से सम्बन्धित अध्ययन प्रारम्भ किए। यह समय मुख्यत: 1950 के आस-पास का था। इस प्रकार नृतत्वशास्त्रियों के जनजाति से जाति की ओर अग्रसर हो जाने से दो बडी सैद्धान्तिक समस्यायें प्रमुख रूप से उभर कर सामने आयी।

प्रथम, जनजाति समुदाय छोटे, एकाकी, आत्मनिर्भर तथा स्वायतशासी थे जबकि इसके विपरीत जाति, एकाकी, आत्मनिर्भर, एवं स्वायतशासी नहीं मानी जाती। अपितु वह अन्र्तनिर्भरता की एक जटिल व्यवस्था के रूप में गाँव, जिले, या प्रादेशिक आधार पर अध्ययन की जा सकती है।

द्वितीय, अपनी आदर्श रूप में जनजाति समुदाय समरूप व अस्तरीकृत रूप में पाये जाते थे जबकि भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन में लगे नृतत्वशास्त्रियों के बीच स्तरीकरण का अध्ययन एक केन्द्रिय विषय हो गया। निम्न बिन्दु अध्ययनों को प्रभावित करते हैं

प्रौद्योगिकी एवं पारिस्थितिक विभिन्नताओं :

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्द्रे बैते के अनुसार अनुसंधान का एक क्षेत्र जो निःसंदेह अत्यधिक महत्व का है और जिस पर भारत में समाजशास्त्रियों एवं नृतत्वशास्त्रियों ने बहुत कम अध्ययन प्रस्तुत किए है वह कृषक व्यवस्थाओ का है। आन्द्रे बैते के अनुसार कृषक व्यवस्थाओं का अध्ययन भूमि और उत्पादन कार्यो हेतु उसके प्रयोग की समस्या से सम्बन्धित है। भूमि पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में कृषिक व्यवस्थाओं (Agrarian System) के अध्ययन का विशेष महत्व है। यहाँ हमें यह बात कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि अभी तक नृतत्व शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि के उपयोग से सम्बन्धित विभिन्न प्रौद्योगिक व्यवस्थाएँ पायी जाती है। यहीं कृषि के क्षेत्र में अनेक पारिस्थितिक (Ecological) विभिन्नताएँ भी देखने को मिलती है। यही कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक वर्षा तो कुछ में कठिनता से ही तनिक वर्षा हो पाती है। यही कुछ क्षेत्रों में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं, और कुछ में नहीं के बराबर। विभिन्न क्षेत्रों में तापमान, नमी तथा धूप की दृष्टि से भी अन्तर पाये जाते हैं। इन सबका प्रभाव फसलों की विभिन्न किस्मों तथा उनके लिए काम में ली जाने वाली प्रौद्योगिकी (Technology) पर पड़ता है। कृषि व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करने हेतु कृषि में प्रयुक्त प्रौद्योगिकी के महत्व को समझना आवश्यक है।

लिंग - खेती के कार्यो की प्रकृति वास्तव में काफी जटिल है। कृषि कार्यो का संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि किस समुदाय में कृषि हेतु कौन-सी प्रौद्योगिकी उपलब्ध है लेकिन यहाँ हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि कृषि कार्य का विभाजन प्रौद्योगिकी पर आधारित न होकर सामाजिक संगठन पर आधारित होता है। समाज विशेष की संस्कृत यह निर्धारित करती है कि कृषि कार्यो में पुरुषों की भूमिका क्या होगी और स्त्रियों की क्या? जनगणना सम्बन्धी ऑकडों से ज्ञात होता है कि पंजाब के बजाय पश्चिमी बंगाल में कृषि मजदूरों में स्त्रियों की सापेक्ष संख्या अधिक है। अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि तमिलनाडु और केरल के कुछ भागों में कृषि-श्रमिकों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है।

स्तरीकरण - आन्द्रे बेते ने बताया है कि भारतीय कृषि के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलेगी कि यहीं स्तरीकरण की व्यवस्था और कार्य विभाजन के बीच भी एक सम्बन्ध पाया जाता है। गेहूँ की खेती और चावल की खेती बाले क्षेत्रों में भी कार्य के विभाजन की दृष्टि से काफी अन्तर देखने को मिलता है। जनगाणना सम्बन्धी आकडों से ज्ञात होता है

कि पंजाब और हरियाणा में जहाँ गेहूँ की खेती विशेषत: होती है, सम्पूर्ण कृषि जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात सापेक्ष दृष्टि से कम है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में जहाँ गीले धान की खेती (Wet Paddy Cultivation) होती है, यह अनुपात अधिक है। यहीं बटाईदारी में खेती का प्रचलन भी ज्यादा है।

आयोजकों और नीति-निर्धारकों की मान्यता है कि स्वयं के पारिकरिक श्रम द्वारा की जाने बाली खेती अधिक उन्नत प्रकार की हो सकती है, बजाय उस खेती के जो किराये पर भूमिहीन श्रमिकों के द्वारा की जाती है। लेकिन उत्पादक संगठनों के तरीकों में मौजूद क्षेत्रीय अन्तरों की व्याख्या हम किस प्रकार करेंगे ? इस सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि जाति संरचना ही इस व्याख्या का सूत्र है, स्वयं द्वारा खेती (Self Cultivation) उन क्षेत्रों में सामान्य है जहाँ कृषक जातियाँ प्रभावी है जबकि बटाईदारों और वेतनभोगी श्रमिकों का प्रयोग उन क्षेत्रों में सामान्य है जहाँ अकृषक जातियों का भूमि पर स्वामित्व है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपर्युक्त अन्तर का कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव, अतिरिक्त श्रम की उपलब्धता तथा वेतन संरचना सम्बन्धी भेद है।

कार्य की प्रकृति - आन्द्रे बेते के अनुसार इसका एक अन्य कारण स्वयं कार्य की प्रकृति है। एक समुदाय का इस प्रकार विभाजन जहाँ कुछ लोग स्वयं काम करते है और कुछ के लिए दूसरे काम करते हैं, ऑशिक रूप से कार्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। यही कारण है कि पंजाब और हरियाणा में दस या पन्द्रह एकड के खेत पर स्वयं कृषक परिवार ही खेती कर लेता है, जबकि पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में पाँच एकड के खेत पर भी लोग दूसरों से खेती कराते हैं। पंजाब व हरियाणा में गेहूं की खेती से सम्बन्धित कार्य इतने कठोर व थकाने वाले नहीं है जितने दक्षिण में गीले धान की खेती से सम्बन्धित कार्य।

ग्रामीण समुदाय को ऐसे दो समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता जिसमें से एक में वे लोग आते हैं जो कृषि कार्य करते हैं और दूसरे में वे लोग जो कृषि कार्य नहीं करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों में से अधिकांश किसी न किसी रूप में खेती से सम्बन्धित कोई न कोई कार्य अवश्य करते हैं। वहाँ कुछ लोग किराये पर भूमि लेकर जोतते हैं, तो कुछ बटाईदारी के रूप में कृषि कार्य करते हैं। कुछ ऐसे भूस्वामी भी पाये जाते हैं जो स्वयं खेत पर हाथ से तो काम नहीं करते परन्तु अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कृषि कार्यो की देख-रेख करते हैं। बड़े भूस्वामी भूमिहीन श्रमिकों की सहायता से खेती का कार्य करते है। कृषि के क्षेत्र में हाथ से किये जाने वाले कार्यो में भी एक संस्तरण पाया जाता है। सबसे अधिक परिश्रम-साध्य कार्य निम्नतम जातियों अथवा स्तर के लोगों एवं स्त्रियों को करने पडते हैं। कृषि क्षेत्र में किसे कौन-सा कार्य सौंपा जायेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि समाज विशेष में विभिन्न कार्यो का मूल्याँकन किस प्रकार से किया जाता है। कार्यो के विभाजन में इस बात को विशेष महत्व दिया जाता है कि किसके पास कितनी भूमि है तथा अन्य भौतिक स्रोतों पर किस का कितना नियन्त्रण हैं

आन्द्रे बेते ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि साधारणत: देखने में यह आता है कि कठोर एवं सर्वाधिक परिश्रम-साध्य कार्य उन्हें सौंपे जाते है जो भूमिहीन हैं और जो

स्तरीकरण के निम्नतम स्तर पर हैं और बडे भू-स्वामी स्वयं कार्य नहीं करते क्योंकि वे दूसरों से अपने लिए कार्य कराने में साधनों की सम्पन्नता के कारण समर्थ हैं।

उत्पादन एवं सामाजिक संगठन जब हम उत्पादन के सामाजिक संगठन पर विचारकरते हैं तो देखते हैं कि न केवल कार्य के बल्कि सम्पत्ति अधिकारों के भी एक विशिष्ट प्रतिमान को व्यक्त करता है। उत्पादन संगठन के तीन प्रमुख प्रतिमान देखे जा सकते हैं -

(1) प्रथम प्रतिमान पारिवारिक श्रम पर आधारित है।

(2) दूसरा किराये के श्रम पर आधारित है एवं

(3) तीसरा किराये पर भूमि जोतने वालों पर आधारित है।

इनमें से प्रत्येक प्रतिमान के अनेक भेद दिखाई देते हैं एवं अनेक स्थानों पर इन तीन प्रतिमानों का मिला-जुला प्रतिरूप दिखाइ देता है।

जहाँ उत्पादन पारिवारिक-श्रम पर आधारित होता है, वहीं परिवार के विभिन्न सदस्यों को अलग-अलग कार्य सौंपे जाते हैं। कार्यो के विभाजन का एक प्रमुख आधार लिंग भेद है। जहाँ परिवार के सभी सदस्य स्वयं के खेत पर ही कार्य करते हैं, बहीं साथ ही उन्हें समय-समय पर आवश्यकतानुसार बाहरी लोगों का सहयोग भी लेना पड़ता है। यह सहयोग नकद भुगतान के रूप में भी हो सकता है अथवा किराये पर एक निश्चित अवधि के लिए दूसरे की भूमि जोती जाती है या बटाईदारी में खेती की जाती है, वहीं दो परिवारो के बीच सम्बन्ध पनपते हैं। इनमें एक परिवार भूस्वामी तथा दूसरा काश्तकार या बटाईदार का होता है। इन दो श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाले लोग अधिकारों कर्त्तव्यों तथा दायित्वों की दृष्टि से एक दूसरे से बँधे रहते हैं। भूस्वामी परिवार और वेतनभोगी श्रमिकों के बीच भी निश्चित प्रकार के सबक पाये जाते हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में इन सम्बन्धों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों का यह दायित्व है कि वे इस बात का पता लगाएँ कि इन विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में बँधने वाले लोगों के प्रथा अथवा कानून की दृष्टि से एक दूसरे के प्रति सिद्धान्त रूप में क्या अधिकार और दायित्व हैं तथा व्यवहार में उनका रूप क्या है?

कुछ लोगों का कहना यह भी है कि जाति ग्रामीण समाज के वास्तविक विभाजन का प्रतिनिधित्व करती है, न कि वर्ग का परन्तु इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि-लोग स्वयं भूमि के स्वामित्व, नियंत्रण तथा उपयोग पर आधारित विभाजन को महसूस नहीं करते हों। आन्द्रे बैते ने बताया है कि यदि हम ग्रामीण पश्चिमी बंगाल को लें तो पायेगें कि वही लोग अपने समुदाय को केवल जातीय आधार पर ही विभाजित नहीं मानते बल्कि अपने को जमींदार, जोतदार, वर्गाकार माहीन्दार आदि के रूप में भी विभाजित समझते हैं। वर्गीकरण का यह दूसरा क्रम वर्गो के काफी निकट है। स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामों में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में केवल जाति का ही महत्व नहीं पाया जाता बल्कि वर्गो का भी। ग्रामीण कृषि क्षेत्र में उत्पादन के संगठन के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में भी बँटे हुए हैं इन विभिन्न श्रेणियों के अवस्थित अध्ययन के आधार पर ही कृषक सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है।

13.6 विचार एवं रुचियां

आन्द्रे बैते ने मूलत: ग्रामीण भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में उपस्थित अवधारणाओं ब समस्या पर विस्तार से विवेचन किया है।

आन्द्रे बैते के अनुसार भारतीय ग्रामीण समाज की समस्याओं को दो प्रमुख अवधारणाएँ को बहुतायत से प्रेरित किया जाता रहा है। इसमें से एक जाति (Caste) की है एवं दूसरी वर्ग (Class) की है। सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में जाति का बहुत खुल कर प्रयोग किया है।

13.7 कृषि की सामाजिक परिधि

आन्द्रे बैते ने कृषि एवं सामाजिक संगठन में विशेष सम्बंध पाया है। आर्थिक क्रियाकलापों की दृष्टि से सामाजिक परिधि का विशेष महत्व पाया जाता है। इन आर्थिक क्रियाकलापों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया आती है एवं इनमें व्यक्तियो के अधिकार एवं दायित्व भी सामाजिक रूप से परिभाषित किए जाते है। उदाहरण के लिए कृषि सम्बन्धी क्रियाओं को भिन्न-भिन्न तरीकों से संगठित किया जा सकता है। भूस्वामी स्वयं अपनी भूमि को न जोत कर वेतनभोगी मजदूरों से उसे जुतवा सकता हैं इसके अलावा वह अपनी भूमि को दूसरों को निश्चित अवधि के लिए जोतने को दे सकता है, एवं उत्पादन का एक निश्चित भाग भूमि के बदले प्राप्त कराता है। इसके अलावा कृषि की सामाजिक परिधि, सामाजिक व्यवस्था के अन्य पक्षों जैसे भागीदारी, जाति एवं स्थान विशेष से भी सम्बन्धित होती है। इसी कारण विभिन्न समूहों और श्रेणियों में पाई जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं।

इसके अतिरिक्त आन्द्रे बैते के अनुसार प्रत्येक समाज के मूल्य और संगठन परस्पर सम्बन्दित होते है एवं किसी भी परिवर्तन में ये दोनों महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें ध्यान अवश्य रखना है कि संगठनों की तुलना में मूल्य परिवर्तन में अक्सर अधिक बाधक होते हैं। वर्तमान में एशियाई देशों में सामाजिक समानता को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी मूल्य को ध्यान में रखते हुए भारत ने अपने समुख एक जातिविहीन और वर्गविहीन समाज (Classless Society) की रचना का लक्ष्य रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एशियाई समाजों में यद्यपि परम्परागत मूल्य आज भी मौजूद है परन्तु आदर्श एक समतावादी समाज के निर्माण का रखा गया है लेकिन इन समाजों में और विशेषत: भारत में संस्तरणात्मक मूल्यों का महत्व आज भी बना हुआ है।

13.8 कृषक समाज में वर्ग सरंचना

आन्द्रे बेते कहते हैं कि यदि हम पश्चिमी बंगाल के ग्रामीण समाज को बारीकी से देखने का प्रयास करें तो हम पायेगे कि वहीं के लोग न केवल जाति की श्रेणी के आधार पर विभाजित है, वे कुछ आर्थिक श्रेणियो के आधार पर भी विभाजित हैं। जैसे जमींदार, तालुकेदार, जोतेदार अड़ियार महीनदार एवं मुंशी आदि। बैते कहते हैं कि इन प्रत्येक श्रेणियों का विश्लेषण

एवं इनके बीच पाये जाने वाले अन्र्तसम्बन्धों का अध्ययन हमारे लिए कृषक वर्ग की संरचना को समझने में बहुत उपयोगी होगा।

13.9 भारतीय कृषक समाज एवं अमानता

कृषक क्षेत्र में गरीब समाजों में आय तथा रोजगार उपलब्ध कराने की दृष्टि से कृषि का विशेष महत्व पाया जाता है। इनमें कृषि को जीवन के एक ढंग के रूप में देखा जाता है। भारत और एशिया के अनेक अन्य देश 'हरित क्रान्ति' (Green Revolution) के दौर से गुजर रहे हैं। कृषि के क्षेत्र में नवीन प्रौद्योगिकी को काम में लिया जा रहा है और भूमि सुधार की दृष्टि से विशेष प्रयास किए जा रहे हैं। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है।

कृषि प्रधान समाजों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी गरीबी तथा सापेक्ष रूप से उनकी अपरिवर्तनीय प्रकृति है। जब इन समाजों की तुलना औद्योगिक समाजों से की जाती है तो एक स्पष्ट अन्तर यह दिखाई पड़ता है कि जहाँ कृषि-प्रधान समाजों में गरीबी पाई जाती है, वहाँ औद्योगिक समाजों में असमृद्धता। कृषि- प्रधान समाजों में गरीबी पाए जाने का मुख्य कारण भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाव तथा परम्परागत प्रकार की कृषि प्रौद्योगिकी का प्रयोग है।

जब हम भारतीय समाज के विशेषत: ग्रामीण भाग पर विचारकरते है तो पाते है कि न केवल यहाँ गरीबी और उसकी अप्रवर्तनीय प्रकृति ही पाई जाती है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में असमानता की भी ऊँची मात्रा देखने को मिलती है। कृषक समाजों में औद्योगिक समाजों की तुलना में ये असमानताएँ अधिक कठोर और स्पष्ट होती है। मिंचल यग ने कृषक और औद्योगिक समाजों की तुलना करते हुए सार रूप में बताया है कि 'भूमि जातियाँ पैदा करती हैं, मशीन वर्ग बनाती हैं।'

कृषि प्रधान समाजों में असमानता के दो पक्ष हैं। आन्द्रे बैते के अनुसार इसका प्रथम पक्ष वितरण सम्बन्धी है जो सम्पत्ति, आय, साक्षरता, शिक्षा आदि के वितरण के रूप में व्यक्त होता है। इसके अलावा असमानता उनकी मूल व्यवस्थाओं में भी मौलिक स्थान रखती है। परम्परागत भारतीय समाज इस मामले में काफी आगे बढ़ा हुआ है जिसने सामाजिक असमानता को वैचारिक दृष्टि से न्यायोचित ठहराया। यही विशेषत: सस्तरणातक मूल्यों की प्रधानता पाई जाती है जिनका प्रभाव विभिन्न प्रकार के संगठनों पर स्पष्टत: देखने को मिलता है । देश के चहुँमुखी विकास की दृष्टि से जब नवीन संगठन निर्मित किए जाते है तो वे भी इन परम्परागत मूल्यों से साधारणत: प्रभावित हो जाते हैं।

भारत में सहकारी समितियों, खण्ड एवं जिला विकास समितियों तथा विद्यालय प्रबंध मण्डलों में सस्तरणात्मक प्रणाली स्पष्टत: देखने को मिलती है। यहीं एक ओर ऐसे व्यक्ति पाए जाते है। जो विशेष सुविधा-प्राप्त एवं सम्पन्न हैं, जबकि दूसरी ओर ऐसे लोग जो विभिन्न साधनों, सुविधाओं एवं योग्यताओं से वंचित हैं। इस देश में सम्पन्न या सुविधा-प्राप्त लोगों के प्रति आदर का भाव सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर पाया जाता हैं। परिणाम यह होता है कि जो संगठन सामाजिक असमानता को समाप्त करने के उद्देश्य से बनाए जाते हैं, उनमें भी संस्तरण पनप जाता है। ऐसी स्थिति में नवीन विकास या सामाजिक सुधार कार्यक्रमों का लाभ

विशेषत: उन लोगों को ही मिल पाता है जो संस्तरणात्मक प्रणाली के शिखर पर हैं, जो उच्च या आदरणीय समझे जाते हैं।

आन्द्रे बैते ने बताया है कि विकास कार्यक्रमों का सफल होना वहाँ संदिग्ध हो जाता है जहाँ विशेष सुविधा प्राप्त और उससे वंचित लोग दोनों ही यह मानते है कि मनुष्य जन्म से ही असमान पैदा किए जाते है और जहाँ कानून द्वारा निर्मित अधिकरों को काम में लेने से अक्सर सम्बन्धों की मौजूदा व्यवस्था को चुनौती दी जाती हो। यही कारण है कि ग्रामीण समाज में सामुदायिक कार्यक्रमों का लाभ उन गिने-चुने लोगों को ही मिल पाता है जो पहले से ही सम्पन्न और शक्तिशाली थे।

कृषक समाजों में सामान्यत: भूमि का स्वामित्व एवं नियन्त्रण आर्थिक शक्ति का प्रमुख स्त्रोत है। भारत में कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास प्रचुर मात्रा में भूमि है, तो कुछ ऐसे भी है जो इससे पूर्णत: वंचित हैं। यही भू-स्वामियों की भूमिहीनों की तुलना में काफी अधिक आय पाई जाती है। भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच प्रभुत्व एवं निर्भरता के परम्परागत बन्द पाए जाते है जो प्रथम प्रकार के लोगों को भूमिहीनों को अनेक तरीकों से नियंत्रित करने में समर्थ बना देते हैं। यहाँ भूस्वामियों, किराए पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों, बटाईदारों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बीच सम्बन्धों में काफी भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। देश के विभिन्न भागों में भूमि-सुधार योजना के अन्तर्गत पट्टेदारी तथा बटाईदारी से सम्बन्धित शती की काश्तकार एवं बटाईदार की दृष्टि से समान और सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न किया है परन्तु फिर भी भू-स्वामी और भूमिहीन श्रमिकों के बीच आज भी काफी अन्तर देखने को मिलता है।

आन्द्रे बैते ने बताया है कि कुछ भागों में विशेषत: पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में भूमि सुधारों के बाद भी बटाईदारी में खेती असामान्य नहीं है और कभी-कभी भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग ग्रामीण जनसंख्या का एक-तिहाई भाग तक निर्मित करता है। अवलोकनों से यह भी ज्ञात होता है कि काश्तकार, बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों के अपने भू-स्वामियों के साथ आज भी कई क्षेत्रों में परम्परागत सम्बन्ध पाए जाते है। ये लोग अपने मालिकों के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखते हैं। इन विभिन्न श्रेणियों के लोगों में विशेषत: भू-स्वामी के सन्दर्भ में आज भी सामाजिक दूरी पाई जाती है।

जाति-व्यवस्था ने भू-स्वामियों और भूमिहीनों के बीच सामाजिक दूरी को बढ़ाने में योग दिया क्योंकि साधारणत: भू-स्वामी उच्च जातियों के और भूमिहीन निम्न जातियों के सदस्य है। उच्च जातियों से सम्बन्धित भू-स्वामी अक्सर स्वयं अपने खेतों पर हाथ से काम नहीं करते है। कृषि से सम्बन्धित परिश्रम साध्य कार्य जैसे जमीन खोदना, हल चलाना तथा मिट्टी बोना आदि निम्नतम या अस्पृश्य जातियों के लोग करते हैं।

भूमि के असमान वितरण का परिणाम यह हुआ है कि जिसके पास जितनी अधिक भूमि है उसकी आय भी उतनी ही अधिक है। इस प्रकार भूमि असमान मात्रा में स्वामित्व के कारण यहाँ आय सम्बन्धी असमानता भी काफी मात्रा में देखने को मिलती है। बटाईदार और भूमिहीन श्रमिकों को साधारणत: कठिनता से ही इतनी आय हो पाती है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। वर्तमान मे कृषि क्षेत्र में नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग तथा

व्यापारिक किस्म की फसलों के प्रकार ने छोटे कृषकों तक की भी आय को बढ़ाने में योग दिया है कृषि श्रमिकों को कहीं-कहीं, विशेषतया उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि और उद्योग में श्रमिकों की नहीं काफी बढ गई है, अधिक मजदूरी मिलने लगी है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रो में आय का कम या अधिक होना प्रमुखत: इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का कितनी भूमि पर स्वामित्व या नियन्त्रण है।

ग्रामीण सामाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता जीवन के ढंग (Style of Life) सम्बन्धी अन्तरों के रूप में है। भारतीय गाँवों में बडे भू-स्वामी जागीरदार एवं जमींदार आदि पक्के मकानों तथा कोठियों में रहते है। बटाईदार और कृषि श्रमिक कच्चे मकानों या झोपड़ियों तक में रहते हैं। एक ओर भू-स्वामियों और दूसरी ओर बटाईदारों व कृषि-श्रमिकों की पोषक, बोल-चाल की भाषा, तौर-तरीके और जीवन के ढग में भी काफी अन्तर देखने को मिलते हैं। कृषि क्षेत्र में विभिन्न स्तर के लोगों में साक्षरता की दृष्टि से भी भेद पाया जाता हैं। यही शिक्षा को आज भी कुछ उच्च वर्गो और जातियों के विशेषाधिकार के रूप में माना जाता है। आज भी देश में कई ऐसे ग्राम मिल जाएंगे जहाँ कृषि श्रमिकों में से शायद ही कोई व्यक्ति शिक्षित हो। आन्द्रे बैते ने बताया है कि कृषक वर्ग में साक्षरता और शिक्षा का फैलाव जापान में भूमि सुधारों की सफलता के पीछे एक महत्वपूर्ण कारक था, जबकि भारत में जहाँ पददलित या शोषित लोग जो अशिक्षित भी हैं, भूस्वामी उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखने में अधिक सफल रहे हैं।

ग्रामीण भागों में ने केवल धन तथा प्रस्थिति की दृष्टि से ही असमानताएँ पाई जाती हैं, बल्कि शक्ति तथा सत्ता की दृष्टि से भी। यद्यपि गाँवों में प्रजातन्त्रातक संस्थाऐं प्रारंभ की जा चुकी है और सिद्धान्त रूप में सभी वर्गो और जातियों को शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से समान सुविधाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु व्यवहार रूप में ऐसा नहीं हैं। वहीं बटाईदार और कृषि श्रमिक शक्ति संस्तरण की प्रणाली में सबसे निम्न स्तर पर है। इसका मुख्य कारण परम्परागत रूप से चली आ रही असमानताएँ हैं। गाँवों में यह भी देखने में आता है कि वही विशेषाधिकार सम्पत्ति एवं शक्ति एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होती है तथा सामाजिक दृष्टि से पद-दलित लोग न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी विविध साधनों एवं सुविधाओं से वंचित रहते हैं। यही आनुवंशिक सिद्धान्त पर विशेषत: जोर दिए जाने के कारण सामाजिक विभेद और भी बढ़ जाते है। ऐसी स्थिति में समाज को समतावादी आधार पर निर्मित करने में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

ऐसी दशा में विकास एवं सुधार कार्यो में लगे लोगों का सस्तरणात्मक प्रणाली के शिखर पर बैठे समूहों को छोड़कर उन लोगों तक पहुँचना जिनके लाश के लिए योजनाएँ बनाई गई हैं, बहुत कठिन है। परिणामस्वरूप विकास कार्यक्रमों एवं किसी भी नवीन योजना का लाभ साधारणत: उन्हीं लोगों को मिल पाता है जो पहले से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से सम्पन्न हैं।

आन्द्रे बैते ने बताया है कि मलाबार के कृषक संस्तरण की प्रणाली और जातियों की संस्तरण प्रणाली एक दूसरे से काफी निकट और सम्बन्धित पाई गई। साधारणत: कृषक भू-स्वामी जातियों की प्रस्थिति सबसे उच्च होती है, इनके नीचे कृषि करने वाली और दस्तकारी

का काम करने वाली जातियाँ आती हैं और सबसे नीचे कृषि श्रमिकों की जातियाँ। ग्रामीण स्तर पर प्रभुत्वशाली भू-स्वामी समूह की स्थिति जाति संस्तरण की प्रणाली में शिखर पर न होकर मध्य में थी। भारत में नवीन राजनीतिक व्यवस्था ने इन प्रभुत्व-सम्पन्न कृषक जातियों में महत्व को और भी बढ़ा दिया है। वयस्क मताधिकार ने इनकी शक्ति को बढ़ाने में विशेष योग दिया है। कृषि-संस्तरण के निम्नतर स्तर पर बटाईदार और भूमिहीन कृषि श्रमिक आते है जो साधारणत: निम्न या अस्पृश्य जातियों से सम्बन्धित हैं।

कृषक क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए आन्द्रे बैते ने बताया है कि वयस्क मताधिकार तथा ग्राम पंचायतों की स्थापना से गाँव में केवल भू-स्वामित्व तथा परम्परागत प्रस्थिति ही शक्ति के आधार नहीं रहे हैं। संगठित संख्या की शक्ति अब इतनी महल पूर्ण बन गई है जितनी पहले कभी नहीं थी। इसके उपरान्त भी भूमिहीन लोगों के पास शक्ति बहुत कम हो गई है, चाहे उनकी संख्या कितनी ही ज्यादा क्यों न हो। साधारणत: हुआ यह है कि कृषक भू-स्वामियों मध्यम और बडे को अकृषक भू-स्वामियों की कीमत पर शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ लाभ मिला है कहने का तात्पर्य यह है कि कृषक भू-स्वामियों की शक्ति सापेक्ष रूप से बड़ी है परन्तु भूमिहीन लोगों की स्थिति में इस दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है।

भूमि सुधार (Land Reform) में हम यह देखने का प्रयास करते है कि कृषि क्षेत्र में जहाँ एक ओर कुछ लोगों के पास भूमि काफी अधिक मात्रा में पाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर बहुत से लोग इससे पूर्णत: वंचित है। परिणाम यह हुआ कि एक ओर जमींदारों और दूसरी ओर किराए पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों तथा भूमि-हीन श्रमिकों के बीच असमानता की आई बहुत बढ़ गई है। देश के स्वतन्त्रा होने के तुरन्त पश्चात लोगों का ध्यान असमानता के इन विपरीत छोरों की ओर गया। फलस्वरूप स्वतन्त्रा भारत में ऐसा संविधान लागू किया गया जो जाति विहीन तथा वर्गविहीन समाज के लिए प्रतिबन्ध था। यहीं सोचा गया कि भूमि सुधारों के माध्यम से सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को समाप्त अथवा कम किया जा सकेगा।

भारत में भूमि सुधार की दृष्टि से सर्वप्रथम जमींदारी व्यवस्था को समाप्त किया गया। सोचा यह गया कि ऐसा करने से 'मध्यस्थों' के हितों को समाप्त किया जा सकेगा औंर किसानों के राज्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किए जा सकेंगे लेकिन जमींदारी उन्मूलन से किसानों के एक ऐसे समरूप वर्ग का निर्माण नहीं हो पाया जो देश के सभी भागों में करीब–करीब समान आकार के खेतों को स्वयं अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से जोतते हों। इसका कारण यह था कि यहीं किसान के अन्तर्गत एक ओर वे छोटे भू-स्वामी आते है जो अपने परिवार की सहायता से ही खेती करते हैं, तो दूसरी ओर थे बडे भूस्वामी भी जो काश्तकारों को किराए पर भूमि जोतने को देते है। जमींदारी उन्मूलन से बटाईदार में खेती और किराए पर लेकर भूमि जोतने के विभिन्न प्रकारों का प्रचलन समाप्त नहीं हुआ। साथ ही इससे भूमिहीन श्रमिकों के एक बहुत बड़े वर्ग की स्थिति में भी कोई सुधार नहीं लाया जा सका।

13.10 तंजौर जिले में कृषिक सम्बन्ध

आन्द्रे बैते ने दक्षिणी भारत में मद्रास के तंजौर जिले में पाये जाने वाले कृषक सम्बन्धों (Agrarian Relations) की विस्तार से विवेचना की है।

सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना निःसन्देह हम भुविजान (Geology) के आधार पर ही करते है अर्थात् जिस तरह पृथ्वी एक दूसरे के ऊपर स्थित अनेक पतों का एक मिलाजुला रूप है ठीक उसी तरह समाज भी एक दूसरे पर व्यवस्थित स्तरों की एक व्यवस्था है।

आन्द्रे बेते ने स्तरीकरण की समस्या की विवेचना मुख्यत: भूमि के स्वामित्व (Ownership), नियंत्रण (Control) एवं उपयोग (Use) के आधार पर है। लेकिन वे लिखते हैं कि इसका यह आशय नहीं लगाया जाना चाहिए कि कृषक-वर्ग संरचना यह एक मात्रा अन्तिम विश्लेषण है अपितु इस आधार पर इसे विश्लेषित करने का सबसे बडा कारण यह है कि सामान्यत: ग्रामीण भारत में कार्यरत नेतृत्वशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों ने इस पक्ष की उपेक्षा की। अत: जब तक हम इस पक्ष को निकटता से नहीं जान लेते कि किस प्रकार भूमि का स्वामित्व, नियन्त्रण व उपयोग असमानता के प्रतिमान को प्रस्तुत करता है तब तक हमारी जाति के प्रति समझ भी अधूरी रहेगी।

आन्द्रे बैते कहते है कि अब हमें पहले इन कोटियों के पदसोपानिक पक्ष को देखना चाहिये, जैसा कि हमने यहीं तंजौर जिले में पाया है। कोई भी व्यक्ति इनमें पायी जाने वाली तीन तरह की असमानता को आसानी से देख सकता है-

(क) भू-स्वामी एवं पट्टेदारों के मध्य पायी जाने वाली असमानता।

(ख) भूमि के मालिक एवं मजदूरों के मध्य पायी जाने वाली असमानता।

(ग) बड़े, मध्यम व छोटे स्वामियों के मध्य पायी जाने वाली असमानता।

इन असमानताओं में से पहले दो वर्गो में पायी जाने वाली असमानतायें, स्पष्टत: विरोधाभासी विभाजन पर आधारित हैं यद्यपि तीसरे वर्ग में केवल श्रेणी अन्तर पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति में यहाँ एक गाँव से दूसरे गांव में अलग-अलग दिखाई देते हैं। सामाजिक स्तरीकरण को तुलनात्मक रूप से देखने का एक अन्य आधार यह है कि हम पद-सोपानिक व्यवस्था में सबसे ऊपर व सबसे नीचे आने वाले वर्ग की सामाजिक दूरी को देखने का प्रयास करें। बैते का मानना है कि इन कोटियों की प्रकृति एवं इनके मध्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी तब तक स्पष्टत: नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम इसे जाति के सन्दर्भ में नहीं समझें। हालाँकि ऐसा करने में हमें अत्यधिक सावधानी बरतनी होगी।

आन्द्रे बैते के अनुसार जाति एवं कृषक वर्ग संरचना के मध्य दो प्रकार के संबंध स्पष्टत: देखे जा सकते –

(1) सतही सम्बन्ध (Surface Relation) अर्थात यह माना जाना कि भूस्वामी उच्च जाति के एवं भूमिहीन सामान्यत: निम्न जाति के व्यक्ति हैं।

(2) गहरे सम्बन्ध (Deeper Relationship) अर्थात् जाति के श्रेणीगत मूल्य भूमि मालिकों, पट्टेदारों व कृषक श्रमिकों के मध्य असमान सम्बन्धों के रूप में दिखाई देते हैं तथा

यह मान्यता प्राप्त है। कुछ लोग यह भी स्वीकार करते हैं कि जाति में तो एक पद-सोपानिक व्यवस्था होती है लेकिन वर्ग में ऐसा नहीं है। लेकिन वस्तुत: यह सत्य नही माना जा सकता। भूस्वामियों, भूमिमालिकों, पट्टेदारों व कृषक श्रमिकों के रूप में इस पदसोपानिक व्यवस्था को आसानी से देखा जा सकता है।

कृषक पदसोपानिक व्यवस्था में सबसे ऊपर व सबसे नीचे आने वालों में स्पष्ट अन्तर किया जा सकता है बडे भू-स्वामियों एवं भूमिहीन मजदूरों के जीवन ब रहन सहन के तरीकों में भी अनेक व स्पष्ट अन्तर देखे जा सकते हैं। प्रथम तो वे कार्य करने में ही अलग-अलग है। बड़े भूस्वामी किसी तरह के शारीरिक श्रम (Physical Labour) में व्यस्त नहीं हैं। यह अन्तर भूस्वामियों व भूमिहीनों में विशेषकर औरतों में जिन्हें कोई भी तंजौर जिले में चावलों के खेत में काम करते हुए देख सकता है, और यह अनुभव कर सकता है कि ये लोग न केवल जाति संरचना में बल्कि कृषक पदसोपानिक व्यवस्था में भी निम्न स्थान रखते हैं।

आन्द्रे बैते लिखते हैं कि तंजौर जिले में भू-स्वामी व पट्टेदारों में भी पाया जाने वाला अन्तर उतना अधिक नहीं है जितना कि पहले दिखाई देता था। इसका कारण यह रहा कि 1950 के बाद पट्टेदारों में एक वर्ग के रूप में काफी परिवर्तन हुए हैं।

आन्द्रे बैते के अनुसार कृषक व्यवस्था की आधारभूत समस्या अभी भी भूस्वामियों व भूमिहीन मजदूरों के मध्य सम्बन्ध की है। यह समस्या अब कुछ नये आकार ग्रहण कर रही है और इन्हें समझने के लिए हमें जिले की राजनैतिक शक्तियों को समझना होगा।

13.11 कृषक असंतोष के कारण

भारतीय कृषक संरचना के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कृषि के क्षेत्र में पाई जाने वाली विभिन्न श्रेणियों के मध्य भूमि के स्वामित्व, नियन्त्रण, आय ओर जीवन के तौर-तरीकों सबकी अनेक अन्तर पाए जाते है।

कृषक क्षेत्र में व्याप्त सामाजिक असमानताओं और इनके सम्बन्ध में जागरूकता बढ़ने के कारण वर्तमान समय मैं कृषक असन्तोष बढ़ता जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्रो में छोटे किसानों, काश्तकारों तथा पट्टेदारी पर खेती करने वालों और भूमिहीन श्रमिकों के जीवन में अनेक अभाव पाए जाते हैं। उनके अस्तित्व की दशाऐं शोचनीय है एवं जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं से भी वे सामान्यत: वंचित भी है। ऐसी स्थिति में उनमें असन्तोष का पाया जाना स्वाभाविक है। यद्यपि राजनीतिक आन्दोलनों में इन लोगां में अपने अस्तित्व की दशाओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के प्रति विशेष भूमिका निभाई।

कृषक असन्तोष सामान्यत: लोगों की भौतिक दशाओं से सम्बन्धित है जैसे -जैसे समाज के कमजोर वर्गो की भौतिक दशाओं में गिरावट आती जाती है वैसे-वैसे सामाजिक असन्तोष भी बढ़ता जाता है। भौतिक दशाओं में सुधार होने से कमजोर वनों में पाया जाने वाला असन्तोष कम होता है और उनमें सहयोग उत्पन्न होता है। यह भी सही है कि वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों में हरित–क्रान्ति के कारण स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। खाद्यान्नों का उत्पादन भी बढ़ा है तथा लोगों ने नवीन तकनीक, उपकरणों, रासायनिक खादों, उन्नत बीजों आदि को अपनाना प्रारम्भ किया है। साथ ही लोगों का यह अनुभव भी है कि वर्तमान में सामान्य व्यक्ति

की आय, उनके वेतन, मजदूरी ब भत्ते बड़े हैं, लेकिन इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन भौतिक दशाओं में होने वाले सुधार से सामाजिक असन्तोष समाज प्राय: हो जाता है। वास्तविकता इसके कुछ विपरीत है। आज भी कहीं कोई भूमिहीन जबरन भूमि पर कब्जा करने का प्रयास करता है तो कहीं भू-स्वामी अपने काश्तकार को भूमि पर से बेदखल करने पर लगा हुआ है अनेक स्थानों पर भू-स्वामियों के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है तो कहीं-कहीं भू-स्वामित्व काश्तकार एवं भूमिहीन श्रमिकों का शोषण करते हुए दिखाई देते है। कहीं-कहीं भूमि को लेकर मारपीट-गोली मार देने एवं जिंदा जला देने जैसी घटनाएँ भी आम तौर पर सुनाई देती हैं। जो लोग यह मानते है ग्रामीण क्षेत्रो में संघर्ष और हिंसा में वृद्धि हुई है, उनकी मान्यता है कि यद्यपि हरित क्रान्ति से ग्रामों का काया-पलट तो हुआ है, परन्तु इसका लाभ अधिकांशत: कुछ थोडे से धनी किसानों को हुआ है छोटे किसानों, काश्तकारों तथा भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और विशेषत: बढते हुए मूल्यों का इनकी भौतिक दशाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

13.12 सुसंगत एवं कुसंगत व्यवस्थाएँ

प्रो.आन्द्रे बैते ने दो प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है। जिनमें से एक को सुसंगत सामाजिक व्यवस्था (Harmonic System) एवं दूसरी को कुसंगत सामाजिक व्यवस्था (Disharmonic) के नाम से पुकारा गया है। आन्द्रे बैते के अनुसार एक सुसंगत सामाजिक व्यवस्था वह है जिसमें अस्तित्वात्मक व्यवस्था तथा प्रतिमानात्मक या आदर्शात्मक व्यवस्था के बीच सामंजस्यता पाई जाती है असमानताएँ न केवल वास्तव में पाई जाती हैं लेकिन उन्हें वैध या उचित माना जाता है। एक कुसंगत सामाजिक व्यव्स्था वह है जिसमें आदर्शात्मक व्यवस्था अस्तित्व सम्बन्धी व्यवस्था से असामंजस्यता की स्थिति में होती है, वास्तव में असमानताएँ पाई जाती हैं लेकिन उन्हें अब वैंध या उचित नहीं माना जाता। अनुभव के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि निर्धनता और असमानता सामाजिक असन्तोष और संघर्ष के पीछे प्रमुख शक्ति है। परम्परागत समाजों में निर्धनता और असमानता काफी मात्रा में पाई जाती रही है लेकिन वे इनके प्रति सहिष्णु रहे है। इन समाजों में असन्तोष और संघर्ष के बजाय शान्ति और व्यवस्था पाई जाती है।

13.13 भूमि सुधार अधिनियमों का प्रभाव

(1) परम्परागत कृषि संस्तरण में परिवर्तन - आन्द्रे बिताई ने बताया है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत में परम्परागत कृषिक संस्तरीय प्रणाली के सबसे ऊपरी भाग के महत्व को घटा दिया और स्वरूप भी बदल दिया गया है। यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि भूमि सुधार ही इसका एकमात्र कारण है, लेकिन इसने निश्चित रूप से इसमें प्रमुख भूमिका निभायी है। पिछले पन्द्रह वर्षा में बहुत से बडे जमींदारों, तालुकेदारों तथा जागीरदारों की अवनति हुई है और उनके साथ न केवल भूमि के स्वामित्व का एक विशिष्ट स्वरूप ही समाप्त हुआ है, बल्कि 'सामन्ती' प्रकार के जीवन के ढंग के बहुत से तत्व भी।

(2) भूस्वामियों के प्रभुत्व का हास - भूमि सुधारों का एक प्रभाव यह पड़ा कि बडे-बड़े जागीरदारों-जमींदारों की, जिनकी देश के विभिन्न भागों में जैसे ग्रामीण बंगाल, राजस्थान तथा अन्य कई राज्यों में आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मामलों में प्रभुत्वशाली स्थिति थी, अब वह स्थिति नहीं रही। परम्परागत कृषि सरंचना के सबसे ऊपरी भाग वाले लोगों के पास यद्यपि भूमि तो काफी मात्रा में थी, परन्तु उनका वास्तविक कृषि कार्यो से नहीं के बराबर सम्बन्ध था। वे दूसरों को किराये पर या बटाईदारी में भूमि जोतने को देते थे: अनुपात पहले की तुलना में घट गया है। अब कृषि के माध्यम से आर्थिक लाभ के अवसर बढ़ गये है। इससे प्रेरित होकर कुछ पूर्ववर्ती जागीरदार और जमींदार कृषि कार्य में अधिक प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने लगे हैं। आजकल कई जमींदार सव्य पूँजीपति किसान (Capitalist Farmers) बन गये हैं। अब वे अपने खेतों पर और कुछ नहीं तो देख-रेख का ही कार्य करने लगे हैं। यद्यपि आज भी उनकी आय काफी है, परन्तु अब उन्हें वह सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है जो किसी समय जागीरदार के रूप में थी। वर्तमान में पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सामन्ती प्रकार के भूस्वामी की बजाय 'आर्थिक' प्रकार के भूस्वामी का महत्व बढा है।

(3) नवीन प्रकार के भूस्वामियों का उदय - यही इस ओर ध्यान देना भी आवश्यक है कि इस नवीन प्रकार के भूस्वामी का उदय जो वैजानिक उपकरणों की सहायता से खेती करने की ओर अग्रसर है, कुछ ही लोगों के हाथ में भूमि के केन्द्रीकरण की प्रवृति को किस सीमा तक बदल पाया है इसमें कोई सन्देह नहीं कि बडी-बड़ी जागीरें जिनका क्षेत्र सैकड़ों मीलों अथवा कई गावों तक विस्तृत था, समाप्त प्राय हो चुकी है, परन्तु आज भी 100 से 200 एकड़ के खेत या फार्म कई लोगों के पास हैं। इन लोगों ने भूमि की उच्चतम सीमा सम्बन्धी कानूनों से बचने के लिए भूमि का विभाजन अलग-अलग व्यक्तियो के नाम दिखा अवश्य रखा है, परन्तु वास्तव में पूरे 'फार्म' पर एक ही परिवार का अधिकर है।

आन्द्रे बिताई ने बताया है कि कुछ लोग उचित आकार के खेत के स्वामी या नियन्त्रक है जबकि अधिकांश कृषक परिवारों के पास छोटे खेत ही है। नेशनल सेम्पल सर्व (National Sample Survey) द्वारा 1953-54, 1959-60 तथा 1960-61 के जो ऑकडे दिये गये हैं, वे विभिन्न आकार की जोतों के वितरण में कोई परिवर्तन व्यक्त नहीं करते। 1953-54 में 60 प्रतिशत जोत 5 एकड़ से छोटे थे, जबकि 1959-60 तथा 1960-61 के लिए ये आँकड़े क्रमश: 62.96 तथा 61.69 प्रतिशत थे। इस आकार के जोतों द्वारा घेरा हुआ क्षेत्र 1953-54 में कुछ क्षेत्र का 15.44 प्रतिशत था, 1959-60 में 18.88 तथा 1960-61 में 19.18 प्रतिशत था। दूसरी ओर 1953-54 में 30 एकड से ऊपर के जोत समूर्ण का 4.27 प्रतिशत थे और ये 30.81 प्रतिशत क्षेत्र घेरे हुए थे: 1960-61 में ये खेत कुल खेतों का 3.21 प्रतिशत थे और कुल क्षेत्र का 23.65 प्रतिशत भाग घेरे हुए थे। इन ऑकडों से ज्ञात होता है कि भारत में भूमि वितरण सम्बन्धी असमानता काफी मात्रा में व्याप्त है।

सन् 1976-77 में जहाँ देश में कुल कार्यशील जोतों की संख्या 8.15 करोड़ थी, वही 1980-81 में यह बढ़कर 8.94 करोड़ तथा 1990-91 में 10.53 करोड़ हो गयी। इनमें से

सीमान्त एवं लघु जोतों की संख्या कुल जोतों की करीब 75 प्रतिशत हैं एक हेक्टेयर से कम वाली जोतों को सीमान्त जोत (Marginal Holding) तथा एक हेक्टेयर से अधिक, किन्तु दो हेक्टेयर से कम वाली जोतों को लघु जोत (Small Holding) 2 से 4 हेक्टेयर तक जोतों को अर्द्ध-मध्यम जोते, 4 से 10 हैक्टेयर तक को मध्यम जीते तथा 10 हेक्टेयर या उससे अधिक को वृहत जोते माना गया है।

यद्यपि आज अकृषक भूस्वामी या अनुपस्थित प्रकार के भूस्वामी जो अकृषक कार्यो में लगे हुए है, अपनी भूमि को बेचने की ओर प्रवृत हैं, परन्तु इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भूमि का अधिक लोगों में वितरण हो रहा है। स्थिति यह है कि खेतों से उत्पन्न वस्तुओं की कीमतों के तेजी से बढ़ने का आर्थिक लाभ उठाने हेतु बड़े आर्थिक भूस्वामी और अधिक भूमि खरीद कर अपने खेतों का आकार बढ़ाना चाहते है। यहाँ इस दृष्टि से विचारकरना भी आवश्यक है कि नवीन किस्म के उत्पादक प्रबन्धों की व्यवस्था में विभिन्न व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध पुरानी उत्पादक व्यवस्था की तुलना में कम अथवा अधिक सस्तरणात्मक हैं।

यह कहा जा सकता है कि नवीन उत्पादक व्यवस्था संस्तरण के परम्परागत प्रतिमान के महत्व को कम करने में सहायक है। 'आर्थिक' भूस्वामी स्वयं भी किसी न किसी रूप में खेत पर काम करता है। वह कभी खेत में ट्रेक्टर चलाता है तो कभी कोई अन्य कार्य करता है और कभी निरीक्षणकर्ता के रूप में अन्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कार्यो की देख-रेख करता है।

(5) भूमि सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप जमींदारों द्वारा काश्तकारों का जो शोषण होता था उसका अन्त हुआ है अत वे उनसे बेगार नहीं ले सकते।

(6) भूमि सुधार कार्यक्रमों में उत्पादन में भी वृद्धि हुई है क्योंकि अब किसान लगन से काम करने लगे हैं।

(7) जमींदारी उन्मूलन से कृषको का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिससे उनको सरकारी सहायता मिलने में आसान हो गया है।

(8) भूमि सुधार कानूनों से सामन्तवाद का अन्त हो गया है अब कृषक लोकतन्त्र एवं समाजवाद में भाग ले सकते हैं।

(9) इन कानूनों से किसानों की दशा सुधरी है एवं उनकी उन्नति हुई है। भूमिहीन कृषकों को भूमि प्राप्त हुई है।

(10) इन कानूनों से पंचायतों की आय में वृद्धि हुई है क्योंकि उन्हें बंजर एवं चरागाह भूमि का प्रबन्ध करने का अधिकार मिल गया है। इस आय को वे गाँव के विकास कार्य में लगा सकते है।

(11) भूमि सुधार कार्यक्रमों से ग्रामीण रोजगार में वृद्धि हुई है।

(12) इन अधिनियमों से भूमि के असमान वितरण में कमी आयी है।

(13) इन अधिनियमों से सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिला है।

(14) इनके कारण गाँवों में वर्ग संघर्ष पर रोक लगी है।

(15) भूस्वामी एवं काश्तकार के बीच अन्तर की समाप्ति - आन्द्रे बिताई ने इस सम्बन्ध में बताया है कि पहले वाली उत्पादक व्यवस्था में भूमि के स्वामित्व और हाथ से काम करने में विपरीत प्रकार का सम्बन्ध था। जब भूस्वामी स्वयं भी किसी न किसी रूपं में खेत पर काम करता है, तो उसके और उसी के खेत पर काम करने वाले श्रमिकों के बीच की एक महत्वपूर्ण बाधा समाप्त हो जाती है, चाहे भूस्वामी की जोत का आकार कितना ही बडा और श्रमिकों का वेतन कितना ही कम क्यों न हो। स्पष्ट है कि नवीन परिस्थितयों ने उत्पादन सम्बन्धो को पहले की तुलना में कुछ कम संस्तरणात्मक बनाने में योग दिया है आज बड़े भूस्वामी भी आस पास के खेतों को किराये पर लेकर अपने खेतों के आकार को बढ़ाने की ओर प्रयत्नशील हैं। ऐसी स्थिति में आज कई भूस्वामी साथ ही काश्तकार भी हैं और ऐसी दशा में भूस्वामी और काश्तकार के बीच पाये जाने हाले कई अन्तर अब धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं, परन्तु समाप्त नहीं। परन्तु आज भी वास्तविकता यह है कि पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा देश के अनेक भागों में भूमि के वितरण के सम्बन्ध मे अनेक असमानताएँ पाई जाती हैं।

प्रश्न यह उठता है कि भूमि सुधार सम्बन्धी विभिन्न अधिनियमों के पारित होने के उपरान्त भी कृषि क्षेत्र में सभी मध्यस्थों से छुटकारा प्राप्त क्यों नहीं किया जा सका और काश्तकारों एवं भूमिहीन श्रमिकों का शोषण क्यों नहीं रोका जा सका? कृषिक सामाजिक संरचना में ही कुछ ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जिनकी वजह से इच्छित परिवर्तन नहीं लाये जा सके। सर्वप्रथम हम पाते है कि स्वयं कानून में 'कृषक' (Cultivator) की परिभाषा में उन लोगों को भी सम्मिलित कर लिया गया जो स्वयं खेती तो नहीं करते, परन्तु जो भूस्वामी है। यह मौजूदा सामाजिक व्यवस्था से एक समझौता था, क्योंकि ब्राह्मण एवं राजपूत, आदि उच्च जातियों के लोग भूस्वामी तो हैं, परन्तु अधिकांशत: स्वयं खेती नहीं करते। ऐसे लोगों को भी 'कृषक' की परिभाषा के अन्तर्गत ले लिया गया। डेनियल थोर्नर ने बताया है कि यह वास्तव में परम्परागत भारतीय समाज के संस्तरणात्मक मूल्यों के प्रति एक छूट थी। न केवल कानूनों के निर्माण में बल्कि उनके क्रियान्वयन में अधिकारियों तक के द्वारा भूस्वामियों की उच्चता को स्वीकार किया गया है। भूमि सुधार प्रयत्नों की असफलता का एक प्रमुख कारण प्रशासन की अकुशलता या अधिकारियों का कमजोर वर्ग के लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रहा है। परिणाम यह हुआ है कि दूसरों की भूमि को किराये पर जोतने वाले काश्तकार और भूमिहीन श्रमिक जिनके लाभ के लिए समय-समय पर विभिन्न अधिनियम पारित किये गये, लाभान्वित नहीं हो सके।

यहाँ किराये पर भूमि लेकर जोतने के प्रचलन की पूर्ण समाप्ति व्यवहार रूप में कठिन है। भूमि पर जनसंख्या के अधिक भार के कारण भूस्वामी और काश्तकार दोनों ही भूमि के छोटे से टुकडे से अपना जीवन-निवाह करते हैं। काश्तकार भी आर्थिक कारणों की बजाय प्रस्थिति या प्रतिष्ठा सम्बन्धी कारणों से भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करने की बजाय दूसरों की भूमि किराये पर जोतने या बटाईदारी में खेती करने को ज्यादा पसन्द करते है। उदाहरण के रूप में, कृषक जातियाँ जैसे जाट, आदि श्रमिकों के बजाय काश्तकारों या बटाईदार के रूप में कार्य करना अधिक उत्तम समझती हैं. चाहे आर्थिक दृष्टि से यह लाभप्रद नहीं भी हो।

आज किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकारों अथवा बटाईदारी में खेती करने बालों की स्थिति अनेक कानूनों के उनके पक्ष में होने के बावजूद भी काफी अस्पष्ट है। पहले भूस्वामी बटाईदारी में खेती को एक अच्छी व्यवस्था समझतें है, लेकिन आज वे ऐसे बटाईदार या किराये पर भूमि जोतने वाले काश्त कारकी भूमि पर से बेदखल करके उस भूमि को स्वयं जोतना या उसे कृषि श्रमिकों से व्यक्तिगत देखरेख में जुतवाना लाभप्रद समझते हैं। इससे कम से कम वे इस भय से तो मुक्त हो जाते है कि नये-नये कानूनों के बनने से कहीं उनकी भूमि पर काश्तकारी का अधिकार नहीं हो जाये, कहीं वह भूमि का मालिक नहीं बन जाये। अत: पट्टेधारी काश्तकार (tenant) की स्थिति इस दृष्टि से अनिश्चित और असुरक्षित है कि शक्तिशाली भूस्वामी उसे भूमि पर से बेदखल करने और उसके द्वारा जोती जाने वाली भूमि को स्वयं के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे लेने में सफल हो जाता है, परन्तु जहाँ किराये पर भूमि जोतने वाला कोई काश्तकार भूमि पर अपना कानूनी अधिकार स्थापित करने में सफल हो जाता है, वही उसे पहले के समान अपने भूस्वामी की कृपा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। ऐसे काश्तकार की आर्थिक स्थिति में भी सुधार की सम्भावना अधिक रहती है। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में काश्तकारी की स्थिति में थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, परन्तु संमूर्ण देश की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कानूनों के काश्तकारों के पक्ष में होने के उपरान्त भी उनकी वास्तविक स्थिति न केवल अनिश्चित बल्कि साथ ही असुरक्षित भी है। तथ्यों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जहॉ काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों को संगठित राजनीतिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त है, वहाँ उनकी स्थिति में सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सुधार हुआ है।

13.14 भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन

भारत में पिछले 50 वर्षो से भूमि सुधार के कई कार्यक्रम बडे उत्साह से प्रारम्भ किये गये जिनके अन्तगर्त जमींदारी उलूलन, अधिकतम जोत सीमा निर्धारण, चकबन्दी, सहकारी खेती एवं लगान नियम एवं पट्टे की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। इससे भूमि सुधार की ओर प्रशंसनीय प्रगति हुई है। संयुक्त राष्ट्र की भूमि सम्बन्धी एक रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि "भारत में भूमि सुधार के हाल के अधिनियम संख्यात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्चपूर्ण है। इतने अधिनियम कहीं भी नहीं बनाए गये है। ये अधिनियम लाखों, करोडों कृषकों पर प्रभाव डालते हैं और भूमि के विशाल क्षेत्रों को अपने दायरों में सम्मिलित करते हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रगति धीमी रही है" प्रो.दान्तवाला का मत है कि “अब तक भारत में जो भूमि सुधार हुए है या निकट विष में होने वाले हैं वे सभी सही दिशा में है, लेकिन क्रियान्वयन के अभाव में इनके परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहे।“ प्रो.गुन्नार मिर्डाल ने अपनी पुस्तक ‘Asian Drama’ में लिखा है, “भूमि सुधार कानून जिस ढंग से क्रियावित किये गये है उससे सामान्यत: उनकी भावनाओं और अभिप्राय को हताश होना पड़ा है।“

आन्द्रे बिताई ने भूमि सुधारों का मूल्यांकन करते हुए बताया है कि तथ्यों के सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि सुधार कृषिक सामाजिक संरचना में व्याप्त मौलिक असमानताओं को समाप्त या कम करने में असफल रहे है। भूमि-सुधार से किराये पर जोती जाने वाली भूमि के क्षेत्र में अवश्य कमी आयी है और उच्च

मध्यस्थों के अधिकार भी समाप्त हुए हैं। परन्तु इससे भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीकरण कम नहीं हुआ है और न ही उन छोटे काश्तकारों की स्थिति में सुधार हुआ है जो केवल मौखिक रूप से निर्धारित शर्तो के आधार पर किराये पर भूमि जोतते हैं या जो बटाईदार के रूप में खेती करते है। इस सम्बन्ध में जी.पी. मिश्रा ने अपने अध्ययन के आधार पर लिखा है कि भूमि सम्बन्धों की मौलिक संरचना वैसी की वैसी बनी हुई है जैसा कि भूस्वामी कृषक, किराये पर भूमि जोतने वाले काश्तकार तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की कृषक बनावट से व्यक्त होता है। कृषि के क्षेत्र में हरित क्रान्ति का विशेष लाभ बडे भूस्वामियों को मिला है और इससे असमानता और निर्धनता कम नहीं हो पायी है। इसका मूल कारण यह है कि पचंवषीय योजनाओं में नवीन कृषि प्रौद्योगिकी को काम में लेते हुए कृषि उत्पादन को बढ़ाने पर तो विशेष जोर दिया गया, लेकिन उत्पादित वस्तुओं के समुचित वितरण और सामाजिक न्याय पर कम। अत: कृषि संरचना में पीरवर्तन की प्रक्रिया न तो कमजोर वर्ग के लोगों की संख्या को घटाने और न ही उनकी आर्थिक दशा को सुधारने में सफल हो सकी।

विडम्बना यह भी है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश की नीतियाँ तो किसान विरोधी है एवं अमेरिका, यूरोपीय देशों एवं जापान जैसे उद्योग प्रधान देशों की नीतियाँ किसान समर्थक है। एक बात और भी है, भारत में राजस्व के प्रशासन का सारा ढॉचा ब्रिटिश राज की देन है और हमारी गुलामी की याद दिलाता है और आज भी हम भारतीय किसानों को गुलामी की बिडम्बनाओं से मुक्त करना नहीं चाहते है।

उत्पादन और इससे सम्बन्धित भूमि सम्बन्धों की कृषिक संरचना को इस दृष्टि से बदलें कि कृषि क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का न्यायोचित तरीके से वितरण हो सके, यह दृढ़ राजनीतिक संकल्प या निश्चय पर निर्भर करता है न कि नियोजन पर। अभी तक के भूमि सुधार प्रयत्नों से यही प्रमाणित होता हैं भूमि सम्बन्धों की कृषि संरचना में परिवर्तन लाने हेतु आवश्यक है कि भूमि का कमजोर वर्ग के लोगों में अधिकाधिक वितरण किया जाय और उन्हें कृषि हेतु आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जायें। ऐसा करने से एक समतावादी कृषिक व्यवस्था का उदय हो पायेगा और कृषि क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं का लाभ कुछ बडे भूस्वामियों या आर्थिक किसानों को ही नहीं मिलकर काश्तकारों, बटाईदारों एव कृषि श्रमिकों को भी मिल पायेगा।

भूमि सुधार कर्याक्रमों की सफलता के लिए आवश्यक है कि -

(i) भूमि सम्बन्धी नवीन रिकार्ड तैयार किया जाय जिसमें स्वामित्व का विकास समाप्त हो,

(ii) कुशल प्रशासकीय मशीनरी स्थापित की जाय,

(iii) खेतिहर श्रमिकों के संघ बनें एवं उनके प्रतिनिधियों को भूमि सुधार कार्यक्रमों में सम्मिलित किया जाय,

(iv) भूमि सुधार कानूनों का प्रचार-प्रसार किया जाय,

(v) कानूनों को लागू करने की सरल विधिया अपनायी जायें,

(vi) नये कृषकों के लिए वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध किया जाय।

13.15 सारांश

इस समूची इकाई में आपने यह जाना-

- कृषक समाज की संरचना।
- कृषक समाजों के सम्बन्धात्मक प्रतिमान एवं प्रभावित करने वाले कारक।
- प्रस्तुत ईकाई में इन सम्बन्धो को अध्ययन करने वाले उपागमों का भी विवरण है।
- कृषिक सम्बन्धों की प्रकृति एवं कृषक समाज की समस्याओं का विशलेषण दिया गया है तथा भूमि सुधार के प्रभाव एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया हैं।

13.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 कृषक समाज की अवधारणा क्या है? कृषक सम्बन्धों के अध्ययन उपागमों की व्याख्या कीजिये।

2 कृषिक सम्बन्धों के प्रतिमानों की व्याख्या कीजिये।

3 आन्द्रे बैते के कृषक सम्बन्धों के अध्ययन बिन्दुओं की व्याख्या कीजिये।

4 कृषकों के असंतोष के कारण लिखिये।

5 भूमि सुधार से कृषक समाज पर क्या प्रभाव पडा है?

13.17 संदर्भ ग्रंथ

1 आन्द्रे बैते - स्टडीज इन एगरेरियन सोशल स्ट्रक्चर 1974

2 रॉबर्ट रेडफील्ड - पिजेन्ट सोसईटी एंड कल्चर

3 एम.एन.श्री निवास - रिलीजन एण्ड सोसाइटी एमोंग दी कुर्गस ऑफ साउथ इण्डिया

4 ए.आर.देसाई - एन इन्ट्रोक्शन टू रूरल सोशोलिजी इन इंडिया - 1959

5 गोविंद सदाशिव घुर्ये - कास्ट क्लास एंड ऑक्यूपेशन इन इंडिया 1961

इकाई 14

सामाजिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा
14.3 सामाजिक आन्दोलन के घटक तल
14.4 सामाजिक आन्दोलन के स्त्रोत
14.5 सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा
14.6 भारत में सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययन के अवरोधक कारण
14.7 भारत में सामाजिक आन्दोलनों समाजशास्त्रीय अध्ययनो के प्रवाह
14.7.1 सामाजिक आन्दोलन के प्रकार
(अ) सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन
(ब) रूपान्तकारी आन्दोलन
(स) क्रान्तिकारी आन्दोलन
(द) उद्वारवादी आन्दोलन
14.7.2 प्रशिष्ट "'पुराने" विषयों पर आधारित एवं "नवीन" बिषयों पर आधारित आन्दोलन
(अ) कृषक आन्दोलन एवं किसान संघर्ष
(ब) आदिवासी आन्दोलन
(स) दलित आन्दोलन
(द) नारी आन्दोलन
(इ) प्रकृतिक समलोचन एवं पर्यावरण संरक्षण आन्दोलन
(ई) समूहिक सामाजिक क्रिया, मानव अधिकार तथा स्थानिक आन्दोलन
14.8 समीक्षा
14.9 सारांश
14.10 शब्दाबली
14.11 संदर्भ ग्रंथ
14.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप सामाजिक पीरवर्तन के एक बल के रूप में सामाजिक-आन्दोलन की समाजशास्त्रीय समझ प्राप्त करेंगे। वहाँ आपको जानने को मिलेगा कि सामुहिक क्रिया के एक स्वरूप के रूप में सामाजिक आन्दोलन के ढाँचे के क्या-क्या तब या घटक होते है? एक प्रक्रिया

के रूप में सामाजिक आन्दोलन की क्या नियति होती है? भारत में सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययनों का प्रवाह क्या रहा? तथा सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में सामाजिक आन्दोलन आधारित अध्ययनों का क्या महत्व है?

इन प्रश्नों पर आपको जो संक्षिप्त जानकारी प्राप्त होगी, उससे आप सामाजिक ढाँचे की प्रवर्तमान परिस्थितियों को सामूहिक रूप से समाज के सदस्यों द्वारा चुनौतियाँ दी जाती है उसके बारे में तथा ऐसे प्रयासों के परिणामो की वास्तविकता के बारे में समझ प्राप्त होगी।

14.1 प्रस्तावना

सामाजिक आन्दोलना का समाजशास्त्रीय अध्ययन सामाजिक ढाँचे में सामाजिक परिवर्तन के जिम्मेदार बलों को समझने का एक सक्षम उपागम (Approach) प्रदान करना है। आजादी प्राप्त करने के बाद भारत में मुख्यतया सामाजिक परिवर्तन के दो प्रमुख दल उभर आये हैं। एक, सरकार द्वारा नियोजन के माध्यम से आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के प्रयास और दूसरा, जन-सामान्य द्वारा सामुहिक रूप से विरोध और संघर्ष के माध्यम से प्रवर्तमान सामाजिक ढाँचे में बदलाव लाने के प्रयास। प्रथम श्रेणी में आते प्रयासों के अवस्थित रूप से समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने भारत में विकास के समाजशास्त्र को जन्म दिया। इसके बारे में आप इकाई 19 में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे। जबकि दूसरी श्रेणी में आते प्रयासों के फलस्वरूप सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्र का जन्म हुआ। भारत में सामाजिक आन्दोलनों का सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की तरफ जरूरी ध्यान लगभग गये तीस चालीस वर्षो से ही आकर्षित हुआ है। अत: समाजशास्त्रीय अध्ययन एवं संशोधन में सामाजिक आन्दोलन आधारित अभ्यासों का आज भी व्यापक क्षेत्र हे।

14.2 सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में सामाजिक आन्दोलन का अध्ययन सामुहिक सामाजिक प्रक्रिया के क्षेत्र में आता है फिर भी इसका सम्बन्ध सामाजिक ढाँचे ओर परिवर्तन के परिणामों से भी होता है। समाजशास्त्रियों में सामाजिक आन्दोलन की सर्वस्वीकृत परिभाषा के बारे में सहमती का अभाव है। सरल शब्दों में कहे तो सामाजिक आन्दोलन कोई उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रवर्तमान समाजव्यवस्था की परिधि में निश्चित सुधार या परिवर्तन लाने का संगठित सामुहिक प्रयास होता है। इस प्रकार का प्रयास सामान्यत: एक प्रक्रिया के रूप में लम्बे समय तक निरन्तर चलता रहता है। एम.एस.गोरे के मतानुसार "परिवर्तन के सभी आन्दोलन विद्यमान सामाजिक विश्वास और स्तों में एक नई गहन समझ एक नया दृष्टि बिन्दु एक नया योगदान या उन्हें पुन: परिभाषित करने का एक प्रयास होता है, जो किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक छोटे से समूह द्वारा शुरू समान सोच रखने बाले अनुयायियों में फैलता है ओर वे लोग ऐसे नये दृष्टिबिन्दु नये मूलों तथा नई परिपाटियों को ओर भी आगे बढ़ाने में जूट जाते हैं।" गोरे के अनुसार सामाजिक आन्दोलन की जडे समाज के मूलों की संघर्षयुक्त अवस्था में होते हैं जिसके आधिन समाज के कुछ लोग विशेषाधिकार तथा प्रभुत्व की अवस्था का आनन्द लेते हैं. जबकि अन्य अभावग्रस्त परिस्थितियों से पिडीत होते है। सामाजिक आन्दोलन के जरीये मूल्यों

की ऐसी व्यवस्था को चुनौती दी जाती है। टी.के. उम्मन सामाजिक आन्दोलन की संक्षिप्त परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "यह सामूहिक क्रियाओं की एक ऐसी युक्ति होती है, जिसका लोग व्यवस्था तंत्र की सीमाओं (Penphery) से उसके केन्द्र में (Centre) में प्रवेश पाने के लिये निर्माण करते हैं। वे कहते है कि सामाजिक आन्दोलन निश्चित रूप से इच्छित मूल्यों को प्रदर्शित करता हैं, और यह भाविष्य को इंगित करता एक कार्यक्रम होता है। विलियम ब्रूस (William Bruce) सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "एक सामाजिक आन्दोलन का जन्म तब होता है जबकि एक बड़ी संख्या में लोग प्रर्वतमान सांस्कृतिक या सामाजिक व्यवस्था के किसी भाग को बदलने या हटाने के लिये एक जूट होते हैं पॉल विलकिन्सन (Paul Wilkinson) लिखते हें कि "सामाजिक आन्दोलन एक ध्येय युक्त सामाजिक प्रयास होता है। जिसमें किसी भी साधन का उपयोग करके किसी भी दिशा में सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न होता है। वे कहते हैं कि यह जरूरी नही कि ऐसे प्रयास मे हिंसा कानून भंग, असहयोग, क्रान्ति या आदर्श समूदाय को तिलान्जली देने की बात की अनुपस्थिति हो।

उपरोक्त परिभाषाओं में यो तो एकरागिता नहीं है फिर भी समाजशास्त्रीयों ने सामाजिक आन्दोलन की जो परिभाषा दी हैं उसमें से एम.एम.ए. राव के मतानुसार निम्न तीन आधारभूत तत्व अनिवार्य रूप से सभी परिभाषाओं में पाये जाते हैं।

(i) सामूहिक प्रयास

(ii) एक विचारधारा, एवं

(iii) परिवर्तन की ओर झुकाव

इस वर्णन से एक बात तो स्पष्ट रूप से उपर आती है कि सामजिक आन्दोलन एक सामूहिक क्रिया होती है जो वैयक्तिक क्रिया से भिन्न होती है।

14.3 सामाजिक आन्दोलन के घटक तत्व

सामाजिक घटना के रूप में सामाजिक आन्दोलन का अपना एक आकार या ढाँचा होता है। यह आकार सामाजिक आन्दोलन में अर्न्तनिहित तत्वों पर निर्भर होता है। सामाजिक आन्दोलन के व्यवस्थित विश्लेषण के आधार पर समाजशास्त्रियों ने एक सामाजिक आन्दोलन के ढांचे में निम्न घटक तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

(i) सामूहिक प्रयास (Collective Mobiliration)

आपने देखा कि सामाजिक आन्दोलन वैयक्तिक क्रिया से भिन्न होता है। फिर भी एक सामूहिक क्रिया के रूप मे सामाजिक आन्दोलन कोई एक क्षणिक घटना नहीं होती वरन यह एक लम्बे समय तक चलती रहती प्रक्रिया होती है जो सामुहिक क्रिया के रूप में चलती रहती है। इसके अलावा ऐसी सांस्कृतिक क्रिया आकास्कि रूप से जन्म ले सकती है या औपचारिक ढंग से एक संगठित प्रयास के रूप में प्रारंभ की जा सकती है।

(ii) विचारधारा (Ideology)

सामाजिक आन्दोलन मे विचारधारा का केन्द्रिय स्थान होता है। इसके जरीये प्रवर्पमान सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की व्यवस्था को एक निश्चित अर्थ दिया जाता है और उस

परिस्थिति को बदलने नष्ट करने अथवा टिकाये रखने के पक्ष में यथायोग्य तर्क दिया जाता है। अत: विचारधारा सामाजिक आन्दोलन प्राणवायु अथवा प्रेरक बल का काम करती है। इसी के फलस्वरूप आन्दोलन के नेता ओर अनुयायी में पारस्परिक भावात्मक निकटता आती है। और सभी मिलकर आन्दोलन के उद्देश्य के प्रति अपनी निष्ठा तथा समर्पण के भाव प्रदर्शित करते हैं।

विचारधारा के आधार पर ही आन्दोलन के कार्यक्रमों तथा साधनों को स्वीकृती दी जाती है। कट्टरवादी विचारधारा से प्रेरित सामाजिक आन्दोलन हिंसात्मक मार्ग को वैचारिक उचित ठहराते है। मानव समाज के इतिहास मे वैचारिक क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक आन्दोलनों का भी बढ़ता रहा है। इसी कारण आज भी प्रत्येक समाज में छोटे बडे आन्दोलन चलते ही रहते है।

(iii) संगठन (Organigation)

चूँकि सामाजिक आन्दोलन एक सामुहिक-क्रिया के रूप में समाज या संस्कृति की प्रवर्तमान परिस्थिति में थोडा-बहुत या संमूर्ण परिवर्तन लाने का प्रयास होता है, अत: उसका अपना एक संगठित रूप होता है। यह संगठित रूप उन लोगों पर आधार रखता है जो आन्दोलन के उद्देश्यों से प्रेरित होकर इच्छित दिशा में परिवर्तन लाने हेतु उसे चलाये रखने की जिम्मेदारी लेते हैं। ये ही लोग आन्दोलन के संगठन में केन्द्र स्थान होने है।

(iv) नैतृत्व (leadership)

सामाजिक आन्दोलन का संगठन और संचालन सुचारूढंग से चलता रहे इसके लिए नैतृत्व की अत्यन्त महत्व भूमिका होती है। सबल नैतृत्व एक सामाजिक आन्दोलन को बल ओर दिशा प्रदान करता है। जब आन्दोलन के नेता भ्रष्ट मार्ग अपनाते हैं या प्रवर्तमान परिस्थिति में स्थापित स्वार्थ रखने बाले तलों के साथ बैठ जाते हैं तो धीरे-धीरे आन्दोलन भी अस्त हो जाता है। भारत में औद्योगिक श्रमिक आन्दोलन की असफलताओं के कारणों में नेताओं के वैयक्तिक स्वार्थ या गुण समाधानों की वृति एक गम्भीर कारण के रूप में प्रकाश में आया है।

(v) अनुयायी (Followers)

सामाजिक आन्दोलन का एक अन्य आधारभूत तब आन्दोलन के उद्देश्यों तथा संगठन के प्रति समर्पित तथा कटिबद्ध अनुयायी होते हैं। क्योंकि आन्दोलन के फलस्वरूप प्रवर्तमान परिस्थितियों में जिन लोगों और वर्ग के स्वार्थो को नूकसान होने का भय होता है, वे हर सम्भव ढ़ंग से आन्दोलन का विरोध करते है। ऐसे विरोध को परास्त करने के लिये प्रत्येक आन्दोलन में समर्पित सदस्यों की आबश्यकता होती है। इस आवश्यकत की पूर्ति आन्दोलन के संगठन में योग्य व्यक्तियों की भर्ती के द्वारा की जाती है। गुप्त और छूपे उद्देश्यों से प्रेरित आन्दोलन में काफी सर्तकता तथा संगठन के प्रति कटिबद्धता तथा समर्पण की कक्षा (Degree) को केन्द्र में रख कर व्यक्ति को संगठन में पद तथा सम्मान दिया जाता है।

(vi) व्यूहरचना (Strategy)

आन्दोलन की सफलता या उसका जीवनचक्र उसके कार्यक्रमों की व्यूहरचना तथा इसके अमलीकरण पर आधार रखता है। जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता है वैसे-वैसे आन्दोलन के समक्ष उपस्थित होती परिस्थितियों को ध्यान में लेकर उसकी व्यूहरचना में परिवर्तन लाना भी आवश्यक हो जाता है। इस कार्य में आन्दोलन के नैतृत्व तथा समर्पित अनुयायीओं को हमेशा

सतर्क रहना पड़ता है। ताकि विपरित परिस्थितियों में भी अनुयायीओं का एक जूट सहयोग मिलता रहे यह सुनिश्चित करना पडता है।

इसी प्रयास में आन्दोलन के नेतृत्व द्वारा अनुयायीओ में भावात्मक एकता तथा नैतिक बल के संवर्धन के लक्ष्य को केन्द्र में रखकर परंपरागत सामाजिक-संस्कृतिक आस्मिकताऐं जागृत करने का प्रयास होता है। यह प्रयास भाषा, धर्म, प्रदेश, राष्ट्रीयता अथवा आन्दोलन के हेतुओं को आधार बना कर किया जाता है।

इस तरह प्राय: सामाजिक आन्दोलन सामाजिक ढाँचे की वास्तविक परिस्थिति के प्रति असंतोष के भाव शुरू होता है। जो आगे चलकर एक विचारधारा-का-आधार ले लेता है। धीरे-धीरे विचारधारा के माध्यम से आन्दोलन का एक व्यवस्थित संगठन जन्म लेता है। आन्दोलन से के अग्रणी व्यक्ति संगठन में महत्वपूर्ण पदों पर रह कर इच्छित ध्येय सिद्ध करने के लिये अनुयायीओं को जरूरी नैतृत्व प्रदान करते हैं। हालांकि उनके प्रयासों की सफलता या असफलता भविष्य की एक बात होती है।

14.4 सामाजिक आन्दोलन के स्त्रोत

सामान्यत: सामाजिक आन्दोलन सामाजिक ढाँचे की प्रवर्तन परिस्थिति के प्रति असंतोष के ये भाव के साथ प्रारम्भ होता है। असंतोष के भाव लोगों में नीचे दर्शाये गये कारणों से प्रेरित होते है।

(अ) प्रवर्तमान सामाजिक सांस्कृतिक पीरस्थितियाँ हानिकारक और अन्यायपूर्ण है। ऐसा समाज के कई अन्यायपूर्ण है ऐसा समाज के कई अंगभूत लोगों को लगने लगता है।

(ब) लोगों के जीवन में ऐसे प्रतिमान की समझ ओर ज्ञान होता है जिनके आधार पर वे उक्त पूवर्तमान परिस्थितियों को स्तांकन करके उनका बहिष्कार करते हैं। ये प्रतिमान उन्हें नये सांस्कृतिक मूल्यों एवं मापदण्डों से प्राप्त होते हैं।

(स) आंदोलन के लोगों को विश्वास होता है कि प्रवर्तमान परिस्थितियों को बदला जा सकता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ तक सामाजिक ढाँचे की प्रवर्तमान अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के प्रति लोगों की अनुभूती और भावनाओं में असंतोष की कोई पीडा नहीं होती, तब तक लोग सामाजिक ढांचे की उक्त वस्तु-विक्रेताओं का स्वत: स्वीकार करते रहते हैं। उदाहरण के रूप में भारत में पीढ़ियों तक दलितों, महिलाओं तथा जनजातियों के प्रति भेदमाव तथा अन्याय पर आधारित सामाजिक ढांचा निर्विध्नरूप से इसी कारण चलता रहा। परन्तु 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य शिक्षा, सांस्कृतिक नवजागृती एवं उदारवादी विचारधारा के विकास के साथ साथ मतंत्रता समानता तथा सामाजिक न्याय आदि के मूल्यों प्रस्थापित होने लगे। इन नये मूल्यों के आधार पर सामाजिक ढांचे की वास्तविक्ताओं का मूल्यांकन करने के नये मापदण्ड प्रकट हुए। इन्हीं नये प्रतिमानों के माध्यम से लोगों मे सामाजिक ढांचे की तत्कालिन विषमताओ के प्रति असंतोष भड़कने लगा जो कालान्तर में सामाजिक कृषक आन्दोलन, दलित आन्दोलन; नारी आन्दोलन; आदि के रूप में प्रकट होने लगा।

अनुवैदिक युग में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का उद्भव तत्कालिन सामाजिक ढांचे मे फैली बुराइयों के प्रति जागे असंतोष में से ही हुआ था। यह तो आप जानते ही हैं

14.5 सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा

आपने देखा कि सामाजिक आन्दोलन एक प्रक्रिया - होती है। किन्ही निश्चित उद्देश्यों से उसका प्रारम्भ होता है, और समय गुजरने के साथ उसे गति ओर दिशा मिलती जाती है। किसी भी आन्दोलन की शुरूआत के बाद उसका भाविष्य या नियती आन्दोलनकारियों की कटिबद्धता तथा व्यापक समाज और राज्य के प्रीतभाव पर निर्भर करती है। कई सामाजिक आन्दोलन अपने जीवनकाल में विविध चरणों से गुजरते हुए इच्छित उद्देश्य प्राप्त करने के प्रयास में कालान्तर में एक प्रस्थापित संस्था का रूप धारण कर लेते हैं। आज आर्य समाज ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज. रामकृष्ण मिशन आदि इस कथन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि एक आन्दोलन की शुरूआत के बाद उसके उद्देश्य बदल जाते है नये उद्देश्य के साथ व्यूहरचना में अपनाई जाती है। इस तरह जो आन्दोलन व्यापक जनहित के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं बे इतिहास में अमर हो जाते हैं जबकि छूलनक उद्देश्यों से प्रेरित आन्दोलन शीघ्र ही अस्त हो जाते हैं।

आई.पी.ईसाई ने वेडछी आन्दोलन के अध्ययन के संदर्भ में कहा हैं कि आन्दोलन जब अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर लेता है तो उसके सामने नई परिस्थिति खडी होती है। इस नई परिस्थिति का संवर्धन और संरक्षण करने के लिए आन्दोलन की विचारधारा नीति तथा व्यूहरचना में सकारात्मक परिवर्तन आना जरूरी होता है अन्यथा समय गुजरने के साथ-साथ आन्दोलन की सिद्धियों का हास होने लगता है। भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन में गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर कई छोटे मोटे आन्दोलन शुरू हुए, परन्तु आजादी के बाद जो परिस्थितियाँ खडी हुई उनके अनुरूप ढालने से असफल होने के कारण कई ऐसे आन्दोलन प्रभावहीन और नाममात्र के रूप में रह गये हैं।

सामाजिक आन्दोलन की जीवन रेखा निम्न लिखित वास्तविकताओ से प्रभावित होती है।

(i) अनुयायीओं की निष्टा - सामाजिक आन्दोलन के अनुयायीओं में उसके उद्देश्यों के प्रति निष्टा और समर्पण से भाव पर आन्दोलन का सरूप एवं अस्तित्व निर्भर होना है। इसी तरह आन्दोलन के नैतृत्व एवं संगठन के प्रति कटिबद्धता भी एक अत्यन्त महल का स्थान रखती है। जब तक आन्दोलनकारीयों के मूल्यों और उद्देश्यों पर आन्दोलन की पकड रहती है, तब तक आन्दोलन का भविष्य भी संरक्षित होता है। परन्तु आन्दोलन के उद्देश्यों तथा नैतृत्व के प्रति अनुयायीओं में विश्वास उठने लगता है, तो धीरे- धीरे आन्दोलन का अस्तित्व भी बिखरने लगता है।

(ii) व्यापक समाज का प्रतिभा - एक सामाजिक आन्दोलन को व्यापक समाज का सकारात्मक प्रतिभाव मिलने पर उसका अस्तित्व और प्रभाव सुरक्षित रहता है। उदाहरण के तौर पर पर्यावरण की सुरक्षा के आन्दोलन; श्रमिक आन्दोलन या मानव-अधिकार आन्दोलन आदि समाज के सकारात्मक प्रतिभाव के कारण ही आज वैश्विंक स्वरूप धारण कर सके हैं समय

के साथ व्यापक समाज द्वारा पुरस्कृत आन्दोलनों में से ही नई- नई सामाजिक संस्थाऐं जन्म लेती है।

(iii) सरकार का रूख - सामाजिक आन्दोलन के प्रति राज्य तथा प्रवर्तन सरकार का रूख उसके जीवन काल को प्रभावित करता है। जब आन्दोलन के औचित्य को सरकार के निर्णयों द्वारा अपना लिया जाता है, तो आन्दोलन को चलाये रखने का कोई आधार नही रहता है। ऐसी परिस्थिति में आन्दोलन का शनैः-शनै: विलय हो जाता है। इसके विपरीत सरकारी माध्यमों द्वारा आन्दोलन का विरोध या उसे दबा देने का प्रयास आन्दोलनकारीयों में नया जोश और प्रतिशोध और प्रतिशोध की आग भडकाता है। इससे आन्दोलन और उग्र सरूप धारण करता है। हालांकि इस तरह के सरकारी कदम जब दमनकारी स्वरूप धारण कर लेते हैं, तो आन्दोलन नष्ट हो जाता है अथवा भुगर्य में चला जाता है।

ऐसा भी पाया गया है कि जब प्रभावशाली तत्वों द्वारा आन्दोलन की अवगणना की जाती है या उसमें फूट - फाट डालने का प्रयास किया जाता है है या आन्दोलन के नेताओं को बन्दी बना लिया जाना है, तब अक्सर आन्दोलनकारीयों पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। उनमें एक नई उत्तेजना आती है और प्रतिकार की भावना भड़क उठती है। भारत में ब्रिटिश शासन के युग में सरकार की इस नीति यों तथा व्यूह रचना के फलस्वरूप राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन उत्तरोत्तर उत्तेजित स्वरूप की धारणा करता रहा, हम सभी ज्ञात है।

14.6 भारत में सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययन के अवरोधक तत्व

आप जानते हैं कि भारतवर्ष में व्यवस्थित रूप से समाजशास्त्र के अध्ययन तथा संशोधन का इतिहास लगभग सात वर्षो के फलक फैला हुआ है। इसमें भी सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययनों का इतिहास तो लगभग तीस-पैतीस वर्ष पुराना ही है, हालांकि एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में भारत में सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन का अस्तित्व प्राचीन समय से ही पाया जाता है। आपने आगे देखा कि बौद्ध और जैन धर्म की उत्पति इसी धर्म के आन्दोलन का ही एक परिणाम रहा है। दक्षिण भारत में ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरूद्ध के आन्दोलन या अन्य प्रदेशों में आदिवासी आन्दोलन आजादी के पूर्व भी सक्रिय रूप से प्रकट हुए और लम्बे समय तक चलते रहे। इसके अलावा भी भिन्न-भिन्न मुद्दों पर छाटे-बडे आन्दोलन होते रहे, जिनका इतिहास में जिक्र मिलता है परन्तु समाजशास्त्र में अध्ययन की विषय-वस्तु के रूप में इस तरफ की कुछ वर्षो पहले ही ध्यान गया। इस बारे में आपको जानकर आश्चर्य होगा कि आई.सी.एस.एस.आर. नई दिल्ली द्वारा जब पहली बार ई.सं.1969 तक भारत में समाजशास्त्रीय संशोधनों का विहंगावलोकन करते हुए नये अध्ययनों लिये अग्रिमता के आधार, पर निश्चित विषय तय करने का काम हाथ लिया गया, उसमें सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय संशोधन की समीक्षा का विषय इसलिये समाविष्ट नहीं किया गया, क्योंकि इस वैद्धिक कार्य के लिये आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उपलब्ध साहित्य के लगभग नगण्य प्रमाण में था। इस बारे में टी.सी. के उम्मन ने बताया कि ई.सं 1900 से ई.सं

1947 तक इस विषय वा केवल चार पुस्तकें और दस से भी कम लेख प्रकाशित हुए थे और 1948 ई. ई.सं. 1987 क समय में नौ पुस्तकें तथा दस लेख प्रकाशित हुए थे। ई.सं. 1968 से ई.सं. 1977 के बीच 30 प्रस्तके और 60 लेख प्रकाशित हुए। इस तरह क्रमश: हाल मे ही आन्दोलनों के अध्ययनों को महत्व मिला है। सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों की लम्बे समय तक पाई गई, उपेक्षा के कुछ प्रमुख कारणों की और ध्यान दे तो निम्न लिखित मुद्दे ध्यान में आते।

1. सामाजिक ढाँचे के अध्ययन की प्राथमिकता आजादी के बाद के भारत में वैसे तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों को काफी बेग मिला, परन्तु इन अध्ययनों में भारत की जाति प्रथा; संयुक्त कुल, ग्रामीण जीवन; नातेदारी के सम्बन्ध आदि घटकों पर ही ध्यान केन्द्रित रहा। जबकि एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक आन्दोलनों की प्रक्रिया के रूप में सामाजिक आन्दोलनों की महत्व की भूमिका होते हुए तथा ऐसी प्रक्रियाओं की गहन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि होते हुए भी इनकी क्षेत्रीय संशोधन के प्रति उपेक्षा ही रही यह एक वास्तविकता है।
2. विकासलक्षी कार्यक्रमों के मूल्यांकन को प्राध्यान -
   समाजशास्त्रीय अध्ययनों के विषयों की अग्रिमता में आयोजित बद्ध विकास के सरकारी कार्यक्रमों की उपलब्धियों के मूल्यांकन को प्रथम पंचबर्षीय योजना से ही प्राधान्य मिलता रहा है। इस प्रकार के अध्ययनो के लिये आर्थिक साधनों की सरल उपलब्धि भी एक प्रेरक बल रहा है। इसके अलावा विदेशों से खासकर के अमेरिका से प्राप्त आर्थिक अनुदान ओर छात्रवृतियाँ विकास आधारित विषयों पर के अध्ययनों को प्रोत्साहन देते रहे हैं। परिणाम स्वरूप सामाजिक आन्दोलन जैसे विषयों पर भारतीय समाजशास्त्रीय जरूरी ध्यान नहीं दे पाये।
3. सामाजिक आन्दोलन के साथ संकलन
   भारतीय समाजशास्त्रीय में सामाजिक आन्दोलन के गहन विश्लेषण की उपेक्षा के बारे में टी.के. उम्मन कहते है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विशिष्ट और भव्य आन्दोलन में कई छोटे मोटे आन्दोलन अपनी स्वतंत्र आस्मिता नही टीका पा सके। वैसे तो आजादी के पहले भी आदीवासी आन्दोलन; कृषक आन्दोलननारी आन्दोलन, विद्यार्थी आन्दोलन तथा जाति प्रथा विरोधी आन्दोलन आदि भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के अंगों के रूप में ही देखा जाता रहा। अत: इनका अलग से या एक स्वतंत्र घटना के रूप में अध्ययन करने की जरूरत की और ध्यान नहीं गया।
4. समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिये संसाधनों का अभाव
   प्रत्येक वैज्ञानिक संशोधन में भौतिक साधनों के उपरान्त माननीय साधनों की उपलब्धी नितान्त आवश्यक होती है। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों को कई बार भौतिक विज्ञानों की तुलना में ऐसे साधनों के अभाव का सामना करना पडता है। भारत के विश्वविद्यालयों में तथा संशोधित संस्थाओं में हमेशा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनो के लिये ऐसे संसाधन उपलब्ध कराने में एक प्रकार की उपेक्षा रही है। इसके अलावा जो कुछ थोडे आर्थिक अनुदान उपलब्ध होते हैं वे भी आग्रिमता के क्रम में आती विषयों वस्तु से जुड़े होते है। इस

कारण भी आजादी के बाद भी काफी समय तक सामाजिक आन्दोलनो के अध्ययनों के लिये जरूरी संसाधनों के अभाव के कारण इस क्षेत्र में विशेष योगदान नहीं हो पाया। इस कढ़िननाई का हल ई.स 1967 के आसपास राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक विज्ञानों के संसाधनों को आर्थिक अनुदान देने के आशय से इन्डीयन काउन्सिंग ऑफ सोशल सायन्स रीचर्स (I.C.S.S.R) नई दिल्ली की स्थापना के साथ मिला ऐसा कोटा कहा जा सकता है।

पांच सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों की तरफ देर से ध्यान जाने के पीछे एक अत्यन्त गंभीर बौद्धिक कारण यह भी रहा है कि आजादी के बाद के लगभग दो-ढाई दशक तक समाजशास्त्र की विषय वस्तु में संघर्ष, शोषण, विरोध उग्र प्रतिरोध, वर्ग. - संघर्ष आदि विषयों को जरूरी महत्व नहीं प्राप्त हुआ था। इसका एक कारण यह भी रहा है कि तत्कालीन समय में एक तरफ अमेरिका आर्थिक-अनुदान से जुड़ी अग्रिमताऐं तथा दूसरी तरफ अमेरिकन समाजशास्त्र और प्रकार्यात्मक अभिगम की भारतीय समाजशास्त्र पर जटील पकड़। अत: पशाद्रीलता की इस परिस्थिति में सामाजिक आनदोलनों के समाजशास्त्रीय अधयनों को जरूरी प्रोत्साहन नहीं मिल पाया था।

अंत में एक उल्लेखनीय कठिनाई सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिये व्यवस्थित संशोधन पद्धति के विकास का अभाव रहा है। जब सामाजिक ढाँचे की किसी एक घटना, परिस्थिति या इकाई का अध्ययन करना होता, है तो संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अभिगम या संघर्षवादी अभिगम से सम्बन्धित उपयुक्त संशोधन पद्धतियों पर आधार रखा जा सकता है। परन्तु सामाजिक आन्दोलन वास्तब में सामाजिक प्रक्रिया के रूप में चलते हैं। उनका प्रारम्भ निश्चित पृष्ठभूमि में होता है, उनका जीवन काल कई उतार-चढ़ाव से गुजरता है और उनकी सफलता भविष्य की नियति होती हैं अत: एक सामाजिक आन्दोलन के भौगोलिक फैलाव, सामाजिक व्यय, विचारधारा, उद्देश्य, व्यूहरचना तथा सफलता-असफलता आदि के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में कई ऐसे अवसर आते है। कि एक अध्ययन द्वारा प्राप्त निष्कषों का दूसरे समाजशास्त्रीय संसाधनों द्वारा प्रमाणिकरण या उनका खण्डन करना लगभग असम्भव हो जाता है।

उपरोक्त कई कठिनाइयों होते हुए भी गये 25-30 वर्षा में भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन के आधार पर कई मूल्यांकन योगदान हुए हैं। इसी के फलस्वरूप आई.सी.एस.एस.आर. नई दिल्ली के सौजन्य से 1969-1979 के दशक में तथा 1980-1990 के दशक में सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के प्रवाह की दो बार समीक्षा की गई हैं। ये समीक्षाऐं सैकण्ड 1969-79 एण्ड थर्ड 1940-50 सर्वे ऑफ रीचर्स इन सोशियोलॉजी एण्ड सोश्यल एन्थ्रोपोलॉजी के शिर्षक के साथ प्रकाशित हुई हैं। इन दोनों ग्रंथों के प्रकाशन आई.सी.एस.एस.आर. ने किया है। आपने आगे देखा कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों के प्रवाह की समीक्षा पर आधारित उपरोक्त शिर्षक के प्रथम ग्रंथ में सामाजिक आन्दोलनों के विषय को स्थान नहीं मिला था। क्योंकि 1969 से पहले इस विषय पर काफी कम समाजशास्त्रीय साहित्य उपलब्ध था।

अत: दूसरे ग्रंथ में टी.के. उम्मन ने 1969 से 1979 के दशक के लिये पहली बार इस विषय पर आधारित अध्ययनों के प्रवाहों की तथा तीसरे ग्रंथ में राजेन्द्र सिंह ने 1966 से 1990 तक के दशक में हुए योगदानों की समीक्षा की है। इन दो ग्रंथों में प्रकाशित सामग्री के अध्ययन के आधार पर आप सामाजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययनों की गहरी और व्यापक समझ प्राप्त कर सकते हैं। इसके उपरान्त आप इन विषयों पर आगे के संशोधनों के लिये नई दिशाऐं भी जान सकेंगे।

14.7 भारत में सामाजिक आन्दोलन समाजशास्त्रीय अध्ययनो के प्रवाह

आपने जाना कि भारत में सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन समाजशास्त्र की विषयवस्तु में तुलनात्मक रूप से एक नया विषय रहा है। इस सम्बन्ध में डी.एन. धनागरे ने लिखा कि सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन से समाजशास्त्र की उभरती छार का प्रतीक हैं। इस बात को दिपाक्तर गुप्ता ने एक दूसरे रूप में अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि परम्परागत ढंग से सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन इतिहासकारों तथा राजनैतिक दर्शकशास्त्रीयो का विषय रहा है। जबकि सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण हेतु समाजशास्त्रीय दृष्टिबिन्दु का अभाव रहा है। यहां पर इस बिन्दु पर ध्यान हटा कर गये कुछ दशकों में भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक आन्दोलन के आधार पर योगदान हुए हैं उनके आधार पर दिखाई देते प्रमुख प्रवाह की समझ प्राप्त करेंगे।

14.7.1 सामाजिक आन्दोलन के प्रकार

सामान्य रूप से सामाजिक ढांचे से सम्बन्धित परिवर्तन के उद्देश्य से प्रेरित सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन के आधार पर उन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

(अ) सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन

इस श्रेणी में वे सभी आन्दोलन आते हैं जो सामाजिक ढांचे में संस्थीकृत सामाजिक बुराईयों, विषमताओं, अन्याय, शोषण तथा भेदभाव आदि का विरोध करते हुए सामाजिक ढांचे की व्यवस्था को सुधारने का प्रयास करते हैं। ये आन्दोलन नई चेतना शिक्षा प्रचार, जनजाग्रति और अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए सामाजिक ढांचे की सीमाओं में ही रहते हैं। आर्यसमाज; ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, सत्यशोधक समाज, सूफीवाद और श्रीनारायण धर्म परिपालन योगम एम.एन.डी.पी. आदि का इस श्रेणी के आन्दोलनों में समावेश किया जा सकता है।

(ब) रूपान्तकारी आन्दोलन

इन आन्दोलनों का लक्ष्य प्रवर्पमान सामाजिक ढांचे में आइ परिवर्तन लाना होता है। इस प्रयास में प्रवर्तमान सामाजिक ढांचे की टीकाये रखते हुए सामाजिक - संस्कृतिक मूल्यों तथा संस्थाओं का खण्डन किया जाता है, और दूसरी तरफ नये मूल्यों विचारधारा तथा सामाजिक दायितवों के आधार पर एक भिन्न व्यवस्था प्रस्थापित करने का प्रयत्न होना है। इस नई व्यवस्था में शोषित वर्ग अन्याय तथा शोषण से मुक्त जीवन शैली प्राप्त करना है। दलित

आन्दोलन, महिला आन्दोलन, पिछडे वर्गो का आन्दोलन आदि इस श्रेणी में आते हैं। परमपरागत भारत में विभिन्न प्रदेशों में हुए ब्राह्मणबाद विरोधी आन्दोलन भी इस प्रकार के आन्दोलन कहे जा सकते हैं।

(स) क्रान्तिकारी आन्दोलन

कभी-कभी समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा समाजस्वीकृति ढंग से शोषण अत्याचार, और भेद भाव की अवस्था को न्यायिक जताया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में समाज का एक छोटा सा वर्ग विशेषाधिकारी एवं श्रेष्ठता की स्थिति से जीवनयापन करता है, तथा शेष विशाल वर्ग अधिकारहिनता तथा वांचितता की परिस्थिति में फंसा रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था को उखाड़ कर नई व्यवस्था प्रस्थापित करने का आशय से जन्म लेते सामाजिक आन्दोलन इस श्रेणी में आते हैं। इन्हें क्रान्तिकारी आन्दोलन कहा जाता है। कई इन्हें उग्रवादी आन्दोलन भी कहते हैं। इनकी व्यूहरचना में हिंसक साधनों का भी उपयोग हो सकता हैं। क्योंकि इनकी रणनीति में निर्धारित उद्देश्य को सिद्ध करने हेतु साधनों क औचित्य की जगह उनकी प्रभावकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(द) उद्वारवादी आन्दोलन

इस श्रेणी में वे आन्दोलन आते है जो व्यक्ति को आध्यामिक तथा नैतिक पतन से बचाने के उद्देश्य से अस्तित्व में आये होते हैं। इससे आन्दोलन अक्सर व्यक्ति केन्द्रित भी हो सकते हैं। मध्य युग के भारत में अस्तित्व में आये भक्ति आन्दोलन को इस श्रेणी में समाविष्ट किया जा सकता है।

संक्षेप में समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक आन्दोलनों को विचारधारा, भौगोलिक विस्तार, सामाजिक आधार, व्यूहरचना, जीवनकाल, उद्देश्य आदि के भिन्न-भिन्न आधारों पर अलग-अलग श्रेणियों मे बांटा गया है। भारत में हुए सामाजिक आन्दोलनों को विश्लेषण में भी ऐसे प्रारूप पाये जाते हैं।

14.7.2 प्रशिंष्ट "पुराने" विषयों पर आधारित एवं. "नवनि" विषयों पर आधारित आन्दोलन

सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन के प्रवाह

अब आपको आगे के पृष्ठों में भारत में हुए सामाजिक आन्दोलन की विषयवस्तु को आधार पर निम्नलिखित दो श्रेणियों में आते आन्दोलनों के अभ्यासों का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त होगा। इसकी विस्तार से जानकारी आपको I.S.S.R के 1979-1990 के ट्रेन्ड रिर्पोट के भाग II के पृष्ठ 89 से पृष्ठ 102 में राजेन्द्र सिंह के लेख "सोश्यल मूवमेन्टस : ओल्ड एण्ड न्यू" में से प्राप्त हो सकेगी।

1. पृशिष्ट "'पुराने" विषयो पर आधारित आन्दोलन
2. सांप्रत "नवीन" बिषयों पर आधारित आन्दोलन

आप देखें कि भारतीय समाजशास्त्र में सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययनो का "पुराने औश्रनवीन" आन्दोलन के रूप में वर्गीकरण समय के परिणाम पर नहीं परन्तु विषयों के आधार पर किया गया है। वैसे यहाँ एक बात स्पष्ट करना जरूरी है कि उपरोक्त वर्गीकरण को बंधे श्रेणियों के रूप में लेना उचित नहीं होगा क्योंकि कई आन्दोलन के विषय एक दूसरी श्रेणी में

आते हों ऐसी सम्भावनाओं को टाला नहीं जा सकता। उपरोक्त वर्गीकरण का एकमात्र आशय आन्दोलन के अध्ययनों के प्रवाहों को समझाने के हेतु ही सीमित है।

1. प्रशिष्ट "पुराने" विषयों पर आधारित आन्दोलनों के अध्ययन

इस श्रेणी में वे सभी आन्दोलन आते हैं जिनका काफी समय से गहन अध्ययन होता आया है। मुख्यतया इस श्रेणी में राजेन्द्र सिंह ने निम्न विषयों पर हुए अध्ययनों का समावेश किया है।

(अ) कृषक आन्दोलन एवं किसान संघर्ष

(ब) आदि बासी आन्दोलन

(क) धार्मिक एवं धार्मिक पंथ पर आधारित आन्दोलन

(इ) श्रमिक वर्ग के आन्दोलन

(ई) अन्य आन्दोलन

(क) कृषक आन्दोलन एवं किसान संघर्ष

इन विषयों पर काफी लंबे समय से समाजशास्त्रीय अध्ययन होते रहे हैं, और आज भी खेतीहर मजदूरों तथा छोटे एवं मध्यम श्रेणी में आते किसानों की समस्याओं को केन्द्र में रखते हुए समाजशास्त्रीय संसाधनों की परम्परा टीकी हुई है। इस क्षेत्र में समृद्ध योगदान करने वाले समाजशास्त्रीयों में ए.आर.देसाई, पी.सी. जोशी, डी.एन. धनागरे गैस ओमवेत् टी.के उम्मन, राजेन्द्र सिंह, समीर, अमीन, डेविड हाडीमेन गोपाल गुरू तथा स्थायी मीलर आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य कई समाजशास्त्रीयों एवं सामाजिक नृवंशशास्त्रीय का इन अध्ययनों से अमूल्य योगदान रहा है। इन अध्ययनों की कुछ प्रमुख विशेषताऐं निम्न रूप से दर्शायी जा सकती हैं।

1 इन अध्ययनों मे मार्क्सवादी अभिगम से प्रेरित सैद्धान्तिक, दृष्टिबिन्दु का प्रधान्य रहा है।

2 संघर्ष के सेत और ढांचे को गहन विश्लेषण के आधार पर समझाने का प्रयास रहा है।

3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को विशेष महत्व देते हुए संघर्ष की प्रक्रिया के विकास का विश्लेषण कई अध्ययनों का प्रमुख केन्द्र रहा है।

4 सरकार के आयोजन वृद्ध विकास के प्रयासों के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में शोषण तथा विषमता आधारित जो विरोधाभास उभर रहे हैं, उनकी सूक्ष्म समझ देने के प्रयास पर खास भार पाया

5 कृषक आन्दोलनों के अध्ययनों के आधार पर आन्दोलन के समाजशास्त्र में सैद्धानितक तथा पद्धतिशास्त्रीय पहलुओं में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

(ब) आदिवासी आन्दोलन

भारत में 19 वीं सदी के अन्तिम वर्षों से ही अनेक आदिवासी आन्दोलन होने आये हैं और आज भी किसी न किसी प्रदेश में इस प्रकार के आन्दोलन देखे जा सकते हैं। वैसे तो आदीवासी आन्दोलनों में से प्रत्येक भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहें है, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो ज्यादातर आदिवासी आन्दोलन राज्य के विरूद्ध हुए हैं। राजेन्द्र सिंह ने अपने लेख में दर्शाया है कि वी.राघवग्य ने ई.सं 1778 से ई.सं 1971 के वर्षो में भारत में हूए 78 आदिवासी

आन्दोलनों की एक सूची तैयार की है। ये सभी आन्दोलन राज्य के विरूद्ध थे। कथालिन के गफ ने भी ब्रिटिश राज्य के विरूद्ध हुए 77 कृषक आन्दोलनों का ब्यैरा तैयार किया है। जिसमे अधिकतर सामग्री आदिवासी आन्दोलन के ऐतिहासिक पहलू पर आधारित है । राजेन्द्र सिंह बताते है कि आदिवासी आन्दोलनों के लक्ष्य, विचारधारा एवं संगठन की पद्धतियों के आधार पर केथालिन गफ ने उन्हें पांच श्रेणियों में विभाजित किया है।

1 ब्रीटिश शासन को हटाकर पारम्परिक राज एवं सामाजिक सम्बन्धों को प्रस्थापित करने के लक्ष्य से हुए आन्दोलन या विहग
2 नई राज्य व्यवस्था के तहत एक प्रदेश या नृजातीय समूह को मुक्ति दिलाने के लक्ष्य के साथ जुडे धार्मिक आन्दोलन
3 सामाजिक बगाबत
4 सामूहिक न्याय प्राप्त करने के आशय से हुए उग्र प्रतिरोध
5 किसी अन्याय के विरूद्ध खड़े हुए जनाधारित विग्रह

आदिवासी आन्दोलन और कृषक आन्दोलनों में एक तात्विक भेद यह रहा है कि आदिवासी आन्दोलन मौटे तोर पर स्वायतत्ता के उद्देश्य को केन्द्र में रखकर तत्कालीन सत्ता की राजव्यवस्था के विरूद्ध खडे होते रहे हैं, जबकि कृषक आन्दोलन कृषक के असमान बंटवारे के विरूद्ध एक सामूहिक विरोध के रूप में चले थे। परम्परागत सामाजिक - सांस्कृतिक आस्मिता को उजागर करने का भी एक महत्वपूर्ण ध्येय रहा है। अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी रहा है कि कृषक आन्दोलन वर्ग संघर्ष का एक रूप था जहां कृषक वर्ग और ज़मीनदार वर्ग एक दूसरे के सामने खड़े होते रहे हैं, जबकि आदिवासी आन्दोलन मुख्यतया राज्य सत्ता पर आदिवासियों के आधिपत्य उपरांत अपनी सामाजिक सांस्कृतिक आस्मिता तथा विरासत को टीकाये रखने के उद्देश्य से प्रेरित रहे है। आदिवासी आन्दोलनों में भौतिकतावादी स्वार्थो का अभाव रहा है, और बाजार के बलों से अर्लिप्त रहे हैं, जबकि कृषक आन्दोलन के बारे में यह सही नहीं है।

इसके अलावा आजादी के बाद के भारत में प्रत्यक्ष और प्ररोक्ष रूप से जो सामाजिक आर्थिक वास्तविकताऐं पनपी हे उसके फलस्वरूप कई ऐसे अलगतावादी आन्दोलन खड़े हुए हैं, जो भारत की एकता तथा सार्वभौमिकता के सामने एक खतरा पैदा करते हैं। ये आन्दोलन तुलनालकरूप से “पुराने” विषयों पर हुए आन्दोलनों से भिन्न स्वरूप धारण करते हैं। कई समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक विज्ञानिकों का इस आन्दोलनों के अध्ययन को तरफ ध्यान गया है। इस क्षेत्र में आर.एन.मिश्रा, मैरन वेईनर, असे हेरिसन, रोनाल सेगल बलराज पुरी, शाहीदा लतिफ, पार्थनाथ मुखर्जी आदि के प्रदान उल्लेखनीय है। गोरखालेण्ड, बोडोलेण्ड बाडो कछारी तथा खालिस्तान आदि की मांग से जुड़े आन्दोलन इस श्रेणी में आते हैं। इन आन्दोलनों के अध्ययनों की समीक्षा के आधार पर निम्न निकर्ष पर पहुंचा जा सकता है।

1 प्रजातांत्रिक अवस्था में विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप प्रादोशिक विषमता जन्म लेती है।
2 ऐसी विषमता के फलस्वरूप विकास के लाभों से वंचित प्रदेश के लोगों के सापेक्ष असंतोष के कब प्रकट होते हैं।

3 असंतोष के माद धीरे-धीरे प्रदेश के लोगों कौ जन-चेतना में अन्याय एवं शोषण की भावना प्रज्वलित करती है।

4 आगे चलकर इसी भावना के तहत प्रादेशिकता के आधार पर दृढ़ सामाजिक एकता जन्म लेती है। और प्रदेश के लोगों में "अपने" और "पराये" के भेद मजबूत करती है।

5 यही प्रक्रिया बहार के प्रदेशों से आये लोगो के सक्रिय रूप धारण करती है। जो एक आन्दोलन के आकार में प्रकट होती है।

6 आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई यही सामूहिक-क्रिया कालान्तर राज्य प्रवर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध खड़ी होती है, और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की मांग पर केन्द्रित हो जाती है।

एक भिन्न सामाजिक परिस्थिति में से प्रकट शिव सेना के आश्रय में चले लगभग इसी प्रकार के आन्दोलना का दिपान्कर गुप्ता ने गहन अध्ययन किया।

(क) दलित आन्दोलन

ये आन्दोलन परम्परागत विषयों से बहार 'नहीन' विषयों पर हुए आन्दोलनों की तरह समझाये जा सकते हैं। भारत में जातिप्रथा, ब्राह्मणवाद तथा धर्म परिवर्तन के मुद्दों को लेकर निरन्तर ऐसे आन्दोलन चलते रहते हैं। आधुनिक समय में दलित आन्दोलन चलने रहे है आधुनिक समय में दलित आन्दोलनों का प्रेरक तल एम.एस.गोरे के मतानुसार बाबा साहिब भीमराज आम्बेढकर की विचारधारा में निहित होता है जहाँ दलितों को अपने स्वमान तथा आस्मिता को सुनिश्चित करने के लिये स्वयं को संगठित हो कर प्रत्यत्नशील होने का आहवान किया गया। गेत्म ओमबवेत्त ने मार्क्सवादी परिपेक्ष में ऐतिहासिक प्रवाहों को केन्द्र में रखकर दलित वर्ग में अन्याय तथा शोषणषण किया है। इसके अलावा नविन विषय में परिपेक्ष में दलित आन्दोलनों के अध्ययन में टी.के. उम्मन श्याम लाल; सतीश कुमार शर्मा; टीके. उम्मन श्याम लाल; नलिनी पंडित; बारबरा जोसफ मेथ्यु: प्रकाश पिम्पले; लालिनी, सतीश शर्मा आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आपने आगे देखा कि सामाजिक सुधारण आन्दोलनो का मुख्य उद्देश्य सामाजिक ढाँचे और धार्मिक विश्वासों तथा विधि-विधानों के क्षेत्र में जो बुराइयाँ आई थी उन्हें दूर करने का प्रयास रहा है। दलित आन्दोलनों में कई ऐसे आन्दोलन थे जो एक निश्चित गुरू के प्रभाव में जाति-आधारित थे जब कि अन्य कई ऐसे आन्दोलन वांचितों के वर्ग में आते तथा सामाजिक धार्मिक अन्याय के शिकार बने लोगों के व्यापक एवं प्रादेशिक स्तर पर खड़े हुए असंतोष मे से प्रकट हुए थे। इनमें प्रथम प्रकार के अध्ययन में एम.एस.ए. राव का केरल के इूडेवा जाति के लोगों का श्री नारायण गुरू धर्म परिपालन योगम का अध्ययन उल्लेखनीय है। इसी तरह वंचितों के आन्दोलनो के अध्ययनो मे रणजीत गुहा तथा डेविड हार्डीमन के योगदान उल्लेखनीय है।

(स) नारी आन्दोलन

भारत में नारी आन्दोलन का इतिहास काफी पुराना है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में नारी आन्दोलन की बिषय-वस्तु "पुराने" और "नवीन" आन्दोलन दोनों श्रेणी के अध्ययनों के प्रथम स्थान प्राप्त करती रही है। हालांकि पाश्चात्य समाजों की तुलना मे भारत में नारी आन्दोलन पुरुषप्रधान व्यश्स्था को चुनौती देने में कमजोर रहा है, ऐसा कई विद्वानों का मानना है। फिर

भी दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जो नई वैचारिक क्रान्ति आई और जनतांत्रिक संघर्षो का व्यापक वैश्विक घटना के रूप में जोर में जोर पकड़ता गया उसके फलस्वरूप पूँजीबादी व्यव्स्था के अन्तर्गत जन सामान्य और प्रवर्तमान राज्य-व्यवस्था के बिच उनके विरोधाभास दिखाई देने लगे। इन विरोधाभास को चुनोतिरूप समाज में कई पहलूओं का स्पर्श करते भिन्न-भिन्न आन्दोलनों में आकर लिया। इनमें से नारी - आन्दोलन भी इस प्रक्रिया को वेग देने में जनसंचार तथा टेकनोलॉजी के तेजी से बढ़ते हुए आयमों ने विशेष साथ दिया।

भारत में नारी आन्दोलन के "पुराने" और "नवीन" विषयों पर जो समाजशास्त्रीय योगदान हुए हैं उनमें प्रमुख्तया महिला समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययन ही अग्रसर रहे हैं। इस क्षेत्र में योगदान करने बाले विद्वानों में ए.एस.आलतेकर नीरा देसाई; विष्णु मजूमदार; करूणा अहमद; अन्जु सिंह और नंदिता हक्सर; लीला दुबे; विद्युत भागवत; मधु किसवर एवं विनिता रूथ; वन्दना शीश उषा कान्हरे। तथा सुष्मा प्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय है।

गये तीस-पेंतीस वर्षो में जो नारी आन्दोलन अध्ययन हुए हैं उनका खास झुकाव, परम्परागत मुद्दे जैसे कि सामाजिक प्रस्थिति; परिवार, विवाह, एवं सामाजीकरण से हटकर, "नारी" की अपनी एवं "स्वतंत्र" अस्तित्व पर स्पष्टरूप से दिखाई देता है। इसी के फलस्वरूप आजकल लैंगिक मुद्दों याने कि जेन्डर आधारित अध्ययनों का प्रवाह उभर आता है। इतना हीं नहीं परन्तु भारत के विश्वविद्यालयों गे "विमेन स्टडीज" के विशेष केन्द्र स्थापित करने के आशय से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अग्रिम के कम से कम आर्थिक अनुदान भी दिया जाता है।

(द) प्रकृतिक समलोचन एवं पर्यावरण संरक्षण आन्दोलन

आन्दोलन से जुडे नये विषयों में गये कुछ दशकों से प्राकृतिक समलोचन याने कि 'इको लॉजिकल बेलेन' तथा प्राकृतिक वातावरण की स्वेच्छता तथा शुद्धता के आशय से वैश्विक स्तर से लेकर प्रादेशिक एवं स्थानिक स्तर के अनेक सामाजिक आन्दोलनों ने जन्म लिया है। इनमें से कई आन्दोलन प्राकृतिक साधनों के संवर्धन से भी जुडे है। इन आन्दोलनों के केन्दिय स्त्रोत औद्योगिक विकास के कारण विश्वमर में प्रदुषण एवं ग्लोबल वामीन्य की जो समस्याये खडी हुई है, उसके अतिरिक्त विकास के सरकारी कार्यक्रमों के कारण मानव जाति के अस्तित्व के जो वास्तबिक तथा काल्पनिक भय रहें है, उनमें स्थित हैं। इसके साथ ही आणविक तथा औद्योगिक कचरे के फैलाव से वायु पानी, भोजन के प्रदूषण के उपरोक्त कुदरनी वनस्थिति तथा जंगलों का नाश हो रहा है, वे भी इस प्रकार के आन्दोलनों को जन्म देने में महत्वपूर्ण प्रेरक दल रहे हैं। इस प्रकार नये विषयों पर हुए आन्दोलनों के भारतीय अध्ययनों में विलिप्त दास गुप्ता माधव गाडगील रामचन्द्र गुहा, शीशवा वन्दना, अनील अग्रवाल, उज्जवल समर्थ, गीता मेनन, बिना अग्रबाल तथा अजय सिंह रावत आदि के अध्ययनों का राजेन्द्र सिंह ने अपनी समीक्षा में उल्लेख किया है।

इन अध्ययनों में एक तरफ प्राकृतिक स्त्रोत की बिगडती दशा तथा दूसरी और ऐसे स्त्रोतों को बचाने के लिये माननीय स्तर पर सामुहिक प्रयत्न पर विशेष भार दिखाई पड़ता है। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण "चीपको आन्दोलन" के समाजशास्त्रीय अध्ययन हैं।

(ई) मानव अधिकार तथा स्थानिक आन्दोलन

भारत तथा विश्व के अन्य विकासशील समाजों में डेढ सो वर्षो में औद्योगिक विकास के उपरांत उपनिवेशवाद के फलस्वरूप सामाजिक-आर्थिक और राजकीय विषमताऐं एवं शोषण तथा अन्याय की जो परिस्थितियाँ पैदा हुई अनेक विरूद्ध विविध प्रदेशों तथा वर्गो में जनजाग्रति आई इसके बारे में आप परिचित ही है। इसी जनजागृति में से उपरोक्त विषयों पर छोटे-बडे अनेक आन्दोलनों ने जन्म लिया। इनमें से कई आन्दोलनों ने स्वैच्छिक संगठनों और सेवा माही संस्थाओं को जन्म दिया। से संगठन अक्सर राज्य के दमनकारी तथा मानवीय गौरव की हनन करनी रीति-रिवाजों के विरूद्ध आवाज उठाते है। साथ ही लोकतांत्रिक अवस्था तथा विकास के लाभ वंचितों तक पहुँचे इसके लिये भी प्रयलशील रहते हैं।

सामाजिक आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में आज भी इन विषयों पर गहन अध्ययनों का अभाव है। आज भारत में सामाजिक न्याय, समानता तथा सामाजिक कल्याण आदि की परिस्थितियों को प्रस्तापित करने में स्वैच्छिक संगठनों का महत्व बढ़ता जा रहा है। सामान्य तथा संकटकालिन परिस्थितियों में इन संगठनों की भूमिका उभर, आती है। परन्तु आज भी इन संगठनों की विभावना, व्यूह रचना, उद्देश्य तथा लोगों की सहभागीता से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय ज्ञान आधारित स्पष्टताओं की बड़ी आवश्यकता है।

14.8 समीक्षा

सामाजिक ढाँचे और परिवर्तन से स्पर्श करती सामाजिक आन्दोलन की प्रक्रिया समाजशास्त्रीय अध्ययन एवं संशोधन के क्षेत्र में एक महत्व की विषय वस्तु का स्थान रखती है। इसकी व्यापकता स्थान स्तर से वैश्विक स्तर को हो सकता है। इस सामुहिक प्रक्रिया में जुडने वाले लोगों की संख्या तथा इसके उद्देश्यों के प्रति अनुयायिओं की निष्टा और कटिबद्धता की कक्षा में विविधता पाई जाती है। इसी तरह से सामूहिक क्रिया के रूप में सामाजिक आन्दोलन की विधारधारा, उसके उद्देश्य, नैतृत्व तथा व्यूह रचना में नी भिन्नता पाई जाती है। तद्दउपरान्त सामाजिक आन्दोलनों के परिणाम एक भविषय की संभावना के फलस्वरूप इसके जीवन रेखा के भी भिन्न-भिन्न आयम होते हैं। सामाजिक आन्दोलनों का स्वरूप भी सुधारवादी अभिगम से लेकर प्रतिरोधात्मक अथवा क्रान्तिकारी हो सकता है। उद्देश्यों की सिद्धी के लिये अहिंसक असहयोगात्मक अथश उग्र एवं हिंसक साधनों में से यथायोग्य साधन में रखकर चुना जाता है। कुछ आन्दोलनों का कालान्तर अस्त हो जाते हैं तो कुछ अन्य सामाजिक संस्था के रूप में प्रस्थापित हो जाते हैं।

सामाजिक आन्दोलन से जुडे उपरोक्त कई मुद्दे समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिये आकर्षण के विषय है। गये कुछ वर्षो में भारतीय समाजशास्त्रियों का इस तरफ ध्यान गया है। इसी कारण आज सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन के आधार पर समृद्ध साहित्य उपलब्ध है, साथ ही भारतीय समाजशास्त्र आन्दोलनों का समाजशास्त्र एक नई शाखा के रूप में उभर कर आया है।

14.9 सारांश

सामूहिक क्रिया के रूप में सामाजिक आन्दोलन समाजशास्त्रीय अध्ययनों तथा संशोधनों के लिये एक महत्वपूर्ण विषय-वस्तु का स्थान रखता है। सामाजिक - आन्दोलन के विश्लेषण के द्वारा सामाजिक ढाँचे के अलावा समाज के विभिन्न तबकों के सदस्यों की प्रश्र्तमान परिस्थितियो के क्रिया-प्रातिक्रिया के स्वरूप और परिणामों को समझने में भी अर्थपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय समाजशास्त्र में सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन गये तीस-पैंतीस वर्षो से ही आकर्षण का विषय रहा है। खासकर के सामाजिक ढाँचे के विश्लेषण, संघर्ष, प्रतिरोध तथा असहमती आधारित घटनाओं के अध्ययन के महत्व का अस्वीकार विकास लक्षी अध्ययनों की अग्रिमता आर्थिक संसाधनों का अभाव; अध्ययन पद्धतियों की अस्पष्टता तथा वैचारिक उदासीनता आदि कई ऐसे कारण हैं, जो सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन की अवगणना के लिये जिम्मेदार माने जाते है। ऐसा भी माना जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद अमेरिका से पी.एल. 480 के तहत जो आर्थिक मदद प्राप्त हुई थी, उसके बाद निरन्तर भारत में अमेरिका का प्रभाव बढ़ता गया। साथ ही समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रकार्यात्मक अभिगम का प्रभाव छा गया। इन्ही प्रीरीस्थीतयों मे उपरोक्त कारण प्रबल बने और सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन की और ध्यान नहीं जा पाया।

आपने देखा कि भारत में सामाजिक वास्तविकता के रूप में आन्दोलनों का काफी लम्बा इतिहास है और आज भी भारतीय समाज में इनका बहुत बड़ा स्थान है। इसी से प्रेरित होकर भारतीय समाजशास्त्र में आज सामाजिक आन्दोलनों का संशोधन की विषय-वस्तु के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। डी.एन.धानागरे ने इस तथ्य को ही ध्यान मे लेकर कहा कि भारतीय समाज शास्त्र को अब एक धार प्राप्त हो गयी है। गये कुछ वर्षों में सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन के आधार पर जो समृद्ध साहित्य अस्तित्व में आया है उसके आधार पर राजेन्द्र सिंह ने पुराने विषयों और नवीन विषयों पर हुये आन्दोलनों को वर्गीकृत करके ऐसे अध्ययनों की समीक्षा की है, जिनकी जानकारी आपने पिछले पृष्ठों में प्राप्त की है।

अंत में आप सामाजिक आन्दोलनों के घटक तब तथा जीवनकाल पर ध्यान केन्द्रित करके किसी निश्चित आन्दोलन का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन कर सकते है।

14.10 शब्दावली

सामाजिक आन्दोलन	–	किसी सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रवर्तमान समाज व्यवस्था की परिधि में निश्चित सुधार या परिवर्तन लाने का सग्रिहक प्रयास
जीवन रेखा	–	आन्दोलन के प्रारंभ से शुरू होकर उद्देश्यों को सिद्ध करने की दिशा मे यात्रा
व्यूहरचना	–	आन्दोलन के उद्देश्यों को सिद्ध करने हेतु अपनाये जाने वाली राजनीतियाँ जो आन्दोलन को एक धार तथा दिशा प्रदान करती है।
पुराने आन्दोलन	–	वे सामाजिक आन्दोलन जो परम्परागत विषय वस्तु पर आधरित होते हैं जैसे कि जाति प्रथा "सामाजिक आर्थिक शोषण एवं अन्याय भेद भाव आदि"

नवीन आन्दोलन – वे सामाजिक आन्दोलन जो नये विषयों पर आधारित होते है जैसे कि मानव अधिकार पर्यावरण संरक्षण; लेंगिकता आदि।

14.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा कीजिए और उसके घटक तत्व समझाइये
2 भारत में सामजिक आन्दोलन के समाजशास्त्रीय अध्ययन किन कारणों से हाल में भी शुरू हुए है?
3 भारत के किसी एक सामाजिक आन्दोलन को केन्द्र में रखकर उसकी जीवन रेखा समझाइये।
4 सामाजिक आन्दोलन के प्रमुख प्रकार समझाइये।
5 परम्परागत भारत में सामाजिक आन्दोलन के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
6 आदिवासी आन्दोलन और कृषक आन्दोलन के प्रमुख भेद समझाइये।
7 सामाजिक आन्दोलन के प्रमुख स्त्रोत स्पष्ट कीजिए।
8 पुराने और नवीन सामाजिक आन्दोलनों की विषय वस्तु की विवेचना कीजिए।

14.12 संदर्भ ग्रंथ

1 गोरे एम.एस.1948 "'द कन्सेप्ट ऑफ सोश्यल मुवमेन्ट' 'ईन दू सोश्यल कान्टेक्स ऑफ एन आईडीलॉजी सेग पब्लिकेशन नई दिल्ली, 1993
2 रणजीत गुहा. 1982-85 सब आल्टर्न स्टडीज भाग I से IV ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेत, दिल्ली
3 उम्मन.के. 1985, सोश्यिल मूवमेंट, ईन आई.सी.एस.एस.आर. सर्वे ऑफ रिचर्स इन साइक्लोजी एंड सोश्यिल एनप्रोथोलॉजी 1669-79 नई दिल्ली आई.सी.एस.एस.आर. पृष्ठ 81 से 149
4 राजेन्द्र सिंह - सोश्यिल मूवमेन्ट ओल्ड एंड यू, आई..सी.एस.एस.आर. थर्ड सर्व रिचर्स इन साईक्लॉजी एंड सोश्यिल एप्रोथोलॉजी खंड सेकेण्ड, आई सी एस एस आर, 2000
5 राव एम.एस.ए. - सोश्यिल मूवमेन्ट एंड सोश्यिल टान्सफोरमेसन्स - द मेकमिलन का ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1979
6 डी.एन.धनागरे 1983 : पिजेन्ट मूवमेन्ट ईन इंडिया 1920-1950 द ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, दिल्ली पृष्ठ 211 से 229

इकाई 15

कमजोर वर्ग की समस्याएँ एंव भारत में इन क्षेत्रों में किये गये अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अनुसूचित जाति का अर्थ वं अवधारणा
15.3 अनुसूचीत जाति की प्रमुख समस्यायें
15.4 अनुसूचित जाति में सामाजिक गतिशीलता
15.5 अनुसूचित जनजाति का अर्थ एवं अवधारणा
15.6 अनुसूचित जनजाति की समस्यायें
15.7 अनुसूचित जन जातियो के प्रमुख आन्दोलन
15.8 पिछडावर्ग का अर्थ एवं अभिप्राय
15.9 अन्य पिछडे वर्ग हेतु गठित आयोग
15.10 महिलाओं की समाजिक प्रस्थिति
15.11 महिलाओं की दशा सुधारने हेतु समाज सुधारकों के प्रयास
15.12 महिलाओं की दशा सुधारने हेतु समाजशास्त्रियों का योगदान
15.13 सारांश
15.14 शब्दावली
15.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.16 सन्दर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि -

- भारत के कमजोर वर्ग कौन-कौनसे है?
- अनुसूचित जाति को अस्पृश्य मानने के पीछे क्या आधार है ।
- अनुसूचित जनजाति सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से पिछडी क्यो है ।
- अन्य पिछड़ा वर्ग। के उत्थान के लिए किन आन्दोलनों का सहारा लिया गया ।
- कमजोर वर्ग की दशा सुधारने के लिए कौन-कौनसे संवैधानिक प्रयास किए जा रहे है ।

15.1 प्रस्तावना

1. प्रत्येक समाज मे मुख्य रूप से वर्ग पाए जाते है । एक सम्पन्न वर्ग जिसे पूंजीपति वर्ग अभिजात वर्ग या उच्च वर्ग के नाम से जाना जाता है और दूसरा गरीब वर्ग, जिसे श्रमिक वर्ग, दुर्बल वर्ग, दलित वर्ग, कमजोर वर्ग था पिछडे वर्ग के नाम से

सम्बोधित किया जाता है । कमजोर वर्ग या दलित वर्ग का अध्ययन वर्तमान में अनेक दृष्टियों से आवश्यक हो गया हैं । समाज शास्त्रियों में एक ऐसा वर्ग भी हैं जो श्रमिकों एवं समाज के कमजोर गर्ग के अध्ययन पर अधिक जोर देता है । इनमें मार्क्सवादी समाज शास्त्री एवं रैडिकल सोशियोलॉज़िस्ट प्रमुख हैं भारतीय सन्दर्भ में कमजोर वर्ग एक ऐसा वर्ग हैं जो सदियों से सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से शोषित एवं उपेक्षित रहा हैं । देश की करीब 40 प्रतिशत जनता इस श्रेणी में आती हैं । नर्मदेश्बर प्रसाद के अनुसार सभी जातियॉ अपनी जीवन शैली मनोवृति कार्यशैली, संस्कृत आदि में इतनी विशिष्ट होती है कि वे दूसरी जातियो से अलग दिखाई देती है । उदाहरण के लिये गांव के बडे-बूढे किसी व्यक्ति को देखकर उसकी जाति बता देते है क्योंकि एक जाति से उसकी विशिष्ट जीवन शैली आदि जुडी होती है । वर्तमान में जिसे अनुचित जाति कहा जाता है उसे अतीत में कई अन्य नामों यथा हरिजन, दलित, अछूत आदि से जाना जाता था जाति पदक्रम में ये समूह निम्नतम स्थान पर पाये जाते हैं जिन पर कई प्रकार की सामाजिक नियोगिताऐ आरोपित की जाती थी जैसे:-

(1) मंदिर प्रदेश निषेध

(2) सार्वजनिक कुओं, तालाबों, सड़को, होटलो आदि का उपयोग निषेध

(3) अस्पृश्यता का पालन आदि ।

1929 में साइमन कमीशन ने दलितों तथा हरिजनों के लिए अनुसूचीत जाति शब्द प्रस्तावित किया जिसे भारतीय संविधानने भी मान्यता दी । अनुसूचीत जन जाति की तरह ही अनुसूचित जाति की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है । किसी भी जाति को अनुसूचीत जाति घोषित करने का अधिकार राष्ट्रपति को हैं भारत में अनुसूचीत जाति कुल जनसंख्या की वह प्रतिशत है ।

भारत एक विशाल देश है जिसमें अनेक विविधातायें हैं जहॉ अनेक जाति एवं जनजाति के लोग निवास करते है भारत के संविधान में अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत अधिसूचित अनुसूचित के अनुसार भारत में 500 से अधिक जनजातियाँ है जो देश के विभिन्न राज्यो और केन्द्र शासित प्रदेशों में निवास करती है । 1951 में इनकी जनसंख्या लगभग 1 करोड 91 लाख रह गयी । इस कमी का कारण भारत का विभाजन है जिसके परिणाम स्वरूप कुछ जनजातीय क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये । 1961 में जनजातियो की जनसंख्या 2 करोड 99 लाख थी जो उत्तरोत्तर बढते बढते 2001 में 8 करोड 43 लाख तक पहुच गयी । भारत के विभिन्न प्रान्तो में जनसंख्या की दृष्टि से असमानता पाई जाती हैं जनजातियो की संख्या मध्यप्रदेश में सर्वाधिक जबकि उत्तरप्रदेश, केरल ब तमिलनाडू में इनकी संख्या कम है देश के 5 राज्यो मिजोरम, नागालैंड, मेघालय, अरूणाचल ब त्रिपुरा की कुल जनंसख्या का 75 से 95 प्रतिशत तक भाग अनुसूचित जनजातियों का हैं ।अनुसूचीत जनजातियाँ दे हैं जो राष्ट्रपति की अनुसूची में सम्मिलित हैं । इसी परिभाषा को भारत का राष्ट्रराज्य स्वीकार करता है । भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे अनेक मानव, समूह रहते है जो आज भी सभ्यता या विकास से दूर, जंगल, पहाड,

पठार जैसे प्राकृतिक वातावरण में निवास करते है जिन्हे हम सामान्यतया आदिवासी, वनवासी जनजाति आदि नामों से जानते हैं ।

डा. डी.एम. मजूमदार के अनुसार जनजाति पीरवारो या परिवारो के समूह का संकलन होता हैं जिसका एक सामान्य नाम होता है जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग मे रहते हैं । सामान्य भाषा बोलते है और विवाद, व्यवसाय, उद्योग, आदि के विषय में कुछ विषयों का पालन करते है और एक निश्चित और उपयोगी परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं । भारत में किसी जनजाति को अनुसूचित जनजाति घोषित करने का अधिकार राष्ट्रपति को हैं अनुसूचित जनजाति शब्द सर्वप्रथम 1929 में साइमन कमीशनने प्रस्तावित किया था जिसे 1947 में संदिधान ने भी स्वीकार किया ।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनजातियों का विकास संबिधान की सीकृत नीति का भाग बन गया । जनजातियों की सूचीय बनाई गयी । 1950 में जनजाति समूहों की संख्या देश में 212 थी जो 1971 में 427 हो गयी और अब यह संख्या जनजातियो के नामों के उच्चारण, उनमें पाये जाने बाले आन्तरिक विभेदो और राजनैतिक कारणो के कारण और भी अधिक हो गयी । अफ्रीका के बाद भारत ही ऐसा देश है जहॉ जन जातियों की जनसंख्या सर्वाधिक हैं ।

पिछड़ा वर्ग शब्द समाज के कमजोर वर्गा विशेषकर अनुसूचीत जातियों, जन जातियों और अन्य पिछडे वर्गा के संदर्भ मे 'उपयोग में लिया जाता है । भारतीय संविधान के भाग 16 तथा अन्य कुछ प्रावधानों में पिछडे वर्गो या अनुसूचित जातियो और जनजातियों के साथ अन्य पिछडे वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है । सामान्यत: पिछडे वर्गो में अनुचित जातियों, जनजातियाँ, भूमिहीन श्रमिकों एवं छोटे किसानो आदि सम्मिलित किया जाता हैं । ये बे लोग है जो जाति-अवस्था में ब्राह्मणों से नीचे किन्तु अस्पृश्य जातियो से ऊचें है । अत: हम कह सकते है कि पिछडा वर्ग समाज का वह भाग है जो सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृति और आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ हैं, जो मुख्यत: कृषि द्वारा जीवन-यापन करता है इसमें प्रमुखत: वे जातियॉ सम्मिलित है जो अछूतो से उच्च एवं ब्राह्मणों से भिन्न समझी जाती है । दूसरे शब्दो में इस दर्ग में मध्यम श्रेणी की जातियाँ आती हैं पिछडापन व्यक्ति का नहीं बरना समूह का लक्षण हैं मण्डल आयोग ने पिछडेपन के तीन आधार (सूचक) माने हैं । सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक । भारत में अनुप्रचईत जनजाति व अनुसूचित जाति के अतिरिक्त वह समूह जिन्हे राज्य ने सामाजिक ब शैक्षणिक दृष्टि से मान्यता दी है उसे अन्य पिछडे वर्ग के रूप में जाना जाता हैं । सन् 1933 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में पहला पिछडा वर्ग आयोग का गठन हुआ था । इसका मूल उद्देश्य अन्य पिछडे वर्गो को सशक्तता प्रदान करना था । आयोग का मानना था कि अन्य पिछडे दर्गा के लोग स्वयं अपने बल पर ऊपर उठने की स्थिति मे 'नहीं हैं।

अन्य पिछडा वर्ग की पहचान राज्य करता है । ऐसी अवस्था में प्रत्येक राज्य में पिछडे वर्गा की पृथक पालिका होती है । इन संख्या पूरे देश में सैकडो तक पहुँच जाती है ।

भारतीय समाज के ऐसे कुछ वर्गा की उनकी सामाजिक आर्थिक दयनीय स्थिति के कारण पिछडे वर्ग के नाम से संबोधित किया गया है जिन पर स्वतंत्रता के बाद विशेष ध्यान दिए जाने की आबश्यकता को महसूस किया गया । ये वर्ग प्रमुखत: चार हैं (1) तथाकथित आदि बासी समूह (2) वे समूह जिन्हें पहले जातीय समाज में अस्पृश्यों के रूप में माना जाता था । इन दोनो समूह के कुछ चुने हुए समेहों को आजकल क्रमश: अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जनजातियों के नाम से जाना जाता है । इन समूहो को विशेष संरक्षण देने की अवस्था की गई हो (3) इन समूहों के अतिरिक्त हिन्दू वर्ग अवस्था में कुछ ऐसी जातियाँ है जिन्हें अति निम्न माना जाता है । तथा जो सामाजिक व शैक्षणिक दृष्टि से काफी पिछडी हुई है उन्हें भारतीय संविधान में पिछडे वर्ग के नागरिक या अन्य पिछडे वर्ग के नाम से संबोधित किया गया हैं (4) महिलाये ।

भारत में कमजोर वर्ग से तात्पर्य सामान्यत: अनुसूचित जनजाति (अ.ज.जा) अनुसूचित जाति (अजा) महिलाये शिलांग आदि से लिया जाता है । संविधान में कमजोर वर्गो की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है । सविधान राज्य को पिछडे वर्गो को पहचानने तथा उनकी स्थिति में सुधार लाने के प्रयास का दायित्व राज्यके नीति निर्देशक तब के अनुच्छेद 46, भाग-4 को सौपता है ।

संवैधानिक दृष्टि से कमजोर दुर्बल या दलित वर्ग के अन्तर्गत अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जन जातियाँ तथा कुछ अन्य पिछडे हुए समूह एवं महिलायें शामिल हैं इनमें समाप्त के साधन हीन वर्ग को सम्मिलित किया गया हैं । भारतीय संविधान श्रमिक एवं समानता पर जोर देता है । अत: संविधान निर्माताओं ने सोचा कि यदि समानता को एक नास्तिकता प्रदान करनी है तो समाज के इन दलित, दुर्बल ओर कमजोर वर्ग को ऊंचा उठाना होगा और अन्य उच्च वर्गो एवं सवर्ण हिन्दुओं की भाँति ही उन्हें विकास की सुविधाएँ प्रदान करनी होगी । उन्हें सरकारी सहायता और आरक्षण का लाभ देकर समाज की मुख्य धारा में शामिल किया जा सकता हैं आयोग ने 2399 जातियों की पहचान अन्य पिछडे वर्गो के रूप में की थी । जो भारत की कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत थी । आयोग ने प्रथम श्रेणी की सेवाओं में कम से कम 25 प्रतिशत तृतीय श्रेणी की सेवाओं को 33.5 प्रतिशत और तृतीय व चतुर्थ श्रेणी की सेवाओं में 40 प्रतिशत का आरक्षण इन वर्गीकृत जातियो को देने का प्रस्ताव रखा था । 1979 में द्वितीय पिछडा वर्ग आयोग का गठन किया । मंडल आयोग की सिफारिशों पर लम्बी चर्चा के बाद उस समय की सरकार ने उन्हें लागू करने का फैसला किया । और 10 अगस्त 1990 को एक सरकारी ज्ञापन जारी किया गया जिसमें अन्य पिछडा वर्ग को भारतीय सरकार के अन्तर्गत आने वाली सभी सेवाओं और पदों में 27 प्रतिशत आरक्षण देने का फैसला दिया गया । 28 जुलाई 2000 को आयोग का पुनर्गठित किया गया । राष्ट्रीय पिछडा वर्ग वित्त और विकास निगम का गठन 18 जनवरी 1992 को किया गया था इसका उद्देश्य गरीबी रेखा से नीचे (जो की ग्रामीण क्षेत्रों में 40 हजार रूपये और शहरी क्षेत्रों में 55 हजार रूपये से कम है । रहने बाले पिछडे वर्गो के लोगों को उनके सामाजिक आर्थिक हिकास के लिए रियायती दरो पर वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना है ।

स्त्रियों के संदर्भ में भारतीय समाज में दो प्रकार के दृष्टिकोण पाए जाते है । एक दृष्टिकोण समाज में स्त्री को पुरुषों के समकक्ष सम्मान एवं परिस्थिति दिलाने के पक्ष में है तो दूसरा दृष्टिकोण उन्हें पुरुष से निम्न दर्ज का मानता है अत: उन्हें अनेक अधिकारों से वंचित करने के पक्ष में है । प्रथम दृष्टिकोण बाले नारी को शक्ति ज्ञान और सम्पत्ति का प्रतीत मानते है, उसे दुर्गा, सरस्वती एवं लक्ष्मी के रूप में पूज्य मानते हैं नारी के प्रति दूसरा दृष्टिकोण नारी को समाज में पुरूषो के समान अधिकार दिलाने का विरोधी है । इसी कारण से समाज मे 'नारी को उत्पीडित किया जाता है । उसका शोषण एवं दमन होता है, उसके प्रति हिंसा बरती जाती हैं उसके साथ बलात्कार किया जाता है । उसे प्रतिशत किया जाता है, जलाया जाता है, पीटा जाता है और उसकी हत्या कर दी जाती है ।

वर्तमान में समाज शास्त्र में महिलाओं के बारे में अध्ययन में रूचि या विकास हुआ है रेडिकल समाजशास्त्री जो समाज के दलित एवं उपेक्षित वर्ग के अध्ययन में रूचि रखते है, भी महिलाओं के अध्ययन के प्रति काफी संवेदन शील है समाज सुधारकों राज्य सरकारी विश्वीद्यालयों एवं महाविद्यालयो में स्थापित महिला अध्ययन प्रकोष्ठों, मनोयोग विशेषज्ञों, अपराध शास्त्रियों, आदिने भी महिला अध्ययनों में रूचि दर्शायी है और महिलाओं से समेकित अनेक आयामों का अध्ययन किया जा रहा हैं । नारी सदैव से ही भारतीय समाज में एक कमजोर समूहो के रूप में जानी जाती रही हैं । इतिहास के विभिन्न स्त्रोतो से इनकी पीरीसार्ति का ज्ञान मिलता है तथा इनका निश्चित रूप से कहा जा सकता है । किसी युग में महिलाओ की स्थिति पुरूषो के समतुल्य नहीं थी । स्वतंत्रता से पूर्व मुस्लिम युग में आ कर नारी भोग की वस्तु के रूप में जानी जाने लगी । बल्कि शिशु बध, बालिका ब्रूण हत्या, सती, जौहर पर्दाप्रथा, बहुपत्नी बिशह, हरम जैसी कुप्रथाऐ अस्तित्व में आयी इस युग में नारी अज्ञानता अशिक्षा, जादू-टोने, अंध विश्वाश आदि का केन्द्र बन गयी । स्वतंत्रता प्राज़ि के पश्चात नारी परिस्थिति में सुधार के लिए बहुआयामी प्रयास किए गये जिसके अन्तर्गत सबैधानिक प्रावधान सामाजिक विधान, कल्याणकारी योजनाऐ ऋण की व्यवस्था जैसे प्रावधान शामिल हैं । इसके अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा, नगरीकरण, औद्योगिकरण, भूमण्डलीकरण आदि ने भी नारी की स्थिति को बेहतर बनाने में अपना योगदान किया है ।

वैधानिक दृष्टि से अनुसूचित जातियॉ वे समूह है जिनका नाम एक समय विशेष के लिए अनुसूचित जाति आदेश में उल्लेख किया गया है ।

15.2 अनुसूचित जाति का अर्थ

सामान्यतया: अनुसूचित जातिया को अस्पृश्य जातियॉ भी कहा जाता है । अत: इनकी परिभाषा अस्पृश्यता के आधार पर की गयी हैं साधारण अनुसूचित जाति का अर्थ उन जातियो से लगाया जाता है जिन्हें धार्मिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुविधाऐं दिलाने के लिए जिनका उल्लेख संविधान की अनुसूची में किया गया हे । इन्हें अछूत जातिके दलित वर्ग, बाहरी जातियॉ और हरिजन आदि नामों से भी पुकारा जाता हैं । हिन्दु समाज में कुछ अवस्थाओं या कार्यो को पवित्र एवं कुछ को अपवित्र समझा जाता रहा हैं । यही मनुष्य या पशु पक्षी के शरीर से निकले हुए पदार्थो से सम्बन्धित व्यवसाय में लगी जातियों को अपवित्र समझा गया और

इन्हें अस्पृश्य कहा गया । अस्पृश्यता समाज की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत समझी जाने बाली जातियों के व्यक्ति सग्र हिन्दुओं को स्पर्श नहीं कर सकते ।

एम.डी. देसाई, जी. पार्थसारथी, जी.डी. रामाराव बी.एस. मिन्हास एवं योगेश अटल आदि अर्थ शास्त्रियों एवं समाज शास्त्रियों ने कमजोर वर्ग को परिभाषित करने के लिए मुख्य रूप से आर्थिक सामाजिक मापदण्ड निधारित किया हैं । इन विद्वानो के अनुसार कमजोर या दुर्बल वर्ग के अन्तर्गत निम्नांकित विशेषताओं वाले व्यक्तियो को सम्मिलित किया जाता है!

1. वे व्यक्ति जो अपने जीवन की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकाताओं को पूरा न कर सके । भोजन करना, आवास तथा चिकित्सा की सुविधाएँ जुटाने में असमर्थ हो और उनकी आय निर्धनता रेखा () से बहुत नीचे हो ।
2. वे शक्ति जो मुख्यतया दैनिक मजदूरी पर ही आश्रित हो और वह भी अनियमित तथा ऋतुओं के परिवर्तन पर आश्रित हो ।
3. वे व्यक्ति जिनके उत्पादन में सक्रिय सहयोग प्रदान करने के उपरान्त भी निरन्तर श्रम का शोषण किया जाता रहा हो और जो अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण ग्रस्त हो ।
4. वे व्यक्ति जिनके पास इतनी लागत पूंजी भी नहीं है कि बे कच्चे माल तथा अन्य उत्पादित वस्तुओं को खरीद सके ।
5. लघु तथा सीमान्त कृषक जो सिंचाई आदि को सुविधाओं से वंचित हो ।
6. वे व्यक्ति जो मानवीय ऊर्जा (जिसमें परिवार के सदस्य ही कार्य करे)तथा पशु उर्जा के सहारे ही जीवन यापन करें ।

इन मापदण्डों के आधार पर अनुसूचित जनजातियों अनुसूचित जातियो, पिछडे वर्गो, लघु तथा सीमान्त कृषकों भूमिहीन मजदूरो बंधुआ मजदुरों एवं परम्परागत कारीगरो को कमजोर वर्ग के अन्तर्गत माना गया है ।

15.3 अनुसूचित जाति : प्रमुख समस्याएं

अस्पृश्यता का तात्पर्य है जो छूने योग्य नहीं है अस्पृश्यता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को छूने, देखने और छाया पड़ने मात्र से अपवित्र हो जाता है। स्वर्ण हिन्दुओं का अपवित्र होने से बचाने के 'लिये अस्पृश्य लोगों के कहने के लिए अलग से व्यवस्था की गयी । उन पर अनेक नियोग्यिताऐ लाद दी गयी और उनके सम्पर्क से बचने के कई उपाय किये गये । अस्पृश्य के अन्तर्गत दे जातीय समूह आते हैं जिनके छूने से अन्य व्यक्ति अपबत्रि हो जाये और जिनहें पुन: पवित्र होने के लिए कुछ विशेष संस्कार करने पड़े ।

डा. के.एन. शर्मा ने लिखा है, अस्पृश्य जातियाँ वे है । जिनके स्पर्श से एक वक्ति अपवित्र हो जाए और उसे पवित्र होने के लिए कृछ कृत्य करने पडे, आर.एन. सक्सेना ने लिखा है कि यदि ऐसे लोगों को अस्पृश्य माना जाय जिनके छूने से हिन्दुओं को शुद्धि करनी पडे । हट्टा ने प्रमुख निर्योग्याताओं का उल्लेख- किया है ।

(अ) उच्च स्थिति के ब्राह्मणों की सेवा प्राप्त करने के अयोग्य हो।

(ब) सवर्ण हिन्दुओ की सेवा करने वाले नाइयो कहारो तथा दर्जियो की सेवा. पाने के अयोग्य हो।

(स) हिन्दु मन्दिरों में प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों ।

(द) सार्वजनिक सुविधाओं (पाठशाला, सडक, तथा कुआ) को उपयोग मे लाने के अयोग्य हो।

(य) व्यक्ति पेशे से पृथक होने के अयोग्य हो ।

संविधान के अनुच्छेद 341 के अनुसार किया गया है । वर्ष 1981 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या 10.47 करोड थी जो बढकर 1991 में 13.82 करोड हो गई जो देश की कुल तत्कालीन जनसंख्या का । लगभग 16.48 प्रतिशत है । अनुसूचित जातियो की सर्वाधिक जनसंख्या उत्तरप्रदेश मे 'देश की कुल अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का 23.3 प्रतिशत हैं । इसके बाद पश्चिम बंगाल 11.4 प्रतिशत बिहार 9.6 प्रतिशत आन्ध्र प्रदेश 9.6 प्रतिशत तमिलनाडू 8.5 प्रतिशत मध्य प्रदेश 7 प्रीतीशत राजस्थान 5.6 प्रतिशत कर्नाटक 5.3 प्रतिशत पंजाब 4.3 प्रतिशत और महाराष्ट्र 4.3 प्रतिशत का स्थान है । इस प्रकार देश की कुल अनुसूचित जाति जनसंख्या 78.9 प्रतिशत भाग इन राज्यों में निकास करती है । लगभग 84 प्रतिशत अनुसूचित जातियों की जनसंख्या गावों में निवास करती है । जो खेती हार मजदूरों सीमान्त किसानो, खातेदारों के रूप में एवं साझे में खेती करके अपना जीवन यापन करती हैं लगभग 16 प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग नगरो में निवास करते हैं। अनुचित जाति की प्रमुख निर्योग्यताओं इस प्रकार :-

1. धार्मिक निर्योग्यताओं :-

1 मन्दिर प्रवेश व पवित्र स्थानों के उपयोग पर प्रतिबन्ध

2 धार्मिक सुख सुविधाओं से वंचित

3 धार्मिक संस्कारों के सम्पादन पर प्रतिबन्ध

2. सामाजिक निर्योग्यताएँ -

1 सामाजिक सम्पर्क पर रोक

2 सार्वजनिक वस्तुओं के उपयोग पर प्रतिबन्ध

3 शिक्षा और मनोरंजन संबंधी सुविधाओं से वंचित

4 अवश्य के भीतर की संस्तरण

5 अस्पृश्य एक पृथक समाज के रूप में

3. आर्थिक नियोग्यताए :-

1 व्यावसायिक निर्योग्यताओं

2 सम्पति सम्बन्धी निर्योग्यताओं

3 भरपेट भोज की सुविधा भी नहीं (आर्थिक शोषण)

15.4 आधुनिक भारत में अनुसूचित जाति में सामाजिक गतिशीलता

अब अनुसूचित जातियॉ और एक ही अनुसूचित जाति में विभिन्न शक्ति आर्थिक दृष्टि से समान स्तर पर नहीं हैं अत: इन सभी के साथ भूस्वामियों, जमीदारों, सम्पन्न लोगों एवं उच्च जातियों द्वारा समान रूप से कुव्यवहार एवं अत्याचार नहीं किए जाते । जाति अवस्था न केबल श्रम विभाजन के लिए बल्कि श्रमिकों को बांटने या उनको विभाजित करने के लिए उत्तरदायी है । अनुसूचित जातियों में साक्षरताके बढ जाने, उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने तथा अच्छी नौकरियों में आ जाने से सामाजिक गतिशीलता बढी है । उनमें जागरूकता भी आयी है । बे शोषण का विरोधकरती है । अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाती हैं । उच्च जातियाँ ऐसी जातियों के विरूद्ध हो जाती है । मौका आने पर उन पर अत्याचार भी करती है । जो अनुचित जातियाँ कुछ उपर उठी है पहले की तुलना में अच्छी स्थिति में है । उनसे उच्च जातियों के लोग प्रतिद्वन्दिता महसूस करते हैं । इसका कारण है कि इन्हीं जातियों के लोग अच्छी नौकरियों शक्ति के पद तथा उच्च स्थिति प्राप्त करने में उच्च जातियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करते है । जातियाँ दंगों के पीछे वर्ग युद्ध छिपा हुआ है ।

1 <u>जी.एस.घूरिये</u> ने अस्पृश्यता के दो कारण बताये है (1) ऊँच-नीच का भाव तथा जाति प्रथा में प्रचलित अनेक विषेघ बताये है । - धुरिये ने लिखा है कि पूना में मराठो के शासन काल में अस्पृश्य जातियाँ महार और मांग शहर के दरवाजों के भीतर शाम के तीन बजे से सवेरे के नौ बजे तक प्रविष्ट नहीं हो सकती थी, क्योंकि इस समय छाया बहुत लम्बी पडती है । और उससे उच्च ब्राह्मणों के दूषित होने का भय हैं महाराष्ट्र ने महार अपने गले में लटके एक मिट्टी के पात्र में थूक सकते थे, क्योंकि सडकों पर थूकने से वह किसी सवर्ण हिन्दु के पैर में लगकर उसे कलुषित कर सकता था । कई बार ब्रहमण्ड के महार वाले रास्ते से गुजरने पर माहेरो को कांटेदार पेड की टहनी से अपने गाव के निशान मिटाकर दूर लेट जाना पडता था ताकि उनकी छाया ब्राहम्ण पर न पड सके । मालाबार के शानदार को ब्राह्मण से 24 पग, तिया को 36 पग और सुलयन को 98 पग से अधिक दूरी पर रहना पडता था इन्होने माना है कि जातिगत छूत छूट की अस्पृश्यता का सबसे बडा कारण है । धुरिये ने बताया कि जिस प्रकार उच्च जातियो को कुछ अन्य जातियों के साथ विवाह सम्बन्ध करने, खानपान रखने तथा उठने बैठने के निषेध है उसी प्रकार अनेक गन्दा काम करने वाली जातियो के प्रति फेच नीच की भावना से उनके छूने और देखने तक का निषेध हो गया । ये ही जातियॉ अस्पृश्य तथा अछूत कहलाने लगी । इस प्रकार भारत में अस्पृश्यता बहुत कुछ जाति भेद पर आधारित हैं । अस्पृश्यता जाति प्रथा पर आधारित लंच नीच के भाव और सामाजिक निषेध का ही भंयकर परिणाम है ।

2 <u>सचिदानंद का शाहाबाद के चमारो का अध्यन :-</u> करते हुआ अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये है:- पटना से 50-60 कि0मी0 पश्चिम शाहाबाद जिले (वर्तमान भोजपुर) की निम्न जाति चमार, का अध्ययन किया तथा पाया कि आरक्षण का लाभ उठाकर निम्न जाति, सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में सफल रही ये लोग बडी संख्या में सरकारी नौकरियों में आए हैं । गावों में जमीने खरीदी, बच्चो के अच्छे विद्यालयों में नामांकन कराए आदि । सामाजिक गतिशीलता

प्राप्त निम्न जातियों को सीचदानन्द 'हरिजन अभिजन' कहते हैं इन्हें अब आसानी से माध्य वर्ग माना जा सकता है ।

3 <u>उडिला के बिलिपाडा जिले का अध्ययन</u> - एफ. जी. बेली इन्होने अपने अध्ययन में पाया कि पारंपरिक रूप से ताडी (स्थानीय शराब) बनाने बाली यह निम्न जाति, आगे चलकर शराब के आधुनिक व्यवसाय, से जुड गई, तथा धन अर्जित करने में सफल रही । कालांतर में इन्होने अपना शुद्धिकरण किया तथा क्षत्रिय होने का दाबा कर दिया । यह जाति क्षत्रियों में वैवाहिक संबंध स्थापित करने में भी सफल रही ।

4 <u>तंजौर की निम्न जातियो का अध्ययन कैथलीन गफ :-</u> इन्होने तंजौर जिला तमिलनाडू के कई गावों का अध्ययन किया तथा पाया कि निम्न जातियो संस्कृतिकरण या सांस्कृतिक शुद्धि के स्थान पर आर्थिक समृद्धि के रास्ते सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने को श्रेयस्कर तथा आसान मानती है ताकि सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में सफल भी हुई है ।

5 <u>श्रीपुर मैसूर का आद्रे बेले द्वारा किया गया अध्यान :-</u> इन्होने पाया कि परंपराओं से श्रीपुरम में ब्राह्मण सर्वोच्च स्थान पर तथा गैर ब्राहध्यण था द्रवित निम्न स्थान पर सामाजिक पद क्रम में थे । परन्तु दलित चेतना के उदय तथा निम्न जातियो (द्रविड) के आन्दोलन से स्थिति बदली । द्रदिड राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने में सफल हुए तथा ब्राहम्णो के प्रभु बको समाप्त किया ।

6 <u>उत्तर भारत में जाति गतिशीलता आन्दोलन बिलियन एम. रोब :-</u> इन्होने जनगणना 1891 से 1931 तक का अध्ययन किया ताकी उत्तर भारत में निम्न जातियों द्वारा अपनी जाति का नाम बदल कर सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने की प्रवृति देखी । इन्होने पाया कि जनगणना कमिश्नर को ऐसे अनगिनत पत्र प्राप्त होते थे, जिसमें उनकी नवीन जाति नाम का उल्लेख करने का आग्रह होता था जैसे:-

<u>पुरानी जाति</u>	<u>नवीन जाति</u>
1- लोहार	पांचाल ब्राहम्ण
2- बारिया कोली	ठाकुर
3- पुइजारा (धुनिया)	आनुक पठान
4- जुलाहा	पन्नी पठान
5- कुर्मी	कुशवाहा क्षत्रिय

7 <u>आगरा के जाटवों का अध्ययन</u>: ओबेन एम.लंच ने आगरा के जाटवो में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन किया:- इनके अनुसार जाटव आगरा के आसपास की एक निम्न जाति (चमार) है । जो मुख्यत: चर्म व्यवसाय से जुडे थे । आगरा शहर के विकास के क्रम में रोजगार के लिए आगरा आए । धीरे धीरे इनमें से कुछ सडक ठेकेदार बन गए । कालांतर में यह जाति समृद्ध हो गई । इन्होने निम्न व्यवसय का तयाग कर दिया, तथा सांस्कृतिक शुद्धता प्राप्त करने लगी । इन्होने मय को जाटव क्षात्रेय होने का दादा किया । इन पाठकों ने अस्पृश्यता की राजनीति से आगे बढ़ाया ।

8 मद्रास की शान जाति लायड रूडोल्फ - यह मद्रास की एक निम्न जाति है जिसका व्यवसाय ताडी (स्थानीय शराब) तथा गुड बनाना था । यह अस्पृश्य जाति थी तथा अनेक सामाजिक नियोग्यताओं की शिकार थी । 196. के दशक में इस जाति में एक नई चेतना आई तथा यह संगठित तथा आक्रामक हो गई । इन्होने अपने जाति तथा उपजाति के सदस्यों को नैतिक रूप से लामबंद किया तथा न सिर्फ राजनैतिक रूप में शक्तिशाली हुए, बल्कि इनकी जाति में नई सामाजिक व्यवस्था उभरी, उस पदक्रम में यह बेहतर स्थिति प्राप्त करने में सफल रहे । शीघ्र ही इन्होने स्वयं को क्षत्रिय होने का दाबा किया तथा जनेऊ धारण करने लगे ।

15.5 अनुसूचित जनजाति का अर्थ एवं अवधारणा

भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत अधिसूचित अनुसूची के अनुसार भारत में 500 से अधिक जनजातियाँ है (एक से अधिक राज्यों में बहुत सारे अति व्याप्ति समुदायों सहित) जो देशके विभिन्न राज्यो और केन्द्रशासित प्रदेशो में फैली हुई हैं 1951 में इनकी जनसंख्या लगभग 1 करोड 91 लाखरह गयी । इस कमी का कारण भारत का विभाजन है जिसके पीरणामस्वरूप कुछ जन जातीय क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये । 1961 में जनजातियो की जनंसख्या 2 करोड 99 लाख थी जो 1971 में 4.11 करोड हो गयी । 1981 की जनगणना के अनुसार भारत में जनजातीय जनसंख्या 5.16 करोड थी । जबकि 1991 में यह बएकर 6.78 करोड हो गयी । जनसंख्या की दृष्टि से भारत के विभिन्न प्रान्तों में असामानता पायी जाती है । मध्य प्रदेश में इनकी जनंसख्या सभी प्रानतो से अधिक हैं (1,53,99,089) उसके बाद महाराष्ट्र (73,18,281), उडीसा (70,32,214), बिहार (66,16,914) गुजरात (61,61,775) एवं राजस्थान (54,74,881) आते है । उत्तर प्रदेश, केरल एवं तमिलनाडू में इनकी संख्या कम है । देशके 5 राज्यो मिजोरम नागालैण्ड, मेघालय अरूणाचल एव त्रिपुरा की कुल जनसंख्याका 75 से 95 प्रतिशत तक भाग अनुसूचित जनजातियों का है ।

वर्ष 2001 की जनगणनानुसार देश में अनुसूचित जनजातियो के लोग की संख्या 8.43 करोड थी । जो देश की कुल जनसंख्या के 8.2 प्रतिशत हैं जनगणानुसार 1991 से 2001 के दौरान जनजातियो की जनसंख्या 24.45 प्रतिशत की दर से अनुसूचित, जनजातियो के बीच लिंगानुपात कुल जनसंख्या के लिंग अनुपात प्रति हाजर पुरूष 933 महिलाओंकी तुलना में बेहतर प्रति एक हजार पुरूष 977 महिलाएँ है अनुसूचित जनजातियो की साक्षरता दर 2882 प्रतिशत से बढकर 4710 प्रतिशत हो गई हैं ।

सुरजीत सिन्हा के अनुसार जाति तथा जनजाति दो अलग अलग अवधारणाऐ नहीं है, बल्कि इनमें निरन्तरता पायी जाती हैं जाति मे 'जनजाति के गणु, जनजाति में जाति के गुण देखे जा सकते हैं कही न कही तथा आन्द्रे बेते भी इससे सहमत हैं । वेबर मानते है कि जब जनजाति अपनी भौगोलिक सीमा खो 'देती है वह जनजाति जाति बन जाती है बही बते के अनुसार जब जनजातियाँ जातियो के सम्पर्क में आती है तो उन्हें जाति स्तरण में निम्न स्थान प्राप्त हो जाता है ।

डा. मजूमदार के अनुसार :- एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का संकलन होता है जिसका एक सामान्य नाम होता है जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग में रहते है, समान भाषा बोलते है और विवाह , व्यवसाय या उद्योग के विषय में निश्चित निषेघात्मक नियमों का पालन करते है और पारस्परिक कर्तव्यो की एक सुविकसित व्यवस्था को मानते हैं ।

जनजाति' एक ऐसा क्षेत्रीय मानव समूह है जिसकी एक सामान्य संस्कति, भाषा, राजनीतिक संगठन एवं व्यवसाय होता है ताकि जो सामान्यत: अन्नर्विवाह के नियमों का पालन करता है ।

15.6 अनुसूचित जनजातियों की समस्यायें

भारतीय जनजातियों संक्रमण के दौर से गुजर रही हैं । इस संक्रमण के दौरान जनजातियों में अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं भारतीय समाजशास्त्रियों ने जनजातियो की समस्याओं को अलग-अलग प्रकार से उल्लेखित किया है । धुरिये ने भारतीय जनजातियों की समस्याओं को प्रमुख तीन भागो में बाटा है:-

(1) उन जनजातियो की समस्याऐ जो हिन्दू समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुकी हैं और एकीकरण की लडाई सफलतापूर्वक लडक चुकी हैं जैसे राजगोड ।

(2) उन जनजातियो की समस्याऐं जिनका हिन्दुओं से सम्पर्क हुआ है और जिनका आशिक रूप से हिन्दूकरण हुआ है ।

(3) उन जनजातियो की समस्याए जो पहाडी क्षेत्रो में निकस करती है एवं जिन्होने परिवर्तन के प्रति विरोधप्रकट किया हो ।

अक्षय देसाई के अनुसार :- जनजातियों की समस्याओं को किसानो, कृषि, मजदूरो, कारीगरो एवं श्रमिकों के समान ही मानते है । इनकी अधिकांश समस्याएँ शोषण से सम्बन्धित है । दे उनकी मूल समस्याऐ आर्थिक ब राजनीतिक मानते है ।

मजूमदार एवं मदान - जनजातियो की समस्याओं को सम्पर्क एवं अलगाव के कारण जनित मानते है । ये समस्याऐं दो प्रकार की है - (1) कुछ ऐसी समस्याएं है जो जनजातीय लोगों एव देशके समूर्ण ग्रामीण लोगों में समान हैं इनमें सामाजिक आर्थिक समस्याऐ है, । जो. नदी भू-राजस्व नीतियो एवं। भू-अधिकार अवस्था के प्रभाव प्रतिबंधक बन नीति, सम्पूर्ण देश पर समान रूप से लागू दीवानी एवं फौजदारी कानूनों से उत्पन्न हुई है । गैर जन जातियो से सम्पर्क के कारण उत्पन्न समस्याएँ जैसे कर्ण भूमि हस्तान्तरण जमीदार एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा शोषण, आदि भी इसी कोटि की समस्याएँ है । (2) कुछ ऐसी समस्याऐ है जो जनजातीय लोगों तक ही सीमित है अर्थात इनकी विशिष्ट समस्याएँ है । जैसे स्थानान्तरित कृषि, अय, एवं भूशोषण के कारण उत्पन्न भूखमरी एवं अपही परम्परागत आर्थिक क्रियाओं का परित्याग आदि 15.8 अन्य पिछडा वर्ग का अर्थ एवं अभिप्राय

15.8 अन्य पिछड़ा वर्ग का अर्थ एवं अभिप्राय

पिछडे वर्ग हरिजनो और उच्च जातियो के बीच की जातियाँ है । पिछडे वर्ग पिछडे है क्योंकि ये शिक्षा, सरकारी सेवाओं व्यवसाओं और व्यापार आदि में पीछे रहे हैं भारतीय संविधान

में पिछडावर्ग उसे माना है जो सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछडा है । संविधानिक धारा 340 में भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह एक आयोग की नियुक्ति कर देश के विभिन्न भागों में स्थित पिछडे वर्ग की स्थिति का जायजा ले । अत: हम कह सकते है कि पिछडा वर्ग समाज का वह भाग है जो सामाजिक शैक्षणिक और आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ है जो मुख्यत: कृषि द्वारा जीवन यापन करता है इसमें प्रमुखत: बे जातियाँ सम्मिलित है जो अछूतो से उच्च एव ब्राह्मण से निम्न समझी जाती है । दूसरे शब्दो में इस वर्ग में मध्यम श्रेणी की जातियाँ आती है । पिछडापन व्यक्ति का नहीं वरन समूह का लक्षण हैं मण्डल आयोग ने पिछडेपन के तीन आधार (सूचक) माने सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक राजनीति कोष में पिछडे वर्ग को इस प्रकार परिभाषित किया गया है पिछडे हुए वर्ग का अभिप्राय समाज के उस वर्ग से है जो सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक निर्योग्यताओं के कारण समाज के अन्यवर्ग की तुलनामें नीचे स्तर पर हो ।

15.9 अन्य पिछडा वर्ग हेतु गठित आयोग

भारत ने पिछडे वर्गो की पहचान करने के लिए विभिन्न आयोगों की स्थापना की है । उनमे से प्रमुख निम्न लिखित है ।

काका कालेलकर आयोग-29 जनवरी सन् 1953 को राष्ट्रपति ने काका कालेलकर की अध्यक्षता मे एक आयोग की स्थापना की जो काका कालेलकर आयोग के नाम से जाना जाता है । यह पिछडे वर्गो से सम्बन्धित अखिल भारतीय स्तर का प्रथम आयोग था ।

आयोग ने पिछडे वर्ग के सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण हेतु अनेक सुझाव भी दिए आयोग ने पिछडेपन के निर्धारण की निम्नलिखित कसोटियाँ सुझायी है ।

(1) जाति संस्तरण में निम्न सामाजिक स्थिति

(2) शैक्षणिक प्रसार का अभाव

(3) राजकीय सेवा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व

(4) व्यापार और आयोग के क्षेत्र में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व

<u>मण्डल आयोग</u> - सन् 1977 के लोकसभा के चुनावों में जनता दल ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में पिछडे वर्ग के लिए सरकारी और शैक्षणिक सेवाओं में 25 से 33 प्रतिशत तक स्थानों के आरक्षण की बात कही थी । जब वह केन्द्र में आई तक में उसने बी पी मण्डल की अध्यक्षता में पिछडे वर्गो के लिए एक आयोग गठित किया जो मण्डल आयोग के नाम से जाना जाता है । इस आयोग ने पिछडे वर्गो के कल्याण के लिये कुछ सुझाव दिये ।

ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरूद्ध ज्योतिराव फूले का आन्दोलन

बम्बई में सन् 1873 में पिछडे वर्ग के लिए ज्योति राव फूले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की । इस समाज द्वारा संचालित आन्दोलनो में भाग लेने बाली मध्यम श्रेणी की जातियाँ जैसे बेली, कुनबी, सती और माली थी । इन्होने आम जनता के लिए दो पुस्तकें लिखी- सार्वजीनक सत्य धर्म एवं गुलामगिरी । ये पुस्तकें पिछडे वर्गो के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन गई । ज्योति राव फूले ने ब्राह्मणों के विरूद्ध एक सशक्त आन्दोलन चलाया । ब्राह्मणो के विरोधके साथ-साथ इस समाज ने स्त्री मुक्ति एवं शिक्षा समाज सेवा, महिला सुधार अनाथालय, तथा

लोगों में शिक्षा के प्रसार के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किए इन्होने सांस्कृतिक हिन्दूवाद का विरोधकिया । अत: उनके आन्दोलन को सांस्कृतिक क्रान्ति भी कहा जाता है । उनका आन्दोलन ब्राहम्ण के विरोध में था ।

15.10 स्त्रियों की सामाजिक स्थिति

सामाजिक संगठन में स्त्रियों की स्थिति समाज की दशा की परिचायक है । जिस समाज में स्त्रियों की दशा जितनी ही अधिक - गिरी हुई - होगी उसकी स्थिति जितनी ही नीची होगी वह समाज उतना ही अवनत माना जायेगा । समाज सामाजिक सम्बन्धो का तानाबाना है। इन सामाजिक सम्बन्धो में स्त्री पुरूष के सम्बन्ध सबसे अधिक व्यापक गहरे और स्थायी होते हैं । माता पत्नी प्रिया, मित्र बहन आदि विविध रूपो में स्त्री समाज में महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। व्यक्ति के सामाजीकरण में उसके स्त्री से सम्बन्ध का बडा महत्व है । महान व्यक्तियो पर उनकी माताओं का प्रभाव सर्ववदित हैं पत्नी के व्यक्तित्व का पति के व्यक्ति पर अवश्य प्रमाद पडता हैं प्रिया के रूपमें स्त्री ने समाज के इतिहासों को बदल दिया हैं । राजस्थान के इतिहास में वहन की राखी ने वह कार्य किया जो कि अन्य कोई भी तत्व नहीं कर सकता था । अत: हिन्दु सामाजिक संगठन तक स्त्रयों की स्थिति सदैव एक सी नही रही । स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन एक कभी अवनति । कभी आरोहण है कभी अवरोहणों। विभिन्न अध्ययनों से स्त्री की दशा की झलक मिलती है ।

15.13 सारांश

इस महत्वपूर्ण ईकाई में जाना कि भारत के पुरूष कमजोर वर्ग में किस-किस को शामिल किया गया हैं जाति तथा जनजाति समान होते हुए भी भिन्न अर्थ लिये हुए है । अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन-जाति अन्य पिछड़ा वर्ग में उन सभी समुदाय व व्यक्तियो को शामिल किया गया है जो सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक दृष्टि से पिछडी है तथा जिन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए सामाजिक संस्थाओं समाज सुधार कों राज्य सरकार तथा संवैधानिक प्रयास किये गये जिनके लिए कानूनों का सहारा लिया गया है । फिर भी यदि सफलता प्राप्त होती है तो विभिन्न प्रकार के अनेक आन्दोलनो का सहारा लिया जा रहा है जिससे कमजोर वर्ग को मुख्य धारा में लाया जा सके ।

15.14 शब्दावली

अनुसूचित जाति – ऐसी जातियाँ जिन्हें धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुविधायें दिलाने के लिए संविधान की अनुसूची में उल्लेख किया गया।

अस्पृश्यता – अस्पृश्यता एक ऐसी धारणा है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर को छुने, देखने और छाया पड़ने मात्र से अपवित्र हो जाता है । अर्थात जो छुने योग्य नहीं हो ।

अनुसूचित जनजाति – जनजाति एक क्षेत्रीय मानव समूह है जिसकी एक सामान्य संस्कृति, भाषा एवं व्यवसाय होता है तथा जो अन्तर्विवाही होते है ।

अन्य पिछडा वर्ग	–	समाज के उस वर्ग को जो सामाजिक आर्थिक ब शैक्षणिक दृष्टि से समाज के अन्य वर्गो की तुलना में नीचे स्तर पर हो ।
परिस्थिति	–	समाज में व्यक्ति को जो पद स्वत: अथवा प्रयासों द्वारा प्राप्त होते है उसे व्यक्ति की परिस्थिति कहते है ।

15.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 अनुसूचित जाति से आप क्या समझते है । इसकी निर्योग्यताये बताइये ।

2 अनुसूचित जनजाति का अर्थ बताते हुए इनकी दशा सुधारने के लिए प्रमुख आन्दोलन बताइये ।

3 अन्य पिछडा वर्ग का अर्थ तथा परिभाषा दीजिए ।

4 महिलाओं की दशा सुधारने के लिए किए गए प्रयास बताइये ।

15.16 संदर्भ ग्रन्थ

1 D.N.Majumdar, Race and Cultures of India

2 डा आर. एन. सक्सेना - भारतीय समाज एंव सामाजिक[जेल संस्थाऐं

इकाई 16

महिला अध्ययन

इकाई को रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 अध्ययन के उपागम
16.3 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं महिला-प्रस्थिति
16.4 महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करने वाले कारक
16.5 महिलाओं की स्थिति को परिवर्तित करने वाले कारक
16.6 आर्थिक परिप्रेक्ष्य
16.7 महिलाओं के अधिकार
16.8 भारत में नारी प्रगति की वास्तविकताएं
16.9 उपचार
16.10 सारांश
16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.12 संदर्भ ग्रंथ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- महिला अध्ययन के उपागम की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं महिला की प्रस्थिति के बारे में समझ सकेंगे ।
- महिलाओं की निम्न स्थिति के कारक जान सकेंगे ।
- महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन लाने वाले कारकों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- महिलाओं के अधिकार और इनके प्रति चेतना के बारे में समझ सकेंगे ।
- महिलाओं की वास्तविक स्थिति जान सकेंगे ।

16.1 प्रस्तावना

प्रारम्भ से ही समाज शास्त्री एवं गैर समाजशस्त्रि महिलाओं से सम्बधित समस्याओं पर अध्ययन कर रहे हैं । महिला एवं पुरुष दोनो ही समाज की केन्द्रीय ईकाइयां हैं पुरुष प्रधान समाज में पुरूष के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है महिला विकास की दौड़ में पीछे रह जाती हैं भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही समूह के रूप में स्त्रियों पर पुरुषों ने प्रभुत्व जमाया है और समाज व परिवार में उनकी स्थिति निम्न रखी है 1930 और 1940 के दशकों में सामाजिक राजनैतिक नेताओं की समानता के लिए प्रतिबद्धता ने भारतीय महिलाओं के उदार समतावादी मूल्यों के लिए किए जा रहे आन्दोलन को प्रभावित किया ।

16.2 अध्ययन के उपागम

आज भारत में स्त्रियों की क्या स्थिति है? उनकी स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण कैसे करते है? स्त्रियों की स्थिति के मूल्यांकन में निम्न पाँच विधियों का प्रमुख रूप से प्रयोग किया गया है

एतिहासिक विधि (Historical Method)

यह विधि प्राचीन समाज में तथा उसके मध्यकाल व वर्तमान काल में चिरस्थायित्व पर केन्द्रित करती है । समाज वैज्ञानिक, महिलाओं की स्थिति के बारे में मुख्य निष्कर्ष प्रमुख इतिहासकारों और दार्शनिकों, जैसे, अल्टेकर, इन्द्रा, दास और कर्वे आदि के लेखों से निकालते है । कुछ विद्वानों का विश्वास है कि धर्मग्रन्थों तथा अतीत के उपलब्ध अभिलेखों से केवल उदाहरण प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं है । अत: इससे मिथ्या निष्कर्ष या फिर अतिशयोक्तियाँ निकल सकते है । वे समाजशास्त्री जिन्हें परिकल्पना निगमन विधि (Hypothetico - deductive method) द्वारा अवव्याख्यावादी विधियों (Reductionist procedures) में दक्षता प्राप्त है, वे भी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य मानते हैं ।

आनुभविक वैयक्तिक अध्ययन विधि (Non-Empirical Case Study Method)

इस विधि में स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण पितृसत्तातक (patriarchy) सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में किया जाता है, या फिर यौन असमानता और स्त्रियों की स्थिति के बीच सम्बन्ध के आधार पर । स्त्रियों के निम्न स्तर की व्याख्या का आधार पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर प्रभुत्व रहा है जो इतिहास सिद्ध भी है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी मान्य है ।

अन्त: व्यक्तिगत शक्ति के मूल्यांकन की अनुभावक विधि (Empirical Method of Assessing Inter -personal Power) :

यह विधि स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व का अध्ययन करती है, किन्तु उस पितृ सतात्मक अवस्था से पृथक जिसका कि यह एक भाग है । इस विधि की मान्यता है कि समस्या (निम्न स्थिति की/शोषण की/अधिकारी के बचना की) स्त्रियों पर प्रभुत्व की है और इसका समाधान इसके विरुद्ध संघर्ष में निहित है । इस अनुसंधान ने सामाजिक स्तर पर संरचनात्मक असमानता पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि परिवार के भीतर ही असमानता एवं शक्ति संतुलन पर किया है । इस विधि में स्त्रियों की उच्च स्थिति का समंक समतावादी निर्णय करने से है तथा निम्न स्थिति का संबंध गैर समतावादी निर्णय से । आनुभाविक अध्ययन से विविध समुदायों, वर्ग एव श्रेणियों की उन स्त्रियों के साथ गहन साक्षात्कार सम्मिलित हैं, जिन (स्त्रियो) को अपने पतियों तथा ससुराल वालों के विविध व्यवहारों का अनुभव है । यद्यपि यह आनुभाविक अनुसन्धान विधि स्त्रियों की स्थिति तथा पतियों के प्रभुत्व के बीच के सम्बन्धों पर मूल्यवान साक्ष्य प्रस्तुत करती है, परन्तु इसका केन्द्र-बिन्दु बहुत सीमित है तथा यह समाज में स्त्रियों की सामान्य स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करती । वह पितृ सतात्मक, सामाजिक व

सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें परिवार फंसा रहता है तथा जिनमें वैवाहिक सम्बन्धों की भूमिका चलती रहती है, की अनदेखी की गई है ।

नारीवादी मात्रामूलक अनुसन्धान विधि (Feminist Quantative Researech Method)

इस आनुभविक विधि में स्त्रियों की स्थिति की तुलना पुरुष की स्थिति से महत्वपूर्ण आयामों में की गई है । केर्स्टी इलो (Kersti Yllo 1980) के अनुसार इस प्रकार के आयाम आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक तथा वैधानिक भी हो सकते है अलग-अलग मद (item) सूची (index) में प्रत्येक चारों आयामों के लिए तथा सम्पूर्ण सूची के लिए मिश्रित कर दिए जाते है। ये सूचियाँ सर्वाधिक (most) से 'न्यूनतम' (least) समानता के लिए पद क्रम प्रदान करती है।

आनुभवित मात्रामूलक और गुणात्मक प्रश्नावली विधि (Empirical Quantitaive and Qualitative Questionnaire Method)

इस विधि में परिवार से बाहर तथा भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा उत्तरदाता से व्यवहार था विशेषाधिकार विषयक चुने हुए मदों पर प्रश्न पूछे जाते है । गुणात्मक विश्लेषण के लिए मात्र मूलक आँकडों का प्रयोग किया जाता है । यह उपागम अवधारनाओं (concept). परिकल्पनाओं, तथा सिद्धान्तों की खोज में प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त स्त्रियों की वर्तमान स्थिति के मूल्यांकन के तीन सैद्धान्तिक प्रस्तावों का प्रयोग भी (स्त्रियों के अधिकारों पर) किया जाता है । यह है: उदारवादी नारीवाद (Liberal feminism), मार्क्सवाद नारीवाद (Marxist Feminism) तथा आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (Radical feminism) उदारवादी नारीवाद लिंग समानता (gender equality) अर्थात् स्त्री पुरुषों के समान अधिकार में विश्वास रखता है । यह एक लिंग का दूसरे के अधीन मानने की धारणा को अस्वीकार करता है अथवा स्त्रियों को मानव (human-beings) मानने के स्थान पर यौन वस्तु नहीं मानता। फिर भी यह विचार लिंग के आधार पर श्रम- विभाजन को चुनौती नहीं देता। इस विचार के अनुसार स्त्री घरेलू काम-काज तथा पुरुष बाहरी काम काज के लिए ही सर्वथा उपयुक्त है ।

एंजिल की मान्यता थी कि स्त्री पराधीनता निजी सम्पत्ति के उदय तथा उत्पादन के साधनो के स्वामित्व का प्रतिफल है । पुरुष के असमान स्त्री का कार्य 'उपयोग' (use) मूल्य तो रखता है, लेकिन उसका 'आदान-प्रदान (exchange) मूल्य नहीं होता। इसलिए पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्ति का स्वामी होता है या फिर इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री का दमन उसके मुफ्त में किए गए गृहकार्य के कारण किया जाता है । आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (redical feminism) यद्यपि यौन समानता में विश्वास रखता है तथापि यह श्रम के परम्परागत विभाजन को अस्वीकार करता है । इसकी मान्यता है कि लिंग भूमिका न केवल जैविका कारकों का फल है, बल्कि यह संस्कृति का भी फल है । यह विचारधारा मुक्त यौन एवं माता-पिता द्वारा बच्चों की संयुक्त देखभाल में विश्वास रखती है । इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में जब मार्क्सवादियों ने स्त्रियों के प्रश्न पर वाद-विवाद को निश्चित मोड प्रदान किया (कि स्त्रियों का दमन उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की विशेषता है), अब वे अधिक मानवतावादी

दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत कर रहे है । इसके अतिरिक्त समकालीन नारीवाद (मार्क्सवादी अथवा परिवर्तनवादी) का उदय नव वामपंथ छमू स्मजिद्ध तथा 1960 के दशक के छात्र आन्दोलन का प्रतिफल है ।

16.3 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं महिला-प्रस्थिति

प्राचीन भारत में स्त्रियां (Women In Ancient India) :

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति से संबंधित दो विचार सम्प्रदाय मिलते हैं एक सम्प्रदाय का कहना है कि स्त्रियों "पुरुषों के बराबर" थी, जबकि दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्त्रियों का न केवल अपमान ही होता था बल्कि उनके प्रति घृणा भी की जाती थी। दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि में धार्मिक साहित्य से उदाहरण दिए है । आपस्तम्ब ने निर्दिष्ट किया था: 'जब स्त्री रास्ते में जो रही हो तो सभी उसे रास्ता दें" । हम जिनका सम्मान करते है उनके साथ यही व्यवहार करते हैं, अत: यह दर्शाता है कि स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। मनु ने कहा था: "जहाँ स्त्रियों की दुर्दशा होती है वहाँ सम्पूर्ण परिवार विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ वे सुखी है वहाँ परिवार सदैव समृद्धि को प्राप्त करता है ।" याज्ञवल्क ने भी कहा है: 'स्तियाँ पृथ्वी पर समस्त दैवीय गुणों का प्रतीक है: सोम ने अपनी समस्त पवित्रता उन्हें प्रदान की है, गान्धर्व ने मृदु वाणी, तथा अग्नि ने उन्हें अत्यन्त आकर्षक बनाने के लिए अपनी समस्त चमक उन पर न्योछावर कर दी है । " स्त्रियों के विषय में इतने ऊंचे आदर्श रामायण एवं महाभारत में भी स्थान-स्थान पर दोहराए गए हैं । महाभारत काल में स्त्रियों न केवल गृहस्थ जीवन का केन्द्र थी बल्कि समस्त सामाजिक संगठन की आधार-बिन्दु थी । ऐसी आशा की जाती थी कि पुरुष अपनी पत्नी की इच्छा के आगे नत होगा तथा उसकी सेवा व पूजा करेगा ।

यह चित्र का एक पक्ष है । इसका दूसरा पक्ष भी है । स्त्रियों को कमजोर मनवाली मानकर उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता था । उन्हें पुरुषों की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता था तथा उनके लिए सन्तान प्राप्ति का साधन भी । महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है: ' 'स्त्रियों से अधिक पाप की अन्य कोई वस्तु नहीं है: "स्त्री सभी बुराइयों की जड है ।" कोई भी अन्य जीवधारी इतना पापी नहीं होता जितनी स्त्री । स्त्री प्रज्वलित ज्वाला है । वह माया रचित एक भ्रम है, वह उस्तरे की तेज धार है, वह अग्नि है' ' (Indra 1951: 12-13) । रामायण में कहा गया है कि, "स्त्रियों के मुख पुरुषों की भाँति हैं, उनके शब्द मुख की बून्दों की भाँति हैं, किन्तु उनके मनतेज उस्तरे की भाँति है उनके मन की थाह किसी को नहीं हो सकती है । " जिस प्रकार मनु स्त्रियों को आधिपत्य की वस्तु मानना चाहते थे तथा जिस प्रकार युधिष्ठिर द्वारा धूत क्रीड़ा में द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया था, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में स्त्रियों को गुलाम तथा मूल्यवान प्रतिभूति (chattel) ही माना जाता था ।

उपरोक्त सन्दर्भित उदाहरणों को समाज में स्त्रियों की सही स्थिति बताने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता । कथन पृथक सन्दर्भो में दिए गये थे । यदि भीष्म

ने कहा था, "पति को चाहिए कि वह पत्नी को सम्पत्ति के रूप में समझे ', यदि भगवान राम ने कहा था "मैं अपना समस्त राज्य उत्तराधिकार, यहां तक कि अपनी पत्नी और सभी मूल्यों को भरत को स्वेच्छा से प्रदान कर सकता हूँ", तो यह सब केवल प्रसंग या ही कहा गया था । स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकारों के प्रकाश में विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है । "

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल (Vedic and Post-Vedic Periods) :

सामाजिक क्षेत्र में - वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति का निर्धारण इस तथ्य से किया जा सकता है कि उनको कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा उन पर किस सीमा तक प्रतिबन्ध लगे हुए थे । वैदिक तथा रामायण-महाभारत (महाकाव्य) काल में स्त्रियाँ कभी भी पर्दा नहीं करती थीं । उन्हें अपने जीवन साथी के वरण में स्वतंत्राता प्राप्त थी । वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थी । विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी, यद्यपि विवाह-विच्छेद की अनुमति उन्हें प्राप्त नहीं थी । पुरुषों को भी यह अनुमति प्राप्त नहीं थी । घर में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और उन्हें अर्द्धागिनी माना जाता था । महाभारत में कहा गया था, "मृदु भाषी पत्नियाँ सुख में अपने पति की मित्रा होती हैं, धार्मिक कृत्यों के समय वे उनके पिता के समान होती है तथा दुःख कष्ट के समय वे उनकी माता के समान होती है ।" गृहस्थ जीवन में स्त्रियाँ सर्वोपरि होती थी । इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पूर्णरूपेण असहायों की स्थिति नहीं थी बल्कि उनकी स्थिति एक ऐसे व्यक्ति की तरह थी जो न्याय एवं औचित्य से प्रेरित थी ।

आर्थिक क्षेत्र में - आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थीं वे न कहीं नौकरी करती थी और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था । घर उत्पादन का केन्द्र था: वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था । स्त्रियां कृषि कार्यो में भी अपने पति की सहायता करती थी । कुछ स्त्रियॉ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं ।

सम्पति के उत्तराधिकारी के विषय के स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे । यद्यपि पुत्री के रूप में स्त्रियों का अपने पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं होता था, फिर भी प्रत्येक अविवाहित पुत्री को अपने भाइयों को मिलने वाले पितृ धन का एक चौथाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था । मृत्यु के पश्चात् माँ की सम्पत्ति पुत्रों और अविवाहित पुत्रियों में समान रूप से बांटी जाती थी । विवाहित पुत्रियों को केवल सम्मान स्वरूप थोड़ा ही भाग मिलता था । स्त्रीधन की उत्तराधिकारी केवल अविवाहित पुत्रीयाँ होती थी । पत्नी के रूप में स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं होता था । परन्तु परित्यक्ता को अपने पति के धन का एक तिहाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था । यदि पत्नी गरीब होती थी तो पति उसके भरण पोषण के लिए गुजारा भत्ता देने के लिए बाध्य था । किन्तु यदि सम्पत्ति का बंटवारा पति के जीवन काल में ही हो गया होता तो पत्नी को पुत्रो के बराबर का भाग मिलता था । विधवा स्त्री को संयमी व वैरागी जीवन व्यतीत करना पडता था । अत: उसे अपने पति को सम्पत्ति से कोई भाग देय नहीं होता था । विधवा माँ के रूप में उसे कुछ अधिकार थे । इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि स्त्रियों के साथ सम्पत्ति में अधिकार के

विषय में पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता था, फिर भी पत्नी और पुत्री के रूप में उन्हें कुछ संरक्षण प्राप्त था ।

राजनैतिक क्षेत्र में - स्त्रियो की राजनैतिक स्थिति देश में राजनैतिक दशा एवं विधामान राजनैतिक प्रणाली पर निर्भर करती है । प्राचीन भारत में राजनैतिक प्रणाली राजतंत्र पर आधारित थी । इसलिए विधान सभा, राजनैतिक दल, कूटनीतिक सम्बन्ध, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आदि नहीं थे । ऐसी परिस्थितियों में स्त्रियों को मताधिकार या चुनाव लड़ने की स्वतंत्राता का प्रश्न ही नहीं उठता था । स्त्रायों को सभाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं थी क्योंकि इन स्थानों का प्रयोग राजनैतिक विचार-विमर्श के अलावा जुआ तथा मधमान आदि 'के लिए भी किया जाता था । कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य हैं जबकि स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध स्थल में जाती थीं, जैसे रामायण में कैकयी का युद्ध में जाना । मैगस्थनीज ने चन्द्रगुपा मौर्य के महल में सशस्त्र महिला अंगरक्षकों का संदर्भ दिया है: कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र में सशस्त्र महिला अंग रक्षकों की बात कही है जो तीर कमान से सुसज्जित सैनिकों के रूप में होती थी । अत: जब पुरुषों को ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे तब स्त्रियों की अपनी अलग से राजनैतिक प्रस्थिति कैसे हो सकती थी ।

धार्मिक क्षेत्र में - धार्मिक क्षेत्र में पत्नी समस्त अधिकारों का उपभोग करती थी तथा नियमित रूप से अपने पति के साथ समस्त धार्मिक कृत्यों व संस्कारों में भाग लेती थी । वास्तव में, धार्मिक कृत्य तब तक अपूर्ण माना जाता था जब तक पत्नी उसमें भाग नहीं लेती थी । स्त्रियाँ धार्मिक वार्तालापों में सक्रिय रूप से भाग लेतीं थी । वैज्ञानिक धार्मिक सिद्धान्तों एवं रीतियों के संहिताकरण करने हेतु जनक जैसे राजाओं द्वारा आयोजित विश्व की अनोखी धर्मी एवं सम्प्रदायों के सम्मेलनों में गार्गी, ब्राह्यकदिनी, वाचारूबी जैसी विदूषी महिलाओं का भाग लेना एवं पुरुषों का साथ शास्त्रर्थ करना इस सत्य का धोतक है कि प्राचीन भारत में स्त्रायों का धार्मिक क्षेत्र में उच्च स्थान था । जैमिनी की पूर्व मीमांसा में जिसकी टीका सबर स्वामी ने लिखी, वर्णित है कि उच्चतम धार्मिक संस्कारों में स्त्री पुरुष की भागीदारी बराबर की होती थी । हेमाद्रि ने शिक्षित अविवाहित कन्याओं (कुमारी) को विदूषी कहा है और बताया कि ऐसी कन्याओं का विवाह बराबर के शिक्षित वर, जिसे मनीषी कहते थे, से ही किया जाना चाहिए (Radha Kumud Mukherjee,1957 and 1990 :6)

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में जा सकता है कि वैदिक भारत में स्त्रायों की स्थिति निम्न नहीं थी सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रतें में उनके अधिकार सीमित थे । उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था ।

पौराणिक काल में स्त्रियां (Women in the Puranic Period) :

पौराणिक काल में स्त्रायों की स्थिति में कमी आयी । (हिन्दू समाज में धार्मिक ग्रन्थों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार से है: वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह-सूत्रा, धर्मशास्त्रा स्मृतियाँ, रामायण व महाभारत और पुराण) । सामाजिक क्षेत्र में, पूर्व यौन परिपक्व (Pre-Puberty) विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, विधवा विवाह का निषेध होने लगा, पति को स्त्री के लिए

भगवान का स्तर दिया जाने लगा, स्त्रियों के लिए शिक्षा का पूर्ण निषेध प्रारम्भ हुआ, सती प्रथा प्रचलन में आई, पर्दा प्रथा प्रारम्भ हुई, तथा बहुपत्नी प्रथा व्यवहार में स्वीकार की जाने लगी । 'एक पत्नी और गुलाम सम्पति के अधिकारी नहीं होते, मान्यता के आधार पर स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में भाग से वंचित कर दिया गया । धार्मिक क्षेत्र में स्त्री को बलिदान भैंट करने से, प्रार्थना से, हट योग से तथा तीर्थ यात्रा करने से भी वंचित कर दिया गया ।"

प्रभाती मुकर्जी (Man in the India july-Sept.1964:267) ने पौराणिक काल में स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारणों को बताते हुए अल्टेकर (1938) विन्टरनिज (1 920), मित्तर और चौधरी (1956) को उद्दत किया है । ये कारण है: सम्पूर्ण समाज पर ब्राह्मणों द्वारा थोपे गए संयमों के कारण, जाति प्रथा द्वारा लगाए प्रतिबन्धों के कारण, संयुक्त परिवार के कारण, स्त्रियों के लिए शिक्षा की कम सुविधाओं के कारण, आर्य परिवार में गैर-आर्य पत्नी का प्रवेश, तथा विदेशी आक्रमणों के कारण ।

बौद्ध काल में स्त्रियाँ (Women in the Buddhist Period) _

बौद्ध धर्म का उदय हिन्दूवाद पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ । ब्राह्मण तथा पुराणों के काल में स्त्रियों पर अनेक अन्यायपूर्ण एवं अनुचित सामाजिक निषेध थोप दिए गए, जैसे पूर्व यौन परिपक्वता विवाह, शिक्षा के अधिकार से वंचित करना, जीवन साथी चुनने का अधिकार न देना, धार्मिक विचार विमर्श मं भाग लेने की अनुमति न होना, आदि । बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ । धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों को स्पष्ट रूप से उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ । उनका अपना संघ बना जिसे भिक्षुणी संघ कहा गया । इस संघ के भी वही नियम निर्देश थे जो 'भिक्षुओं के थे । संघ ने स्त्रियों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों, समाज सेवा तथा सार्वजनिक जीवन में अनेक स्थलों पर भाग लेने के अवसर प्रदान किए । सामाजिक क्षेत्र में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ, यद्यपि उनकी आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।

मध्य काल में स्त्रियां (Woman in the Medieval Period) :

भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण आठवीं शताब्दी में हुआ, इस काल में शंकराचार्य जीवित थे शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दू समाज बढ़ते हुए बौद्ध धर्म का सामना करने की विधियाँ खोजने में अस्त था । शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से वेदों की उत्कृष्ठता (supremacy) पर पुन: बल दिया और वेदों में स्त्रियों को समानता का अधिकार प्राप्त था । ग्यारहवीं शताब्दी में पुन: महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की । इस काल के पश्चात अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जब ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, अथवा लगभग 700 वर्षा तक, सामाजिक संस्थाओं का विखण्ड, परम्परागत राजनैतिक संरचना में उथल-पुथल, बडी संख्या में लोगों का प्रवासन, तथा देश में आर्थिक मन्दी, आदि ने देश में सामाजिक जीवन में, विशेष रूप से महिलाओं के पतन में, योगदान किया । पर्दा प्रथा इस सीमा तक बढ गई कि स्त्रियों के लिए कठोर एकान्त तक नियम ही बन गया । इस निम्न स्थिति के कई कारण हैं जो निम्न है -

16.4 महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करने वाले कारक

ब्राह्मणवाद (Brahmanism) : कुछ विद्वानों के अनुसार हिन्दू धर्म या ब्राह्मणवाद स्त्रियों की इस निम्न स्थिति का मुख्य कारण है क्योंकि उपनिषद् काल के बाद ब्रह्माणों ने जो सामाजिक व धार्मिक नियम बनाए उनमें स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों की अपेक्षा गौण माना गया और धीरे-धीरे उनके अधिकारों को छीन लिया गया । मनु ने पति को गुरु बताया और स्त्रियों का धर्म केवल पति की सेवा बताया । मुसलमानों के राज्य की स्थापना के बाद ब्राह्मणवाद ने एक नया रूप लिया । मुसलमानों के पास स्त्रियों की कमी थी, इस कारण हिन्दु स्त्रियों से विवाह करने में उन्हें कोई संकोच न था । हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए, अर्थात मुसलमान हिन्दू स्त्रियों से विवाह न कर सकें, इस उद्देश्य से ब्राह्मणों ने विवाह-सम्बन्धी नियमों को अत्याधिक कठोर बनाया । एक ओर बाल-विवाह को प्रोत्साहित किया ओर दूसरी ओर विधवा-पुनर्वीवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया । साथ ही पर्दा-प्रथा को लाग किया गया और सतीत्व के आदर्श को ऊँचा किया गया । इन सब कारणों से स्त्रियों की दशा गिरती ही चली गई क्योंकि धीरे-धीरे स्त्रियों ने भी ब्राह्मणों के इन आदर्शो को अपने जीवन में लागू करने में ही भलाई समझी ।

स्त्रियों की आर्थिक पराधिनता (Economic dependency of woman) : प्राचीन काल से ही पत्नी भरण-पोषण के लिए अपने पति पर निर्भर रही है, इसीलिए पति 'भर्ता कहलाता है । इसका मुख्य कारण यह है कि सदैव ही स्त्रियों का घर से बाहर जाकर नौकरी करना पारिवारिक सम्मान के विरुद्ध समझा जाता था । अत: आर्थिक मामलों में स्त्रियों को अपने पति पर ही निर्भर रहना पडता था, जिसके कारण उन पर पुरुषों की प्रभुता अवश्यम्भावी थी । वास्तव में इसी अर्थिक निर्भरता के करण भी स्त्रियों की स्थिति अति निम्न थी ।

परिवार का पितृसत्तात्मक स्वरूप (Practical form of family) : आरम्भ से हिन्दू परिवारों का पितृसतात्मक स्वरूप रहा है । पारिवारिक मामलों में तथा सम्पत्ति के विषय में सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है और वह ही परिवार को नियीन्त्रात तथा संगठित करता है । परिवार के इस स्वरूप से ही स्पष्ट है कि ऐसे परिवारों में पुरुषों की स्थिति की अपेक्षा स्वत: ही अधिक ऊँची होगी ।

कन्यादान का आदर्श (Ideal of Kanyadan) : प्रारम्भ में ही हिन्दू विवाह में कन्यादान के आदर्श को स्वीकार किया गया था । पिता को अपनी इच्छा से चुने हुए हर को अपनी कन्या को दान करना होता था । पिता या अभिभावक द्वारा दिया गया दान भी इस बात का द्योतक है कि पत्नी पर पति की प्रभुता होगी ।

कुलीन-विवाह (Hypergamy) : कुलीन -विवाह-प्रथा भी स्त्रियों की निम्न स्थिति होने का मुख्य कारण है । इस प्रथा के अन्तर्गत लडकी का विवाह अपने बराबर या उँचे कुलों में ही करना होता है जबकि लडकी को अपने से नीचे कुलों में विवाह करने की छूट है । इस प्रथा के कारण प्रत्येक पिता या अभिभावक अपनी लडकी का विवाह ऊँचे-से ऊँचे कुल में करना चाहता है जिससे कि ऊँचे कुलों के लडकों को प्राप्त करने के लिए लोगों में आपस में प्रतियोगिता-सी होने

लगती है । यह प्रतियोगिता प्राय: कटु रूप धारण कर लेती है और इस दौड़ में सामान्य दर्ज के माता-पिता को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पडता है । फलत: लड़कियों के जन्म से ही लोग सामान्यत: घबराने लगते हैं । यह भावना भी स्त्रियों की स्थिति को नीचे गिराती

बाल-विवाह (Child marriage) : स्त्रियों की निम्न स्थिति का एक महत्वपूर्ण कारण हिन्दुओं में बाल-विवाह-प्रथा का अत्याधिक प्रचलन था । कम उम्र में विवाह होने के कारण एक ओर तो वे शिक्षा प्राप्त करने में असफल रहती थी, दूसरी ओर पति उन पर सरलता से ही अपनी प्रभुता जमा लेने में सफल होते थे । इससे स्त्रियों की स्थिति स्वत: ही गिरती गई ।

संयुक्त परिवार-प्रणाली (Joint family system) : पणिक्कर के अनुसार स्त्रियों की सामाजिक स्थिति संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण भी निम्न है । इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत स्त्रियों को कोई भी अधिकार नहीं मिला हुआ होता है । पुरुषों को ही सम्पत्ति-सम्बन्धी और अन्य सामाजिक अधिकार मिले होते हैं । स्त्रियों को दब-ढककर रखना पारिवारिक सम्मान समझा जाता है । बाल-विवाह करके कन्यादान का पुण्य प्राप्त किया जाता हैं । ये सभी बातें स्त्रियों की स्थिति को नीचा गिराने में सहायक होती है ।

अशिक्षा (Illiteracy) : मध्यकाल के बाद से हिन्दू स्त्रियों को शिक्षा देना अनावश्यक समझा जाना था । इस अशिक्षा के कारण स्त्रियों में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में कोई जागरूकता उत्पन्न नहीं हो पाई अपितु वे अनेक अन्धविश्वास, कुसंस्कार और सामाजिक परम्पराओं में इस प्रकार जकड़ गई कि उनसे उनका पीछा छुड़ाना स्वयं ही एक समस्या हो गया । बचपन से ही स्त्रियॉ पितृगृह में और पतिगृह में, पति को देवता समझने और पूजने के उपदेश सुनती थी और घर की ही चारदीवारी के बीच रहकर सबकी सेवा करते हुए जीवन बिता देने को ही आदर्श कार्य मानती थी- यही एकमात्रा शिक्षा हिन्दू स्त्रियों को मिलती थी, इसी शिक्षा में उनका लालन-पालन होता था । दो सहस्राब्दियों से हिन्दू नारी इसी परम्परा में पल रही है जोकि उसकी निम्न स्थिति का एक सुदृढ़ कारण बन गया । पन्द्रहवीं शताब्दी में स्थिति में कुछ परिवर्तन आया । इसी अवधि में रामानुजाचार्य ने प्रथम भक्ति आन्दोलन का आयोजन किया, जिसने भारत की स्त्रियों के धार्मिक व सामाजिक जीवन में नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया । चैतन्य, नानक, मीरा, कबीर, रामदास, तुलसी व तुकाराम जैसे सन्तों ने स्त्रियों के लिए धार्मिक पूजा/अर्चना का सबल पक्ष प्रस्तुत किया । यद्यपि उनकी (भक्तों को) स्त्रियों की धार्मिक स्वतंत्रता के मार्ग प्रशस्त कर दिए । पर्दा प्रथा समाज कर दी गई । कथा व भजन कीर्तन में जाने से स्त्रियाँ घरेलू काम काज से काफी मुक्त हो गयी । भक्ति आन्दोलन में गहस्थाश्रम पर बल दिया गया, परन्तु सन्तों को अपनी पत्नी की इच्छा के बिना सन्यास लेने की अनुमति प्रदान नहीं की गई । इसमें स्त्रियों के महत्वपूर्ण अधिकार निहित थे । इस आन्दोलन के दूसरे प्रभाव भी हुए । मनु के समय से ही स्त्रियों को शिक्षा से रोक दिया गया था । सन्तों ने स्त्रियों को धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन व स्वयं को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित किया । इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने स्त्रियों में नये प्राणों का संचार किया । किन्तु इस आन्दोलन ने आर्थिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया । अत: स्त्रियों की निम्न स्थिति बनी रही । बाद में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण उनकी स्थिति में सुधार हुआ ।

16.5 महिलाओं की स्थिति को परिवर्तित करने वाले कारक

अठारहवीं, उन्नीसवीं व मध्य बीसवीं शताब्दी तक अंग्रेज भारत के शासक बने रहे । ब्रिटिश शासन की अवधि में हमारे समाज की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं में अनेक परिवर्तन किए गए । ब्रिटिश शासन के 200 वर्षो की अवधि में स्त्रियों के जीवन में अदृश्य सुधार हुआ, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक अधिकारों, आदि को लेकर स्त्री पुरुषों के बीच असमानताओं में क्रमश कमी आती गयी । यहीं हम परिवर्तन के उन पहलुओं की व्याख्या करेंगे जिन्होंने महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया ।

औद्योगिकरण(Industrialization) :

ब्रिटिश काल के आर्थिक परिवर्तन बड़े निर्णायक थे । मशीनी उद्योगों के विकास और हस्तशिल्प का विनाश दोनों ने ही स्त्री व पुरुषों की आजीविका पर गंभीरतम आघात किया । अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई आर्थिक संरचना देश-भक्ति या जनहित के लिए नहीं की गई थी। मूलत: शासक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही देश के संसाधनों का दोहन किया गया था। किन्तु औद्योगीकरण ने अनेक परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला, जैसे लोगों की गतिशीलता, संचार एव आवागमन के साधनों का विकास, जजमानी प्रथा का कमजोर होना, रोजगार के नये अवसरों की उपलब्धता आदि । इन सब से नये मूल्यों एवं नये व्यवहार के तरीकों का उदय हुआ ।

परिवार और विवाह के सम्बन्ध में उच्च स्थिति (Higher status in relation to marriage and family) '

परिवार और विवाह के सम्बन्ध में आज भारतीय नारी की स्थिति कहीं अधिक उच्च है। सन् 1929 के चाल-विवाह अवरोध अधिनियम(The Child Marriage Restraint Act,1929) द्वारा बाल-विवाह का अन्त कर दिया गया है । पहले अधिनियम के अनुसार कोई भी माता-पिता लड़की का विवाह 15 वर्ष की आयु से पहले नहीं कर सकता । अब भारत सरकार ने इस न्यूनतम आयु को 15 से बढ़ा कर 18 वर्ष कर दिया है । स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण परिषद् ने भी अपने एक सम्मेलन में इस न्यूनतम आयु को 19 वर्ष कर देने की सिफारिश की थी । 1961 के दहेज प्रतिबंध अधिनियम (Dowry Prohibition Act 1961) के द्वारा दहेज देना अपराध घोषित कर दिया गया है । परन्तु दुःख है कि इस सम्बन्ध में कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है । इसी प्रकार सन् 1955 के हिन्दू विवाह तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम (Hindu Marriage and Divorce Act,1955) और सन् 19प्54 के विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage Act 1954) ने स्त्रियों को धार्मिक व अन्य सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से दूर विवाह करने की आज्ञा दे दी है । अब बहुपत्नी-विवाह गैर-कानूनी है । अन्तर्जातीय विवाह मान्य है, और स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का भी पूरा अधिकार है । इसी कारण विधवा-पुनर्विवाह भी आज कानूनी रूप से मान्य है । इन सभी कारणों से परिवारों के अन्तर्गत भी स्त्रियों की स्थिति काफी सुधरी है । वह अब पति की दासी नहीं, वरन् मित्र है: सास-ससुर की सेविका नहीं, वरन् सम्माननीय वधू है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विवाह और परिवार के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत उच्च है ।

शिक्षा के सम्बन्ध में सुधार (Reformation in relation to education) :

स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में भी वर्तमान समय में पर्याप्त सुधार हुए है पहले बहुत ही कम स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होती थीं, परन्तु आज स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रही हैं । सन् 1952 की जनगणना के अनुसार बहुत कम शिक्षित थी। परन्तु सन् 1991 की जनगणना से पता चलता है कि प्रत्येक 1000 स्त्रियों में से 392 स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी है । आज स्त्रियाँ वैज्ञानिक, सामाजिक. राजनीतिक, व्यवसायिक, सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर रही हैं । सरकार भी स्त्रियो की शिक्षा पर विशेष ध्यान दे रही है स्त्रियों को निःशुल्क शिक्षा, प्राइवेट शिक्षा देने की सुविधा, छात्रावृत्तियाँ आदि देकर शिक्षा के विषय में प्रोत्साहित किया जा रहा है । राज्य सरकारों ने तो दसवी कक्षा तक लड़कियों की शिक्षा निःशुल्क करके स्त्री-शिक्षा के विस्तार में सरहानीय योगदान दिया है । इकीसवीं सदी में तो स्त्रियों ने कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा है ।

राजनीतिक क्षेत्र में समानता (Equality in Political field) :

जैसा कि कहा ही जा चुका है कि स्वतन्त्रता से पूर्व तक सभी स्त्रियों को वोट टवजमद्ध देने का अधिकार न था परन्तु आज भारत की प्रत्येक नारी को, जिसने की 18 वर्ष की आयु प्राप्त करली है, वोट देने का तथा लोकसभा, विधानसभा आदि के सदस्य के लिये उम्मीदवार होनेका अधिकार है । अब तो पंचायत, नगर पालिका आदि के चुनाव में काफी सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित ([reserved) कर दी गई हैं । इसके फलस्वरूप इस देश में स्त्रियों में पर्याप्त राजनीतिक चेतना आई है आज स्त्रियाँ लोकसभा की सदस्या भी है और मन्त्री भी । औरतों और संसार के महानतम लोकतन्त्रा भारत के प्रधानमन्त्री के पद पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी एक महिला होते हुए, लगभग 14 वर्ष तक आसीन रही ।

सामाजिक आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में स्त्रियों को अनेक निर्योग्यताओ को भोगना पड़ा, जैसे बाल-विवाह, बहु पत्नी विवाह, विवाह के उद्देश्य से लडकियों की बिक्री, विधवाओं पर कठोर प्रतिबन्ध, शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध तथा गृहस्थ कार्यो तथा बच्चों क लालन-पालन तक ही अपनेको सीमित रखना आदि । न्यायमूर्ती रानाडे द्वारा आयोजित भारतीय राष्ट्रीय सभा, 1885 ने उपरोक्त निर्योग्यताओ की निन्दा की । राजा राम मोहनराय ने, जिन्होंने सती प्रथा उन्मूलनके लिए महत्वपूर्ण कार्य किया, बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा के विरुद्ध भी आवाज उठाई और स्त्रियों के उत्तराधिकार के लिए भी संघर्ष किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाया और स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी वकालत की। महर्षि कर्वे ने भी विघवा-विवाह और स्त्रियों की शिक्षा की समस्या को उठाया । उन्होंने 1916 में एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र में स्थापित किया। बड़ौदा राज्य के शासक, महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ ने भी बाल विवाह व बहु पत्नी विवाह रोकने, स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार दिलाने, तथा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए अथक प्रयत्न किए । स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों के राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों के प्रति रुचि दिखाई । गांधी जी का मत था कि स्त्रियों को कार्य करने

में वे कष्ट नहीं भोगने चाहिए जो पुरुष न भोग सकते हो। वे पुत्र और पुत्रियों को एक समान माने के पक्षधर थे । विविध नेताओं के सामाजिक आन्दोलनों के चलाने का एक लाभ यह हुआ कि स्त्रियों के समान अधिकारों व मुक्ति के लिए सामाजिक चेतना जाग्रत करने में सफलता प्राप्त हुई ।

महिला संगठनों का उदय (Growth of Woman's Organization) :

महिलाओं के एक संगठन, जैसे, बंग महिला समाज व महिला थियोसोफिकल सोसायटी, स्त्रियों के लिए आधुनिक आदर्शों के लिए स्थानीय स्तर पर कार्य कर रहे थे । किन्तु अग्रणी कार्य उन संगठनों द्वारा किया गया जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रहे थे । इनमें से पांच प्रमुख संगठन थे भारत महिला परिषद (जो 1984 में स्त्रियों की मुक्ति के संघर्ष हेतु प्रारम्भ हुआ), भारत स्त्री महामण्डल 1910 में स्थापित), महिला भारतीय संघ (Women's Indian Association) (1917 में ऐनी बेसेन्ट द्वारा संचालित), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद(National Council of Women in India)(1925 में लेडी एबरडन तथा लेडी टाटा द्वारा प्रारम्भ किया गया), तथा आल इण्डिया बूमेन्स कान्दरेन्स (मार्गरेट कसिन्स तथा अन्य द्वारा 1927 में स्थापित) । कस्तूरबा गांधी की मृत्यु के उपरान्त कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट प्रारम्भ किया गया । इन सब संगठनों ने स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा व बाल विवाह जैसी बुराइयों का उन्मूलन, हिन्दू अधिनियमों में सुधार, स्त्रियों की नैतिक व भौतिक प्रगति, अधिकारों व अवसरों की समानता और स्त्रियों के मताधिकार जैसे मामलों को उठाया । कहा जा सकता है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलनों ने दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य किया: (1) स्त्रियों के उत्थान के लिए, अर्थात् सामाजिक रीतियों में सुधार कर स्त्रियों को समाज में रचनात्मक भूमिका क लिए योग्य बनाना, (ii) महिलाओं को पुरुषों के बराबर व समान अधिकार दिलाना अर्थात पुरुषों को मिले हुए राजनैतिक, आर्थिक व नागरिक अधिकारों को स्त्रियों को भी उपलब्ध कराना । पहले लक्ष्य को सामुहिक नारीवादी लक्ष्य' तथा दूसरे को ' उदार नारीवादी लक्ष्य' ' कहा जा सकता है । इन महिला संगठनों ने जिन रणनीतियों को अपनाया वे है: जन सभाओं में माँग रखकर सरकारी अधिकारियों के समक्ष विचार रखकर, समस्याओं के आकलन के लिए समितियाँ बनाकर तथा स्त्रियों को आन्दोलन करने के लिए सभाओं का आयोजन करके ।

सरकारी प्रयास (Govt. Efforts) :

भारत में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में सरकार का प्रयासों का भी पर्याप्त योगदान रहा । सरकारी दावा तो यह है कि भारतीय महिलाओं का विकास कार्यक्रम स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से सरकार के विकास की योजनाओं का केन्द्र रहा है ताकि महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्तर को पुरुषों के समान ऊपर उठाकर उन्हें राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा से जोडा जाए । कामकाजी 44,960 महिलाओं के लिए अब तक 685 हॉस्टल बनाये गए हैं । आधुनिक व्यवसायिक क्षेत्रों जैसे इलैक्ट्रोनिक्स, इलैक्ट्रीकल्स घड़ी-निर्माण, कम्पयूटर प्रोग्रामों, होटल प्रबन्ध, फैशन व ब्यूटी कलर, पर्यटन, कार्यालय प्रबन्धन आदि में प्रशिक्षण के लिए महिलाओं को प्राथमिकता दी जाती है । 2 अक्टुबर 1993 से महिला समृद्धि योजना ग्रामीण क्षेत्रों में डाकघरों के माध्यम से चलाया जा रहा हैं अब तक लगभग 8 लाख प्रौढ़ महिलाओं व

लड़कियों को शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जा चुका है राष्ट्रीय महिला कोष और महिला विकास निगम की स्थापना क्रमश: 1992-93 व 1986-87 में की गई । इतना ही नही, एक राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन श्रीमती जयंती पटनायक की अध्यक्षता में 31 जनवरी 1992 को किया गया था । इसका उद्देश्य महिलाओं की सुरक्षा व अधिकार से सम्बन्धित कानूनों के ठीक से लाग करना और उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखे जाने की शिकायतों को सुनना और उन पर कार्यवाही करना है । साथ ही, सरकार ने महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशेष कानून बनाये है । इनमें समान वेतन अधिनियम सती प्रथा निवारण अधिनियम, फौजदारी कानून व भारतीय साक्ष्य अधिनियम, प्रसूति लाभ अधिनियम, वेश्यावृत्ति (निवारण) अधिनियम आदि शामिल है ।

संरचनात्मक तथा सांत्कृतिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों ने स्त्रियों को न केवल शिक्षा, रोजगार तथा राजनैतिक भागीदारी में समान अवसर प्रदान किए है बल्कि स्त्रियों के शोषण को भी कम किया है तथा उन्हें अपने सगंठन बनाने के अवसर प्रदान किए हैं, जिनसे वे अपनी समस्याओं में अधिक रुचि ले सकें । इसके अतिरिक्त इस बात को भी अधिक अनुभव किया जा रहा है कि अनुसंधान, राष्ट्रीय नीति, एवं स्त्रीपरक कार्यक्रमों के बीच एक सामंजस्य होना चाहिए। स्त्रियों के निम्न स्तर के कारणों के अध्ययन एव प्रत्येक क्षेत्र में उनके अधिकारों की रक्षा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने विविध कमीशनों की नियुक्ति की है । केन्द्रीय सरकार ने दो ऐसे महत्वपूर्ण कमीशन 1971 व 1992 में नियुक्त किए थे। 31 जनवरी, 1992 को महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कमीशन का गठन किया गया जिसका उद्देश्य था, महिलाओं से सम्बंधित मामलों को देखना, स्त्रियों के स्तर की जाँच करना, विविध विधानों का अध्ययन करना तथा उनमें कमजोर बिन्दुओं व खामियों की ओर संकेत करना, महिलाओं के प्रति किए गए भेदभाव व हिंसा के कारणों का पता लगाना तथा संभावित उपायों का विश्लेषण करना।

भारतीय महिला आज भी आर्थिक रूप से पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त नहीं हैं सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक आयामों में भी उसकी स्थिति पुरुष के समरूप नहीं है । जिस प्रकार वह नौकरी करती है, घर का काम करती है, इन सब के प्रति उसकी निष्ठा उसके जीवन के स्वरूप के संदर्भ पर निर्भर करती हैं जब वह अपना प्रौढ़ जीवन प्रारम्भ करती है, तब उसका अतीत वैसा नहीं होता जैसा पुरुष का होता है । समाज के द्वारा उसका मूल्यांकन बिल्कुल भिन्न परिप्रेक्ष्य में होता है । एक बडी संख्या में महिलाएँ मुक्ति प्राप्त करने में असफल रहती हैं क्योंकि वे परम्परागत नारी जगत के घेरे से बाहर नहीं निकल पाती । उन्हें न तो समाज से ही और न अपने पति से ही पुरुषों के समान होने के लिए आवश्यक सहायता मिलती है । निस्संदेह आज भी वे पुरुषों के अत्याचारों का शिकार हैं ।

स्त्रियों को अधिकारों से वंचित रखने के लिए वैयक्तिक, आर्थिक व जनसंख्या संबंधी कारक हो सकते हैं । वैयक्तिक कारकों का संबंध उन पुरुषों के व्यक्तित्व की विशेषताओं से है जो निम्न बौद्धिक योग्यता (i.Q.) रखते हैं, जो अपरिपक्वता कुण्ठा, तथा नैराश्य से पीडित होते है और जो स्त्रियों से अयथार्थवादी उच्च आशाएँ रखते हैं तथा आशा करते हैं कि वे निष्क्रिय

एवं दब्बू बनी रहें । जहॉ तक आर्थिक कारकों का संबंध है, न कमाने वाली महिलाओं को कमाने वाली महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है: निम्न व मध्यम आय वर्गीय महिलाओं को उच्च आय वर्गीय महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है और नौकरियों में निम्न स्तर की नौकरियों में लगी महिलाओं को उच्च पद वाली नौकरियों में लगी महिलाओं की अपेक्षा कम अधिकार होते है । अन्त में, जहाँ तक जनसंख्या कारकों का संबंध है, उच्च जातियों की महिलाओं को निम्न एवं मध्यम जाति की महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से कम वंचित किया जाता है, बड़ी आयु के पुरुष स्त्रियों को अधिकारों से कम आयु के पुरुषों की अपेक्षा अधिक वंचित करते हैं, तथा महिलाओं द्वारा महिलाओं को अधिकारों से अधिक वंचित किया जाता है, अपेक्षाकृत पुरुषों द्वारा महिलाओं को। यह हमें उन पुरुषों को पहचानने में सहायता करता है जो स्त्रियों को अधिकार देने से इंकार करते हैं । यह वे पुरुष होते है जो हीन भावना के शिकार होते है: नैराश्य से भरे होते हैं, बुद्धि व योग्यता कम रखते हैं या फिर समाज विकृति और मनोविकृति से पीड़ित होते हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है, स्वभाव से सन्देह करने वाले होते हैं, अपने बचपन में हिंसा के शिकार हुए होते हैं, और परिवार में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते रहते हैं । उन स्त्रियों को भी अलग से पहचाना जा सकता है जिन्हें अधिकारों से वंचित रखा जाता है व वे स्त्रियाँ स्वयं को असहाय अनुभव करती हैं, हीन ग्रसित से ग्रसित होती है. स्वयं के विषय में हीन धारणाएँ रखती हैं, सामाजिक परिपक्वता में कमी अनुभव करती हैं तथा आर्थिक रूप से आश्रित होती हैं ।

हम छ: प्रकार के अधिकारों से वंचनाओं (Deprivations) को भी अलग से पहचान सकते हैं: धन परक (money orinted), आनन्द परक (pleasure oriented), शक्ति परक (9०भ'प (power oriented). पीडित स्त्री परक (victim precipitated), इंकार करने वाले की विकृति के फलस्वरूप (deniar's pathology resulted) तथा परिवार की तनावपूर्ण स्थितियों के फलस्वरूप (stressful family resulted)

16.6 आर्थिक परिप्रेक्ष्य

महिलाएं और रोजगार (Woman and Employment).

श्रम के बाजार में स्त्रियों को हानि ही उठानी पडती है । यह हानि उनकी अशिक्षा, दक्षता की कमी, समाज व्यवस्था में हीन स्थिति तथा निर्णय करने तथा शक्ति की संरचना से उन्हें बाहर रखने जैसी स्थितियों का ही प्रतिफल है ।

कामकाजी महिलाएं (The Working Women) :

1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार शहरों व गॉवों दोनों में ही घर की चार दीवारी से बाहर आकर काम करने वाली महिलाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है । 1971 की जनगणना के आँकडों के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति (work force) esa 13.0% महिला श्रमिक थी । यह प्रतिशत 1981 में 25.89 और 1991 में 28.57 हो गया (the Hindustan Times,lpril6,1993) । लगभग 80% महिलाएं कृषि कार्यो में लगी हैं ।

केवल 12% स्त्रियाँ ही केन्द्रीय व राज्य प्रशासनिक सेवाओं में और साश्र्जनिक प्रतिष्ठानों में लगी हैं । जो कि 1981 में 20-76 मिलियन से बढ़कर 1991 में 28-27 मिलियन हो गई ।

कार्य प्रेरणाएं (Work Motivations) :

स्त्रियों में रोजगार के लिए प्रेरणा पुरुषों से भिन्न होती है । स्पष्ट कारण तो धन की आवश्यकता, लेकिन यह कहना गलत होगा कि सभी महिलाएं धन के कारण ही नौकरी करती हैं । एक अध्ययन में 728 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन में नौकरी करने के प्रमुख कारण इस प्रकार पाये गये: पति के अपर्याप्त वेतन के कारण, पति की मृत्यु पति की बीमारी, पति के सहारा न देने के कारण, पति द्वारा परित्याग तथा घर से बाहर काम करने को वरीयता देने के कारण । मोटे तौर पर कहा जाये तो, 89.0% महिलाएं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही नौकरी करती हैं ।

दीपा माथुर के जयपुर (राजस्थान) में 22.5 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन से महिलाओं के सेवायुका होने के छः कारक पता चलते हैं: आर्थिक आवश्यकता या परिवार की आय में सहयोग (22.7%). भावी कुसमय से सुरक्षा (20%), रहन सहनके स्तर को ऊंचा उठाने के लिए (2०.4%), मन बहलाव व सामाजिक सम्पर्को के कारण (17.3%), व्यक्तिगत सम्मान और आकांक्षाओं के कारण .12.4%). स्वाभिमान की पूर्ति (7.2%) । इस प्रकार 63.0% स्त्रियॉ आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कार्य करती थी और 37.0% अनार्थिक कारणों से । जब उन स्त्रियों से पूछा गया कि यदि उन्हें स्वेच्छा प्रदान की जाये कि वे पूर्ण कालिक सेवयुक्त बनना पसन्द करेंगी या पूर्ण कालिक गृहिणी, तो 52.0% ने केबल गृह कार्य पसन्द किया और 48.0% ने गृहकार्य तथा नौकरी का समन्वय(वही 24) । इस प्रकार, आधी से कुछ कम महिलाओं ने काम करने की उत्सुकता दर्शाशी और आधे से कुछ अधिक ने काम के लिए अनिच्छा दर्शायी । प्रेरक स्तर (motivation level) के मापन से पता चला कि 47.6% महिलाओं का प्रेरक स्तरबहुत ऊंचा था, 35.1% का मध्यम (moderate) था, और 17.3% का निम्न था । उच्च प्रेरणा स्तर का संबंध उच्च शिक्षा स्तर से, नौकरी के उच्च सन्तोष से, और कम आयु से था । 29.0% मामलों में प्रेरणा का स्त्रोत था जनक परिकर (माता-पिता, भाई-बहिन), 23.0% मामलों में स्त्रोत तथा जनन परिवार, 9% मामलों में मित्र व अध्यापक थे, और 39% मामलों में स्रोत स्व-प्रेरणा थी ।

कार्य की प्रेरणा की प्रवृत्ति में वृद्धि करने वाले कारकों की तरह ही कुछ ऐसे कारक भी हैं जो इस प्रवृति को कम करते हैं । दीपा माथुर के अध्ययन में प्रेरणा कम करने वाले कारक थे: उपयुक्त नौकरियों का उपलब्ध न होना (49%), दक्षता में कमी (20%), काम करने की इच्छा में कमी (18%) पति से प्रोत्साहन न मिलना (8%), और पति की नौकरी की आवश्यकताओं के साथ असंगतता (incompatibilty) (5%) ।

दोहरी भूमिका का संतोष (Dual Role Satisfaction) :

यदि धन अर्जन करने वाली महिला माँ और पत्नी की भूमिका में विलीन करनेके प्रयत्न में सफल हाती हैं तो वह महिला अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट मानी जायेगी। उच्च'

संतोष काम करने और घर बनाने वाली भूमिका प्रसन्नता पूर्वक निभाने में निहित है: मध्यम' संतोष का अर्थ है दोनों भूमिकाओ में सीमान्त असंतोष (marginal imbalance), तथा निम्न संतोष एक या दोनों भूमिकाओं में असंतोष में निहित है । दीपा माथुर के अध्ययन में 53: महिलाएं अपनी दोहरी भूमिकाओ से उच्च संतुष्ट, 18% मध्यम संतुष्ट ब 29% असंतुष्ट पायी गयीं ।

दोहरी भूमिकाओ के साथ संतोष/असंतोष कामकाजी महिलाओं के आत्म-प्रतिबिम्ब (self-image) अथवा स्वयं के विषय में की गई कल्पनाओं को प्रभावित करता है । स्वयं के विषय में ऊंचे प्रतिबिम्ब बनाने का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करती है कि काम करने के कारण उसके व्यक्तित्व में सुधार हुआ है, जबकि निम्न प्रतिबिम्ब का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करे कि कामा/नौकरी ने उसके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव नहीं डाला है ।

निम्न स्व-प्रतिबिम्ब और दोहरी भूमिकाए, कामकाजी महिलाओं के लिए भूमिका संघर्ष जैसी समाजशस्त्रीय समस्या पैदा कर देती है जिसका प्रभाव, पारिवारिक संबंधों, बच्चों की देखभाल तथा सक्रिय व निक्रिय रूप से भूमिकाओ के निर्वाह करने पर पड़ता है । लज्जाशील ह नम्र स्वभाव की स्त्रियों को प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली स्त्रियों की अपेक्षा दोहरी भूमिका निर्वाह में अधिक समस्याओं का सामना करना पडता है । दीपा माथुर (वही, 87-88) ने अपने अध्ययन में देखा कि 21% स्त्रियाँ उन कोटि के भूमिका संघर्ष की स्थिति में थी, 44.4% निम्न कोटि के, तथा 33.8% किसी भी प्रकार के भूमिका संघर्ष की स्थिति में नहीं थी। काम करने के प्रेरणात्मक स्तर, पत्नि के रोजगार के प्रति पति का दृष्टिकोण, कार्य के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध और महिलाओं के व्यक्तित्व के प्रकार आदि विविधताओं तथा ' भूमिका' संघर्ष के बीच महत्वपूर्ण, मध्यम तथा कमजोर संबंध पाये गए ।

भूमिका संघर्ष और प्रेरणा स्तर तथा पति के दृष्टिकोण के बीच संबंध महत्वपूर्ण हैं, काम करने के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध के साथ संबंध कमजोर हैं, तथा बच्चों की उपस्थिति की दशा के साथ संबंध 'मध्यम' हैं ।

रामू का मत है कि नवीन आर्थिक व घरेलू भूमिकाओ के बीच के संघर्ष का फल महिलाओं के कार्यकलापों के विभागीकरण के रूप में होती है । यद्यपि यह अस्थाई ही होता है क्योंकि व्यवसाय व गृहस्थ जीवनके बीच स्पर्द्धा की मांग होती है कि वे इसके साथ समन्वय करें, किन्तु अनेक महिलाओं के लिए यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है कुछ समय के बाद वे अनुभव करती हैं कि या तो वे अपनी व्यावसायिक आकांक्षाओं को नीचे लाएं या फिर अपने गृहस्थ दायित्वों में कुछ कटौती करें।

भूमिका समायोजन (Role Adjustment) :

कामकाजी महिलाओं को अपने परिवार तथा कार्य के स्थान के बीच अपने को समायोजित करना पडता है । समायोजन का अर्थ है एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति पर चले जाना भूमिकाओं का दूसरों के परिप्रेक्ष्य से अवलोकन तथा विविध भूमिकाओं को कुशलता तथा संतोषप्रद ढंग से निर्वाह करना होता है । सरल शब्दों में 'भूमिका समायोजन भूमिका की मांग

(role demands) तथा व्यक्ति की भूमिका सम्पादन (role performance) पर निर्भर करता है ।

एक कामकाजी महिला को असंख्य समस्याओं का सामना करना पडता है । घर के जीवन का समायोजन दफ्तर की दिनचर्या से करना होता है । घर के कामकाज को परम्परागत दिन चर्या से भिन्न बिन्दुओं पर व्यवस्थित करना होता है । लार्जान्स (Lazarns. 1961) के अनुसार समायोजन दर्शाने वाले चार प्रमुख सूचक (indicators) है: भूमिकाओं का कुशल ब बुद्धिमत्तापूर्ण निर्वाह, मनोवैज्ञानिक सुख की सीमा, तनाव लक्षणों का अभाव तथा व्यवहार की सामाजिक स्वीकृति ।

समायोजन का एक आयामी नैरन्तर्य (unidimensional continuum) पर माप किया जाता है । नैरन्तर्य में व्यक्ति की स्थिति उच्चतम बिन्दु से निम्नतम बिन्दु तक स्थित की जाती है । निम्न समायोजन को कुसमायोजन (maladjustment) से पृथक कर लिया जाता है क्योंकि दोनों ही गुणों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते है । कुसमायोजन में व्याधिकीय अनुक्रिया (pathological responses) निहित है, जबकि निम्न समायोजन परिस्थिति में पूर्ण रूप से विलीन होने की स्थिति दर्शाता है ।

'घर का समायोजन' तथा नौकरी समायोजन' में मूल्यांकन के भिन्न आधार सम्मिलित हैं । कामकाजी महिलाओं के विषय में सामान्यत: यह देखा गया है कि 'नौकरी समायोजन' 'घर समायोजन' की अपेक्षा कहीं उच्च कोटि का होता है ।

दीपा माथुर के अनुसंधान से पता चलता है कि अध्ययन की गई 225 कामकाजी महिलाओं में से 38% का सर का समायोजन' उच्च कोटि का, 43% का मध्यम, तथा 19% का निन्म कोटि का था । 'नौकरी समायोजन' में 44% ने उच्च, 30% ने मध्यम तथा 26% ने निम्न कोटि का समायोजन दर्शाया । नौकरी समायोजन का स्तर नौकरी की प्रकृति सेवा अवधि, तथा भावी योजनाओं के साथ ही विविध पाया गया । दूसरी ओर, घर का समायोजन' परिवार संरचना, आकार, पति तथा ससुराल वालों से सहयोग, तथा स्व मूल्यांकन पर निर्भर करता है । दोनों स्थितियों को एक साथ रखकर कहा जा सकता है कि कामकाजी महिलाएं सामान्यतया घर की जिम्मेदारियों तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस प्रकार योजना बना लेती हैं कि समायोजन करने में कठिनाई नहीं आती । यद्यपि महिलाएं अपनी आय अधिकतर जीवन स्तर ऊंचा उठाने में खर्च करती है तथा उन पर घमण्डी, लापरवाह, आत्म केन्द्रित होने का आरोप लगाया जाता है, फिर भी वे घर की चार दीवारी से बाहर निकल कर तथा राष्ट्र व मानवता के वृहत दायरे में अपनी भागीदारी का निर्वाह कर रही हैं ।

16.7 महिलाओं के अधिकार

ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं (2001 जनगणना), ऐसे रुढिवादी परम्पराओं एवं विश्वासो तथा प्रथाओं में जकडे हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता । न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है । दिधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बडी सावधानी से चरणों में लाग करना

होता है विधान की पुस्तकों में महिलाओं से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आन्दोलित किया है? किस सीमा तक उन विधान से सामाजिक परिवर्तन आया है ' इन विधानों के माध्यम से प्राप्त महिला अधिकारों को विवेचन हम यहाँ संक्षेप में करेंगे (See Ahuja, 1992: 8) ।

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी भारतीय संविधान द्वारा प्रमुख अधिकार इस प्रकार है:

(1) समानता का अधिकार, अर्थात अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानूनों का समान संरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेदभाव न समझा जाना ।

(2) स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात भाषण की स्वतंत्राता, निवास की स्वतंत्राता एवं व्यवसाय व गतिशीलता की स्वतंत्रता ।

(3) शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता, अर्थात 'बेगार के विरुद्ध ।

(4) धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रातापूर्वक अनुपालन ।

(5) सांकृतिक एवं शैक्षिक अधिकार, अर्थात संस्तुति का संरक्षण तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार ।

(6) संबैधीनक उपचार (remedy) का अधिकार, अर्थात् मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार ।

इन मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिए गए है कि वे समय-समय पर ऐसे विधान लागू करें जो स्त्रियों के हितों की रक्षा करते हों तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार में उन्हें वरीयता दी जाए । इस आधार पर सरकार समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही है जिनसे सामाजिक व्यवस्था एवं न्याय बना रहे ।

गत तीन या चार दशकों में काफी संख्या में विधान लाग किए गए हैं एवं कुछ में सुधार किए गए हैं जिनसे महिलाओं के समान स्तर एवं अवसरों को सुनिश्चित किया गया हैं । इन विधानों का मूल्यांकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है: सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक ।

सामाजिक विधान (Social Laws)

महिलाओं से संबंधित तथा सामाजिक कानूनों से संबंधित चार प्रमुख मामले हैं: विवाह, गोद लेना (adoption). संरक्षकता ;guardianship) एवं गर्भपात (abortion) । विवाह से संबंधित प्रमुख समस्याएं है: .1) जीवन साथी का चुनाव, (3) विवाह की आयु (1) बहु पत्नी विवाह, (4) निर्योग्य (invalid) विवाह (5) निष्प्रभावी (void) विवाह (6) विवाह विच्छेद, (7) दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन(restitution of conjugal rights), (8) गुजारा भत्ता, (9) बच्चे का संरक्षण (custody of child), (10) दहेज, 11द्ध पुनर्विवाह । पूर्व उल्लेखित कुछ लागू हो चुके विधान इस प्रकार है: 1955 का हिन्दु विवाह अधिनियम, 1954 का विशेष विवाह अधिनियम तथा 1856 का पुनर्विवाह अधिनियम ।

बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1956 में पारित किया गया जिसे हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधिनियम नाम दिया गया । न केवल विवाहित स्त्रियों को बल्कि

अविवाहित स्त्री, विधवा स्त्री तथा तलाकशुदा स्त्री को भी बच्चों को दत्तक अधिग्रहण का अधिकार दिया गया है । केवल अविवाहित तथा पन्द्रह वर्ष से कम आयु के बच्चों का ही दत्तक ग्रहण किया जा सकता है ।

1970 तक गर्भपात को वैधानिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। 1971 में चिकित्सा गर्भ समापन अधिनियम (Medical Termination of pregnancy act) पारित किया गया जिसके माध्यम से गर्भवती महिला व गर्भपात शल्यक (abortionist) दोनों को ही गर्भपात की अनुमति प्रदान कर दी गई । यह अधिनियम अप्रेल, 1972 से लाग किया गया तथा यह केवल बारह सप्ताह तक के गर्भ के गर्भपात की अनुमति केवल रजिस्टर्ड डॉक्टर को देता है । गर्म के केवल इन परिस्थितियों में ही समाप्त करने की अनुमति दी गई है: यदि गर्भवती महिला के जीवन को जोखिम हो, उसके शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को गंभीर हानि की आशंका हो या फिर इस बात का भ्य हो कि जन्म लेने वाला बच्चा अपंग या शारीरिक व मानसिक असमानताओं (abnormalities) के साथ जन्म लेगा। गर्भपात ऐसे मामलों में भी स्वीकृत होता है जहाँ गर्भ का कारण बलात्कार या गर्भ निरोधक विधियों की असफलता रहा हो।

आार्थक विधान (Economical Laws) :

आर्थिक विधानों से संबंधित विषय हैं: सम्पत्ति का अधिकार, समान पारिश्रमिक, कार्य करने की दशाएं, प्रसूति लाभ, तथा कार्य सुरक्षा (job objective) । एक महिला के सम्पत्ति अधिकार का अर्थ है उसका पत्नी, पुत्री, विधवा तथा माँ के रूप में संपत्ति का अधिकार । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार न केबल पुत्री को ही उसके भाई के बराबर का भाग पिता की सम्पत्ति में मिलता हे, बल्कि एक विधवा को भी अपने मृत पति की सम्पत्ति में से उसके पुत्रों और पुत्रियों के बराबर का भाग मिलता है । इस विधान ने स्त्रीधन' एव गैर स्त्रीधन के बीच का भेद भी समाप्त कर दिया है ।

जहाँ तक समान पारिश्रमिक का संबंध है, समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 (Equal Remunration Act, 1976) महिला तथा पुरुष कर्मियों के पारिश्रमिक में भेद करने की अनुमति नहीं देता । जो मालिक इन विधानों का पालन नहीं करते उन के लिए दण्ड का प्रावधान है ।

कार्य अवधि में कार्य दशाओं का नियंत्राण फैक्ट्री अधिनियम, 1948 से होता है । फिर, कार्य घण्टे, साप्ताहिक विश्राम, सफाई के स्तर, प्रकाश व्यवस्था, तापमान, मशीनों की सीमा बन्दी, प्राथमिक उपचार की सुविधा, विश्राम गृह, आदि प्रावधानों के अतिरिक्त इस विधान में बच्चों के शिशु गृह (creches) स्थापित करने की तथा महिलाओं के लिए पृथक से प्रसाधन (toilets) स्थापित करने का प्रावधान हैं महिलाओं के लिए एक दिन में अधिकतम नौ घण्टे तथा रात्रि 10 बजे से प्रात: 5 बजे के बीच कोई भी कार्य न करने देने का प्रावधान भी इस कानून में है ।

राजनैतिक अधिकार (Poltical Rights) :

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमुख अधिकार हैं: महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता । महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाइज़ कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया । 1919 में सरकार ने राजय सरकारों को अधिकार दे दिया कि दे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें । इस प्रकार के विधान राजकोट में 1923 में, ट्रावन्कोर कोचीन में 1924 में, मद्रास व उत्तर प्रेदश में 1925 में, पंजाब व असाम में 1926 में, तथा बिहार और उडीसा में 1929 में पारित किए गए । 1935 के भारत सरकार अधिनियम में शैक्षिक योग्यता के आधार पर स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया । फलस्वरूप, 1937 में 56 महिलाओं ने चुनाव के माध्यम से विधान मण्डलों में प्रवेश किया । स्वतंत्राता के बाद स्त्री मतदाताओं की संख्या तथा राज्य विधान मण्डलों तथा लोक सभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है ।

सामाजिक अधिकारों की चेतना (Consciousness of Social Right) :

- महिलाओं को विवाह संबंधी कानूनों की जानकारी बहुत कम है । हमारे सर्वेक्षण में केवल दस में से एक महिला को ही अपने जीवन साथी के चुनाव के अधिकार की जानकारी थी, लगभग 50 में से एक को विवाह की सही आयु की जानकारी थी, पांच में से एक से भी कम को तलाक के अधिकार का ज्ञान था, दस में से एक से भी कम को तलाक के बाद गुजारे भत्ते के अधिकार का ज्ञान था, पांच मे 'से एक से कम को विधवा, पुनर्विवाह अधिकार का और पांच में से एक से भी कम को दहेज कानून का शान था । इन सभी पक्षों को एक रखने पर हम कह सकते हैं कि दस में से एक महिला को ही विवाह कानूनों की कुछ जानकारी थी ।
- परिवार में निर्णय लेने के विषय में महिलाओं की भूमिका किनारे की होती है । पत्नि के साथ पति महत्वहीन विषयों में ही सलाह करते हैं । ये एकाकी परिवारों में अब यह परिवर्तन दिखाई दे रहा है
- पति पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंधों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं या अब स्थिति अलग है
- महिलाओं की परिवार में स्थिति कुण्ठाग्रस्त न होकर जीवन अनुभवों के बीच संतोष की होती है
- लगभग दो तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन से संतुष्ट होती हैं ।
- घर के काम से संतुष्टि का स्तर आयु शिक्षा तथा आय के साथ साथ बदलता रहता है ।

आार्थक अधिकारों की चेतना (Consciousnes of Economic Right) :

- यद्यपि बहुत कम महिलाओं को अपने पिता की सम्पत्ति में से भाग लेने का अधिकार का अपने पति की सम्पत्ति में से अपने भाग के अधिकार का ज्ञान अधिक संख्या में (80%) स्त्रियों को है ।
- थोडी संख्या में (एक तिहाइ) महिलाओं को अपने पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य (0.5%) है ।
- गाँवों में दस में से केवल एक महिला ही कामकाजी है तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्रा है ।

- कामकाजी महिलाएं भी गृह कार्य तथा गृहस्थी निर्माता के रूप मे अपनी भूमिका का मूल्यांकन उतनी ही सापेक्षता से करती है जितनी कि घरेलू महिलाएं ।
- कामकाजी महिलाओं में दस में से नौ अपनी आमदनी से असंतुष्ट होती हैं । यह असंतोष कार्य के विचार से उतना नहीं होता जितना कि कार्य दशाओं या पारिश्रमिक से।
- जो महीलाए' अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं वे अपनी आय को अपनी इच्छा से व्यय करते के स्वतंत्रता नहीं होती

राजनैतिक अधिकरों की चेतना (Consciousness of Political Rights) :

- बहुत कम संख्या (लगभग 20:) में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है ।
- मताधिकार प्राप्त महिलाओं में से लगभग तीन चौथाई ही उसका प्रयोग करती हैं । रोचक बात यह है कि ये महिलाएं राजनीति से प्रेरित होकर वोट देने नहीं जाती, बल्कि घूमने के उद्देश्य से जाती है ।
- महिलाओं का मत देने का व्यवहार न तो राजनैतिक गतिशीलता से और न ही राजनैतिक समाजीकरण से जुडा होता है, बल्कि अपने पति के राजनैतिक विश्वास और अभिरुचि से जुडा होता है ।
- चुनाव का उदार सिद्धान्त जो मतदाता के वोट को उसके तर्कयुक्त पसन्द या उम्मीदवार या पार्टी के लिए अभिरुचि से जोड़ता है, वह महिलाओं के मत डालने के व्यवहार के लिए तर्कसिद्ध (valid) नहीं है । हांलाकि अब इसमें परिवर्तन आ रहा है ।
- आमतौर पर महिलाएं किसी भी राजनैतिक दल की सक्रिय सदस्य नहीं होती हैं: कुछ महिलाएं किसी राजनैतिक दल की समर्थक अवश्य होती हैं ।

  उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकार चेतना अपने आप स्त्रियों के स्तर को ऊंचा नहीं उठाती और न ही चेतना हीनता या अज्ञानता उनकी संतोष (प्रस्थिति से) की भावना कम करती है । अधिकार चेतना में प्रमुख बाधाएं इस प्रकार हैं: अशिक्षा, गृह कार्य में अधिक व्यस्तता, घरेलू बन्धन तथा पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता।

भारतीय नारी की कुछ उपलब्धियाँ - 1995 (Some Achievements of Indian Women-1995)

सुश्री ज्योत्सना तिवारी ने वर्ष 1995 के दौरान भारतीय नारी की उपलब्धियों पर एक रोचक संग्रह प्रस्तुत किया है । उनमें से कुछ इस प्रकार है -

1 आंध्र प्रदेश के बहुचर्चित अरक विरोधी महिला आन्दोलन को उस समय बहु-प्रतीक्षित सफलता मिली जब वहाँ की राज्य सरकार को पूरे राज्य में पूर्ण नशाबन्दी लाग करनी पडी।

2 उत्तर प्रदेश के पंचायत चुनाव में महिलाओं को दिए गए आरक्षण के कारण उनकी राजनैतिक भागीदारी को एक नया आयाम मिला । ऐसा ही स्थानीय निकाय चुनावों (नगर पालिका, नगर पंचायत आदि के चुनावो) में भी उनको दिए गए आरक्षण तथा कुछ पद मेयर के भी आरक्षित किए जाने से उनका समान बढ़ा । पर कई जगह स्थानीय निकाय चुनावों में आरक्षित सीटों से मुस्लिम महिलाओं के खडी होने पर कट्टरपंथी लामाओं ने ना केवल उसका विरोध किया बल्कि कई जगह तो फतवे तक जारी कर दिए ।

3 भारतीय मूल की डॉ0 कल्पना चावला नासा के अन्तरिक्ष यात्री दल के लिए चुने गए सिविलियन मिशन विशेषज्ञों के दल में शामिल की गई ।

4 शास्त्रीय गायिका पद्मावती गोखले को कालिदास सम्मान प्रदान किया गया ।

5 मनप्रीत बरार "मिस इंडिया यूनीवर्स" चुनी गई जबकि प्रीति मनकोटिया "मिस इंडिया वर्ल्ड"।

6 प्रसिद्ध धाविका रोसा कुट्टी एवं भारोतोलिका मल्लेश्वरी को इस वर्ष का अर्जुन पुरस्कार मिला। मल्लेश्वरी को बिड़ला फाउंडेशन पुरस्कार भी मिला । चीन में विश्व भारोत्तोलन प्रतियोगिता में भारत की मल्लेश्वरी ने ही तीन स्वर्ण पदक जीतकर विश्व रिकार्ड कायम किया । भाग्य श्री थिप्से ने एशियन जोनल शतरंज चैपियनशिप में इन्टरनेशनल वुमेन मास्टर का खिताब जीता ।

7 इसी वर्ष (1995) श्रीमति सोनिया गान्धी को लायन्स इन्टरनेशनल हयूमेनिटेरियन पुरस्कार दिया गया और मदर टेरेसा को डा0 विलियम कैरी एवं इन्दिरा गान्धी पुरस्कार प्रदान किया गया ।

8 मुस्लिम महिलाओं के हक में इस वर्ष 1995द्ध का सबसे ऐतिहासिक एवं बहुप्रतीक्षित निर्णय सुप्रीम कोर्ट ने एक फैसले के तहत तब दिया जब उसने पहली बीवी को तलाक दिए बगैर दूसरी शादी करने को न सिर्फ अवैध करार दिया वरन केन्द्र सरकार से पूरे देश में समान नागरिक संहिता लाग करने की भी मांग की ।

16.8 भारत में नारी प्रगति की वास्तविकताएं

प्रख्यात पत्राकार व स्तम्भ-लेखक श्री राजीव सचान की अपनी मान्यता यह है कि निश्चित रूप से नारी ने तमाम बाधाओं के बावजूद नई बुलंदियों को छुआ है और घर के बाहर अपने को स्थापित भी किया है । लेकिन फिर भी उसकी समस्याएं कम हाने का नाम नहीं ले रही हैं और उसकी प्रगति की गीत प्रश्न चिह्नों का शिकार हो रही है । उनके ही शब्दों में, 'जहीर उदाहरण अगर हम भारतीय समाज पर दृष्टिपात करें, तो हम पायेंगे कि चंद वर्षो में ही महिलाओं ने अपनी सफलता के ऐसे झंडे गाडे है, जो भले ही उनके समक्ष नयी समस्याएं पैदा करने वाले कारक बने हों, पर पुरानी रूढ़ियां हिल गयी है । आज भारत में महिलाएं न्यायिक सेवा में है और करीब 20 महिला जजों का होना यह बताता है कि यह सिर्फ उदाहरण देने लायक ही स्थिति नहीं है । सेना में भी भारतीय महिलाओं का प्रवेश हो चुका है, महिला थाने भी खुल चुके है और विमान भी महिलाओं के निर्देश पर आकाश नाम रहे है । चिकित्सा के अलावा इंजीनियरिंग के क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपने पैर जमाने शुरू कर दिये है । कुल मिलाकर शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जो महिलाओं की हलचल से अछूता हो । पिछले 20 सालों में महिलाओं ने अपनी स्थिति में अभूतपूर्व सुधार किया है और यह सुधार ऐसा नहीं है कि उसे अपवाद का सहारा लेकर हाशिये पर ठेला जा सके । सच तो यह है कि अपवाद अब आसान राह बन रहे है और नारी के जुझारूपन का लोहा सबको मानना पड रहा है' ' साथ ही श्री सचान के मतानुसार, यह भी सच है कि "स्त्री के प्रति उपेक्षा का सिलसिला उसके जन्म के

साथ ही शुरू हो जाता है और घर-परिवार ही उसका प्रथम उपेक्षा स्थल बनता है । स्त्री को उपेक्षा से मुक्ति घर की देहरी पार करने के बाद मिलती है । यद्यपि स्त्री को जन्म लेने के साथ ही अपने प्रति पनपने वाले उपेक्षा भाव से छुटकारा मिले, इसके लिये घर की देहरी के भीतर और बाहर, दोनों जगह समान रूप से संघर्ष करना है, पर आज देहरी के बाहर का संघर्ष ज्यादा अहम माना जा रहा है और शायद यही कारण है कि स्त्री घर के बाहर निकलकर भी शोक्षित और पीडित होती रहती है । क्या देहरी के भीतर का संघर्ष देहरी के बाहर के संघर्ष से ज्यादा कठिन है? शायद हां, क्योंकि दहेज हत्या और मादा भूण हत्या की घटनाओं में बेतहाशा वृद्धि इसी ओर संकेत करता है । विडबना यह है कि बिना देहरी के बाहर छलांग लगाने को आतुर नारी ही इन हत्याओं में अपना योगदान दे रही है । यह स्थिति यह बताती है कि नारी प्रगति की गति संतुलित ढंग से संचालित नहीं है । '

श्री राजीव सचान ने "महिला सम्मेलन से भारत को क्या मिला ' शीर्षक, अपने स्तम्भ-लेख भारत में महिलाओं की वास्तविक स्थिति को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उजागर किया है । आपके मतानुसार चौथे महिला विश्व सम्मेलन (सितम्बर 1995) से महिलाओं को कुछ हासिल होने की उम्मीद नहीं है । बीजिंग का महिला सम्मेलन महिलाओं का मेला मात्रा बनकर रह गया । इस सम्मेलन में तमाम वायदे किए गए, पर इन वयदों को पूरा कौन करेगा, इस प्रश्न का उत्तर किसी ने नहीं दिया । श्री सचान लिखते हैं कि जिन दिनों भारतीय प्रतिनिधि बीजिग में बडी-बडी बातें कर रहे थे उन्हीं दिनों भूवनेश्वर से खबर आई कि पुरी के जगन्नाथ मंदिर के प्रबंधकों ने देवदासी प्रथा को पुनर्जीवित किया और पांच महिलाओं को देवदासी बनाने के लिए साक्षात्कार किया । यद्यपि देवदास प्रथा को पुनर्जीवित कराने का प्रबल विरोध किया गया और यहां तक कहा गया कि यह एक तरह से वेश्यावृत्ति को बढ़ा देने का प्रयास है, पर देवदासी प्रथा को पुनर्जीवित होने से नहीं रोका जा सका । यहां ध्यान रखा जाना चाहिए कि महाराष्ट्र और दक्षिण के अनेक हिस्सों में देवदासी प्रथा बस्तर जारी है और प्रतिवर्ष सैकडो महिलाएं देवदासी बनती है । एक अनुमान के अनुसार महाराष्ट्र और दक्षिण में आधे से अधिक वेश्याएं देवदासी प्रथा की ही देन है ।

श्री राजीव सचार ने आगे लिखा है कि बीजिंग सम्मेलन के दौरान ही भारतीय अखबारों में यह खबर भी छपी कि करीब 70 हजार भारतीय महिलाओं को नौकरानियों के तौर पर सिंगापुर भेजा जाएगा । माकपा के वरिष्ठ सांसद अशोक मित्रा के अनुसार बंबई स्थित इण्डियन पर्सनल एक्सपोर्ट प्रमोशन काउंसिल ने केरल और उत्तर पूर्व की महिलाओं को सिंगापुर की नौकरानियों के रूप में कार्य करने के लिए भर्ती किया हैं । अशोक मित्र ने शक जाहिर किया कि इन महिलाओं को थाईलेण्ड और मलयेशिया के सेक्स बाजार में धकेला जा सकता है । ज्ञात हो कि नौकरानियों के रूप में कार्य करने के लिए जो पात्रता रखी गई उनमें एक यह भी थी कि महिलाएं आकर्षक और 18 से 35 वर्ष के बीच की हों । इन महिलाओं ने जिस अनुबंध पत्र पर हस्ताक्षर किए उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि महिलाओं को अपने बाल छोटे रखने होंगे और सिंगापुरी स्टाइल के वस्त्र पहनने है । इन महिलाओं को मंदिर या चर्च जाने की इजाजत नहीं होंगी । इन्हें कोई अवकाश भी नहीं मिलेगा ।

बीजिंग सम्मेलन शुरू होने के पहले भारतीय महिलाओं के बारे में एक और खबर छपी । यह खबर भारतीय अखबारों में नहीं, बल्कि लंदन के संडे टाइम्स में छपी । इस खबर के अनुसार बिहार के कटिहार जिले में कन्याओं की हत्या करने की कुप्रथा जारी है । संडे टाइम्स की पत्रकार कैरोलिन लीस ने इस खबर में दावा किया कि उन्होंने कटिहार दौरे के दौरान दुकनी देवी नामक 'दाई' से मुलाकात की, जिसने यह बताया कि वह कई नवजात कन्याओं की हत्या कर चुकी हैं । लीस ने यह भी लिखा कि हालांकि भारतीय अधिकारियों ने नवजात कन्याओं की हत्या से इन्कार किया, पर यूनीसेफ की मदद से कार्य कर रही अदिति नामक गैर सरकारी संस्था ने उसे बताया कि बिहार में दुकनी देवी सरीखी 85 दाई' कार्य कर रही है और इन सभी ने यह माना है कि वे प्रतिमाह एक से बार नवजात बच्चियों को मार डालती है । नवजात बच्चियों की हत्या की यह कोई पहली खबर नहीं है । राजस्थान और तमिलनाडु से ऐसी खबरें समय-समय पर आती रहती है । कुछ इसी तरह की खबरें पश्चिम बंगाल, गुजरात व कुछ अन्य राज्यों से आती रहती है कि किस तरह महिलाओं को डायन चुडैल' मानकर उनकी हत्या कर दी जाती है । इसी तरह की एक खबर तो बीजिंग सम्मेलन के दौरान ही छपी । 'डायन चुडैल' मानकर महिलाओं की हत्या की खबरें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की पत्र-पत्रकाओ में भी छप चुकी है ।

बीजिंग सम्मेलन शुरू होने के दौरान भारतीय अखबारों में छपी यह खबर शायद पाठकों को याद होगी की राजस्थान की 'साथिन भंगी देवी ने कहा है कि वे अपने खिलाफ हुए अत्याचार की बात बीजिंग में उठाएंगी । बाल-विवाह को रोकने के लिए सामाजिक चेतना जाग्रत करने का कार्य करने वाली भंवरी देवी को बलात्कार का शिकार होना पडा था ।

'टाइम' पत्रिका के इसी अंक में यह भी छपा कि भारत में किस तरह धन की लालच में वधुओं की हत्याएं कर दी जाती है । दहेज हत्याओं के बारे में छपे इस लेख में बताया गया है कि भारत में प्रतिवर्ष दहेज हत्याएं बढ़ रही है पर दहेज के कारण वधुओं की हत्या करने वालों को सजा मिलना मुश्किल है । बीजिंग सम्मेलन शुरू होने से पहले संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से जारी की गई मानव विकास रपट का उल्लेख करना संभवत: अप्रासंगिक न होगा । इस रिपोर्ट में भारत को महिला विकास मापदण्ड में 99 वां स्थान दिया गया है । आर्थिक एवं राजनीतिक निर्णयों में महिलाओं की भगीदारी के मामले में भारत को 116 देशों में 101 वा स्थान मिला है । कुल मिलाकर बीजिंग सम्मेलन के दौरान ही दुनिया को यह पता चल गया कि भारत में महिलाओं की क्या स्थिति है।

श्री सचान ने अपने उपरोक्त लेख का समापन इस महत्वपूर्ण व प्रासंगिक प्रश्न के साथ किया है कि क्या बीजिंग गई महिला सांसद सरकार से यह पूछेंगी कि वह देवदासी प्रथा, भारतीय महिलाओं को नौकरानियों के रूप में निर्यात करने, नवजात बच्चियों की हत्याओं, भ्रूण हत्याओं, दहेज हत्याओं तथा भंवरी देवी के मामले में क्या कर रही है?

16.9 उपचार

महिलाओं की स्थिति को ऊँचा करने के लिये कई प्रयत्न किये जा सकते है । उपचार सामाजिक,वैधानिक व आर्थिक हो सकते हैं ।

वैधानिक उपचार (Legal Remedies) :

भारत के गणतंत्रा हो जाने के पश्चात हमारे नये शक्तिशाली नेताओं को विश्वास होने लगा कि स्त्रियों की समानता का प्रश्न पारिवारिक न होकर सामाजिक है । अत: स्त्रायों को पुरुषों कक समान व्यवहार देने से संबंध में कई राज्यों में विधान लागू किए गए । लेकिन जैसी कि अपेक्षा थी, सामाजिक कानूनों को ठीक से लागू नहीं किया गया । न्यायालय सामाजिक विधानों का अभी भी परम्परागत अर्थ ही प्रयोग करते हैं ।

सामाजिक उपचार (Social Remedies) :

सामाजिक उपचारों में महिला कल्याण सेवाएं, ऐच्छिक सगंठनों की स्थापना को प्रोत्सहान तथा जन संचार माध्यामों द्वारा महिलाओं का कानूनी प्रशिक्षण आदि सम्मिलित है । ऐच्छिक संगठनों को ऐसी महिलाओं का पता लगाने का कार्य करना है जिन्हें इस प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता है ।

महिला कल्याण संस्थाओं के लिए अनुकूलतम स्थिति यह है कि वे महिलाओं के प्रति किए गए अन्यायों की समस्याओं को शीघ्र प्रभावी ढंग से निवारण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें और समस्याओं के कारणों को लक्षण मात्रा न समझें ।

आर्थिक उपचार (Economic Remedies) :

शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण महिलाओं को कार्य ढूंढने के योग्य बनाएंगे जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतंत्रा बन सकेंगी । आर्थिक स्वतंत्राता से उनका तनाव कम होगा, उनके आदर्शो में मूल रूप से परिवर्तन आएगा और वे अपने अधिकारी तथा माँगों के प्रति अधिक साहसपूर्वक खड़ी हो सकेगी ।

महिलाओं को अपने और अपने परिवार की जीवन दशाओं को अच्छा बनाने के लिए सहायता तथा संसाधनों की आवश्यकता ।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रो में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधी की आवश्यकता है अपेक्षाकृत शहरी महिलाओं के । साथ ही हमें सहमत होना पडेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता । केबल संयुक्त (cojunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है ।

16.10 सारांश

प्रस्तुत ईकाई से हमने जाना कि महिलाओं के अध्ययन की विधियां और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसकी आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक स्थिति । इसके अतिरिक्त उसकी स्थिति को प्रभावित करने वाले कारक और महिला से सम्बधित समस्याओं का अध्ययन और उसे दूर करने के प्रयास । आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तित परिपेक्ष्य और जुडी समस्याओं की जानकारी प्राप्त की । इस ईकाई के माध्यम से हमने महिलाओं के अधिकार और उनकी वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन भी जाना ।

16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 महिला अध्ययन से सम्बधित उपागमों की व्याख्या कीजिये ।

2 भारतीय महिला की प्रस्थिति का मूल्यांकन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कीजिये ।

3 महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करने वाले कारक कौन-कौन से है? इसमें परिवर्तन का

4 मूल्यांकन कीजिये ।

5 विभिन्न महिला अध्ययन के आधार पर महिलाओं की स्थिति आर्थिक परिप्रेक्ष्य में कीजिये।

6 महिलाओं के अधिकारों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये इस क्षेत्र के प्रयासों का विवरण दीजिये।

16.12 संदर्भ ग्रंथ

1 आहुजा राम, राईटस ऑफ बॉमेन. ए फेमीनिस्ट परस्पेकटीव रावत प्रकाशन जयपुर 1992

2 देसाई, नीरा, पटेल, विभूति इडियन बॉमेन रू चेंज एंड चैलेंज इन इंटर नेशनल डिकेड- 1975. 85ए पोपुलर प्रकाशन, बम्बई

3 अल्टेकर, ए.एस, द पोजिशन ऑफ बॉमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन मोतीलाल बनारसी,वाराणसी 1938 एवं 1956

4 चक्रबर्ती, के., द कानफ्लिटिंग वर्डस ऑफ वकीर्ग मदरस प्रोग्रेसिव पब्लिशर, कलकत्ता 1978

5 चाना करुना - सोशलाईजेशन एजूकेशन एण्ड बॉनेन एक्सप्लोरेशन इन जेन्दर आइडेनटिटि, ऑरियन्ट लांग मैन, नई दिल्ली

इकाई 17

विवाह परिवार एवं नातेदारी के स्वरूप

इकाई का रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 विवाह, परिवार एवं नातेदारी का अर्थ
17.3 विवाह की समाज शास्त्रीय अवधारणा
17.4 विवाह के उद्देश्य, प्रकार एवं निषेध
17.5 विवाह एवं परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त
17.6 परिवार से सम्बन्धित भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन व योगदान
17.7 भविष्य की और' संकेत
17.8 नातेदारी से सम्बन्धित भारतीय अध्ययन
17.9 सारांश
17.10 शब्दावली
17.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.12 संदर्भ ग्रंथ

17.0 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- वैध विवाह से अभिप्राय जान सकेंगे
- परिवार में विवाह के उपरान्त सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज के नवीन सदस्यों की भर्ती करता है जो मृत व्यक्तियों का स्थान लेते हैं यह समझ सकेंगे ।
- मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में योगदान के बारे में जान सकेंगे ।
- विवाह परिवार को और परिवार नातेदारी को स्थापित करता है अत: इनके पारस्परिक सम्बन्धों को ज्ञान हो सकेगा ।
- आविवाहित की तुलना में विवाहित व्यक्ति के नातेदारी सम्बन्धों की अधिकता का ज्ञान हो सकेगा ।

17.1 प्रस्तावना

भारत में परिवार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । सामाजिक संरचना में परिवार की केन्द्रीय स्थिति है । परिवार वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है । परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ हो परिवार से ही समाज का अस्तित्व बना है । यदि परिवार के बारे में यह कहा जाये कि परिवार ही समाज की आधारशिला हो तो इसमें कोई सन्देह नहीं । परिवार सन्तानोपत्ती द्वारा समाज के लिए नवीन सदस्यों की भर्ती करते रहते हैं और. इस प्रकार

समाज निरन्तरता बनाए रखते हैं । परिवार में मृत्यु और अमरत्व का सुन्दर समानव्य हुआ है । परिवार के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति मरता है तो उसका स्थान उसके बेटे, पोते लेते रहते हैं और परिवार का अस्तित्व बना रहता है । परिवार मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है । परिवार एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक संस्था रही है । प्रत्येक समाज में चाहे व आदिम हो या आधुनिक, पूर्व का हो या पश्चिम का, परिवार का अस्तित्व पाया जाता है । व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक संस्था रही है । जन्म लेते ही बालक परिवार का सदस्य बन जाता है । परिवार ही उसका समाजीकरण करता है । उसे सामाजिक मानव बनाता है और समाज को समर्पित करता है । जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारणत: व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता है ।

विवाह व्यवस्था परिवार संस्था के बाद स्थापित होती है । विवाह को स्त्री और पुरूष की भूमिकाओं की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है । जिनके संयोग को पति-पत्नी के रूप में समाज द्वारा मान्यता दी जाती है । इस व्यवस्था के संतुलन के लिए दो सहयोगियों के बीच अनुकूलन की आवश्यकता होती है । विवाह के महल पर शतपथ ब्राह्मण में प्रकाश डाला गया है । उसमें कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप से पति का अरदावश है । अत: जब तक पुरूष पत्नी नहीं प्राप्त करता एवं सन्तान उत्पन्न नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता । इसलिए भारतीय सामाजिक संस्थाओं में विवाह का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । हिन्दू विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, सामाजिक एकता, पारिवारिक सुख, सामाजिक कर्तव्यों की पालना करने के लिए स्त्री और पुरुष का निश्चित विधि विधान के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का साधन या धार्मिक संस्कार है हिन्दू विवाह स्त्री पुरूष का पीत-पत्नी के रूप में धर्म पुत्र प्राप्ति और रति आनन्द की पूर्ति के लिए परिवार की स्थापना की विधि है । जिसे तोड़ा नहीं जा सकता है । विवाह अनुस्थापन परिवार और प्रजनन परिवार के बीच की कडी है । दो एकाकी परिवारों में व्यक्तिगत सदस्यता का यह सत्य ही नातेदारी प्रथा को जन्म देता है ।

नातेदारी परिवार से सम्बद्ध आधार पर सामाजिक सम्बन्ध / नातेदारी वह सम्बन्ध है जो या तो समरक्त मूलक या दम्पत्ति स्वजन आधारित हो, व्यक्तियों के अधिकार व कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं । नातेदारी व्यवस्था परिस्थितियों, भूमिकाओ और सबको की एक ऐसी संचारित व्यवस्था हैं जिसमें नातेदार प्राथमिक 8 द्वैतीयक 33 तृतीयक 151 होते हैं तथा जटिल श्रृंखलाबद्ध बंधनो द्वारा परस्पर बंधे रहते हैं । नातेदार के बीच सम्बन्धो को बताने वाला पारस्परिक व्यवहार ऐसे शब्दों से संक्षिप्त होता है जिनके द्वारा प्रत्येक नातेदार एक दूसरे को सम्बोधित करता है, अर्थात् व्यक्तिगत नाम से या नातेदारी की शब्दावली से (पिताजी, दादाजी, बहिन जी या व्यक्ति व नातेदारी शब्दावली के सम्मिलित नाम से राम के पिता।, रीता की माँ) नातेदारी शब्द (सबोधन संदर्भ) जो प्रारंभिक द्वितीयक या तृतीयक हो सकते हैं । हिन्दुओं के सामाजिक समारोहों, संस्कारों और दैनिक जीवन में परिवार के बाद नातेदारी समूह ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । केवल संकट के समय ही नहीं अपितु नियमित अवसरों पर भी व्यक्ति अपने नातेदारों की सहायता लेते हैं ।

17.2 विवाह परिवार एवं नातेदारी का अर्थ

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पायी जाती है । प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हो अथवा नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है । वास्तव में विवाह परिवार की आधारशीला है । विवाह के माध्यम से ही हिन्दू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं घर बसाते हैं । अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पति एवं बालकों का पालन-पोषण करते हैं और उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में योगदान देते हैं ।

विवाह को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग रूप में परिभाषित किया है । इनमें प्रमुख समाजशास्त्रियों की परिभाषायें उल्लेखित हैं :-

वेस्टरमार्क :- विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानूनी स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने बाले व्यक्तियों के और उससे पैदा हुए सम्भावित बच्चों के एक-दूसरे के प्रति होने वले अधिकारों एवं कर्तव्यों का समादेश होता है ।

लूसी मेयर - विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री पुरूष का ऐसा योग है जिसमें स्त्री से जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध सन्तान माना जाये । इस परिभाषा में विवाह को स्त्री व पुरूष के ऐसे सम्बन्धो के रूप में स्वीकार किया गया है जो सन्तानों को जन्म देते हैं । उन्हें वैध घोषित करते हैं तथा इसके फल रूप माता-पिता एवं बच्चों को समाज में कुछ अधिकार एव परिस्थितियाँ प्राप्त होती है ।

डब्ल्यू एच आर. रिवर्स :- जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है । प्राथमिक समूहों में परिवार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । सामाजिक संरचना में परिवार की केन्द्रीय स्थिति हो परिवार वास्तव में समाज की आधार भूत ईकाई है । परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है और उस पर ही प्रत्येक समाज का जीवित रहना निर्भर रहता है ।

परिवार एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक संस्था रही है । प्रत्येक समाज में चाहे व आदिम हो या आधुनिक पूर्व का हो या पश्चिम का, परिवार पाया जाता है । व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक संस्था रही है । जन्मते ही बालक परिवार का सदस्य बन जाता है । परिवार ही मुख्यत: उसका समाजीकरण करता है उसे मानद बनाता है और समाज को समर्पित कर देता है । जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारणत: व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता है । इसे मानव का एक लघु समुदाय कहा जा सकता है । - मैकाइवर और पेज ने बतलाया है कि सभी प्राथमिक समूहों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार सबसे महत्वपूर्ण है । परिवार समाज की सबसे प्राचीन संस्था है । एक संगठन के रूप में परिवार आदिकाल से समाज में सदस्यों के लिए एक आवश्यक संस्था रही है । भारतीय शहरों की प्राकृतिक वृद्धि और ग्रामीण से शहरी की ओर व्यक्ति विशेष व परिवारों दोनों ही माध्यम से होने वाला विकास एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन की नींव डालता है जो भारत में विगत दशकों के दौरान घटित हुआ ।

परिवार को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग प्रकार से परिभाषित किया है ।

डब्ल्यु.एच आर.रिंवर्स - परिकर शब्द से हमारा आशय एक छोटे से सामाजिक समूह से है जिसमें माता-पिता तथा बच्चे सम्मिलित हैं । परिवार का जिक्र आने पर साधारणत: एकल परिवार की ही बात की जाती हैं । लेकिन भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में भारत के परिप्रेक्ष्य में संयुक्त परिवार का अर्थ बताना अधिक आवशयक है ।

डॉ आई पीं.देसाई के अनुसार - संयुक्त परिवार में पीढ़ियों की संरचना को विशेष महत्व देते हुए कहा है कि उस परिवार को हम एक संयुक्त परिवार कहते हैं, जिसमें अनेक पीढ़ियों के सदस्य साथ रहते हैं तथा सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों व दायित्वों के द्वारा एक दूसरे से संबंधित होते हैं । इस प्रकार संयुक्त परिवार अनेक पीढ़ियों के एक संबंधित तथा निकट संबंधियों की वह व्यवस्था है जिसमें समाजवादी आधार पर सभी सदस्य 'सामान्य सम्पत्ति का उपभोग करते हैं । साथ- -साथ निवास करते हैं और असीमित उत्तरदायित्व की भावना से ओत-प्रोत होते हैं ।

श्रीमती इरावती कर्वे के अनुसार - एक संयुक्त परिवार उन लोगों का समूह है जो साधारणत: एक ही भवन में रहते हैं जो एक ही रसोई में बना हुआ भोजन करते हैं जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं, जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न ' किसी प्रकार एक दूसरे से रक्त संबंधी है । इस परिभाषा के अनुसार संयुक्त परिवार में वे ही लोग सम्मिलित हो सकते हैं जो रक्त संबंधी हो जबकि वास्तविकता यह है कि किसी-किसी संयुक्त परिवार में कुछ अन्य संबंधी भी होते हैं जैसे पत्नी का भाई, बहिन अन्य कोई रिश्तेदार । यद्यपि परिवार की सम्पत्ति में इनका कोई हिस्सा नहीं होता तथापित इन्हें संयुक्त परिवार का सदस्य माना जाता है यह परिभाषा संयुक्त परिवार के संरचनात्मक आधारों को व्यक्त करती है । इसमें दो या दो से अधिक पीढ़ियाँ होती हैं ।

नातेदारी एवं विवाह का विषय मानव शास्त्रीय विचारधारा एवं अध्ययन पर एक लम्बे समय तक छाया रहा है । पिछले सौ वर्षो से इस विषय का विकाश हो रहा है । अनेक मान शास्त्रियों ने विश्व के विभिन्न भागों में बसने वाली जनजातियों के समाजों का अध्ययन किया है । मानव शास्त्र में नातेदारी का वही महत्व है जो दर्शन शास्त्र के लिए तर्क का है अथवा कला के लिए नग्नता का । वह विषय की मूलभूत साधना है वह उसके आकर्षण का एक अंग है । सम्पत्ति का हस्तान्तरण एव उत्ताराधिकार किसे होगा - इसका निर्धारण नातेदारों में वरीयता के आधार पर किया जाता है । नातेदारी एवं विवाह जीवन के आधारभूत तथ्य है यौन इच्छा विवाह' को जन्म देती है और विवाह परिवार एवं नातेदारी को । सृष्टि के प्रारंभ से ही जिन बातों ने व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । उनमें आर्थिक हित और सामूहिक सुरक्षा महत्वपूर्ण है ।

सामुहिक सुरक्षा की भावना से ही कई छोटे-मोट संघों के निर्माण की प्रेरणा दी जो परिवार से लेकर राष्ट्र तक है । समाज भाषा, धर्म, जाति एवं राष्ट्र के लोगों के बीच व्यक्ति अपने को अधिक सुरक्षित महसूस करता है, लेकिन इनमें भी अधिक सुरक्षित वह अपने को नातेदारों में पाता है । जिनके साथ उसके सामाजिक, नैतिक आर्थिक हित जुडे हैं । वह

राष्ट्रीयता, धर्म प्रदेश सभी बदल सकता है परन्तु नातेदारी नहीं इसमें रक्त का बंधन है दुनिया में ऐसे लोग बहुत कम ही है जो वंश कुलों की पहले से चली आयी कीर्ति या अपकीर्ति से प्रभावित न होते हों । हमें अपनी शालियों को जानने में गर्व का अनुभव होता है । लंबी वंशावली प्रतिष्ठा की सूचक है । आदिम और आधुनिक समाजों में पूर्वजों तथा नातेदारों के साथ सम्बन्ध सामाजिक संरचना के मूलभूत आधार रहे हैं वे धुरी के समान है जिन पर अधिकांश पारस्परिक क्रियाऐं, दावे एवं दायित्व, निष्ठा तथा मनोभाव घूमते हैं । नातेदारी को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है । प्रमुख समाजशास्त्रियों की परिभाषायें इस प्रकार है ।

डॉ. रिवर्स - "बधुत्व की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती हो' इस परिभाषा में नातेदारी को वंशाअली के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है।

लूसी मेयर - "बंधुत्व" में सामाजिक सम्बन्धों को जैविक शब्दों में व्यक्त किया गया है।

रॉबिन फॉक्स - नातेदारी की अत्यन्त सरल परिभाषा यह है कि नातेदारी केवल मात्र सर्वजन अर्थात वास्तविक, ख्यात अथवा कल्पित समरक्तता बाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है । इस परिभाषा में नातेदार में स्वजन, समरक्त बाले तथा कल्पना पर आधारित सबको की चर्चा की गई है!

17.3 विवाह की समाजशास्त्रीय अवधारणा

समाजशास्त्रियों द्वारा विवाह को स्त्री और पुरूष की भूमिकाओ की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जिनके संयोग को पति पत्नी के रूप में समाज मान्यता प्रदान करता है तथा उनके संयोग से उत्पन्न सन्तान को समाज वैध सन्तान का दर्जा प्रदान करता है ।

हिन्दू विवाह दूसरे, शब्दों में एक धार्मिक संस्कार है । जिसके धर्म (धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति) रति (यौन संतुष्टि) तथा सन्तान उत्पत्ति तीन प्रमुख उद्देश्य हैं । के.एम.कपाडिया ने अपनी कृति भारत में विवाह और परिवार में बताया कि हिन्दू विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में आज भी जारी है । यह केबल नैतिकता की सतह पर उठ गया है ।

अन्य प्राणियों से भिन्न मानव में यौन इच्छाओं की पूर्ति का आधार अंशत: दैहिक, अंशत: सामाजिक और अंशत: सांस्कृतिक है । यौन इच्छाओं की पूर्ति विवाह संस्था को जन्म देती है और विवाह परिवार एवं नातेदारी का आधार है । परिवार के बाहर भी यौन संतुष्टि संभव है परन्तु वह समाज द्वारा मान्य नहीं है और ऐसे अवैध संबन्ध को समाज अनुचित मानता है। कभी-कभी यौन असन्तुष्ट मनोवैज्ञानिक रूप सं व्यक्ति के लिये हानिकारक भी होती है ।

इस यौन इच्छा की पूर्ति किस प्रकार की जावे यह समाज ओर संस्कृति द्वारा निश्चित होता है । विवाह का उद्देश्य सदैव ही यौन सन्तुष्टि नहीं होता वरन् कभी-कभी तो विवाह केवल सामाजिक सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी किया जाता है जैसे सभा नागाओं में एक पुत्र अपनी सगी माँ को छोडकर पिता की अन्य विधवा स्त्रियों से विवाह करता है जो यौन सन्तुष्टि न होकर सांस्कृतिक मूल्य है । कुछ जनजातियों में आर्थिक जीवन विषम लिंगियों के बीच

सहयोग और श्रम विभाजन पर आधारित है । इस आर्थिक जीवन को बनाने हेतु स्थायी सामाजिक बन्धन अर्थात् विवाह में बंधना होता है । आर्थिक क्रियाओं को सामूहिक रूप से सम्पादन ने विवाह को अनिवार्य बना दिया इसलिये मजूमदार और मदान ने कहा है कि विवाह से वैयक्तिक स्तर पर शारीरिक (यौन) और मनोवैज्ञानिक (सन्तान प्राप्ति) सन्तोष प्राप्त होता है तो व्यापक सामूहिक स्तर पर इससे समूह और संस्कृति के अस्तित्व निर्वाह में योग मिलता है।

17.4 विवाह के उद्देश्य, प्रकार एवं निषेध

हिन्दू विवाह को पवित्र माना जाता है जिसके अनेक कारण बताये गये हैं - (1) धर्म विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य हे (2) विवाह समारोह में कुछ संस्कार शामिल है जैसे हवन कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि जिन्हें भी पवित्र माना जाता है (3) यह संस्कार पवित्र ब्राह्मणों द्वारा पवित्र वेद ग्रन्थों से मन्त्रोचारण के साथ पवित्र अग्नि देव की साक्षी से सम्पन्न होते हैं (4) बन्धन स्त्री व पुरूष के मध्य अटूट व अटल माना जाता है (5) स्त्री की पवित्रता और पुरूष की वफादारी पर बल दिया जाता है । आज भी विवाह की पवित्रता इस सत्य के बावजूद भी मानी जाती है कि विवाह सहचारिता के लिये होता है न कि कर्तव्य के पालन के लिये । परस्पर विकस और साथी के प्रति वफादारी आज भी विवाह के आवश्यक तत्व माने जाते हैं । हिन्दू संस्कृति में विवाह आध्यात्मिक अनुभूति के लिये स्त्री पुरूष के बीच आत्मिक बंधन (Spiritual Union) है ।

विवाह के प्रमुख 8 प्रकार है जिनमें से प्रथम चार गंधर्व (समाज की मान्यता प्राप्ति से पूर्व ही यौन व्यवहार में प्रदेश), असुर विवाह (ली को भगा ले जाना), राक्षस विवाह (स्त्री को घर से जबरदस्ती ले जाना) और पैशाच विवाह (सोई हुई स्त्री को नशे में या असन्तुलित मस्तिष्क की अवस्था में उसका शील भंग करना) अधार्मिक विवाह की कोटि में आते हैं जबकि शेष चार ब्रह्म विवाह, देव विवाह (स्त्री का विवाह किसी पुजारी, धनवान या बुद्धिमान व्यक्ति से जो कुलीन वर्ग में आता हो), प्रजापत्य (यौन तष्टि और सन्तान के जैविक कार्यो के उद्देश्य से सम्पन्न विवाह) और आर्य (बुद्धिमान व चरित्रवान व्यक्ति से विवाह (ऋषि) जो कि विवाह का इच्छुक न हो ताकि वह बुद्धिमान सन्तान प्राप्त करसके और अच्छा घरेलू वातावरण प्राप्त कर सके) धार्मिक विवाह की कोटि में आते हैं ।

हिन्दू समाज में जीवन साथी के चयन संबंधी नियम अर्न्तविवाह बर्हिविवाह और अनुलोम विवाह प्रमुख है । अन्तर्विवह सामाजिक कानून के अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति या उपजाति में से जीवन साथी का चयन करना होता है । बहिर्विवाह सगोत्र व सीपण्ड समूह से जीवन साथी के चयन का निषेध करता है और अनुलोम विवाह के अनुसार उच्च जाति का लड़का निम्न जाति की लडकी से तथा लडकी इसके विपरीत विवाह कर सकते हैं । प्रारंभिक समाजों में जाति अन्तर्विवाह क्रियात्मक था क्योंकि इससे जाति के व्यवसायिक भेद, सुरक्षित रहते थे और जातिगत एकता कायम रहती थी लेकिन वर्तमान में वैवाहिक अनुकूलन को सरल बनाने के अलावा इसके नुकसान अधिक दृष्टिगोचर हो रहे हैं । फलत: जाति अन्तर्विवाह विकार्यात्मक हो गया है इससे अन्तर्जातीय तनाव पैदा हो रहे हैं जिससे देश की राजनीतिक एकता को दुष्प्रभावित करता है । जीवन साथी के चयन के क्षेत्र को सीमति व परिस्थिति परक

बना देता है और दहेज, बालविवाह हत्या जैसी भीषण समस्यायें पैदा हो रही हैं । वर्तमान में जीवन साथी के चयन के तीन बिन्दु देखे जाते हैं, चयन कौन करता है? चयन का आधार क्या है? और चयन के क्षेत्र क्या है? पहले जीवन साथी का चयन माता-पिता करते थे लेकिन अब बच्चे सम्मिलित चयन (माता-पिता व बच्चे) में विश्वास करते हैं ।

17.5 विवाह एवं परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त

विवाह द्वारा ही पीरवार बनता है, परिवार की आधारशिला विवाह द्वारा ही रखी जाती है । अत: विवाह और परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त पृथक कैसे हो सकते हैं? अत: जो परिवार उत्पत्ति के सिद्धान्त होंगे वे ही विवाह की उत्पत्ति के भी होंगे ।

(1) शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory) प्लेटो और अरस्तु इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता हैं इन्होंने ग्रीक रोमन और यहुदी परिवारों का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि परिवार का आदिम सरूप पितृसत्तात्मगक था ऐसे परिवारों में पुरूषों की प्रधानता थी । 1861 में इस विचारधाराका समर्थन सर हेनरीमेन ने भी किया और बताया कि परिवार का प्रारंभिक रूप न केबल पितृसत्तात्मक था अपितु पितृस्थानीय एवं पितृवशीय भी था । भारत इसका सर्व उपयुक्त उदाहरण है । स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन के फलस्वरूप पितृसजालक परिवार मातृसलालक में बदल गये । इस सिद्धान्त के आलोचकों की मान्यता है ' कि यह सिद्धान्त एक क्षेत्र विशेष के लिये सही हो सकता है परन्तु इसे सार्वभौमिक रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

(2) यौन साम्यवाद का सिद्धान्त - (Theory of Sex Communism) मॉर्गन, फ्रेजर एह ब्रिफॉल इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं । जिनकी मान्यता है कि समाज में प्रारंभ में विवाह और परिवार जैसी संस्थायें नहीं थी और मानव भी पशुवत स्वच्छन्द यौन संबंध स्थापित कर सकते थे । कोई भी पुरूष किसी भी स्त्री से यौन सम्पर्क कर सकता था जिसे यौन साम्यवाद (Sexual Communism) या कामाचार (Promiscuity) की अवस्था कहा । विवाह और परिवार जैसी संस्थाओं का विकास तो बाद के युगों में हुआ था । अपने सिद्धान्त की पुष्टि हेतु इन्होंने बताया कि त्यौहारों के अवसर पर स्वेच्छाचार, पत्नी विनिमय (Exchange of Wife), पत्नी को अतिथि सत्कार के लिये पत्नियों को प्रस्तुत करना । वर्गात्मक स्वजन शब्दावली के अन्तर्गत कई जनजातियों में एक आयु के अनेक लोगों को एक ही सम्बन्ध संज्ञा द्वारा सम्बोधित किया जाता है । जैसे पिता, चाची ताई आदि को एक ही नाम से पुकारते हैं । उसी प्रकार से माँ, चाची, ताई एवं मौसी को भी एक ही नाम से पुकारते हैं । इस आधार पर मॉर्गन कहते है कि यह इस बात का सूचक है कि प्रारंभ में समूह विवाह रहे होंगे और इस समूह के लोगों को दूसरे समूह के लोग एक ही शब्द संज्ञा से पुकारते थे ।

(3) एक विवाह का सिद्धान्त (Theory of Monogamy) - मानद विवाह का इतिहास नामक पुस्तक में वैस्टरमार्क ने अपना एक विवाह का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है । इन्होंने यौन साम्यवाद की आलोचना की और कहा कि स्त्री पुरूष के यौन सम्बन्ध स्थापित करने की निर्बाध स्वतंत्रता वाली स्थिति हो ही नहीं सकती । डार्विन का कहना है कि परिवार का

जन्म पुरूष के आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना के कारण हुआ जिसका वेस्टदर मार्क ने समर्थन किया और कहा कि पुरुष स्वभाव से ही ईर्ष्यालु है, वह स्त्री पर सम्पत्ति की भाँति ही अपना एकाधिकार चाहता है । अपनी शक्ति के कारण वह इस एकाधिकार को बनाये रखने में सफल भी हुआ जिसे सामाजिक मीकृति मिलने के कारण वह एक विवाह की प्रथा बन गयी । इस सिद्धान्त का समर्थन गुकमरमैन तथा मैलिनॉस्की ने भी किया और बताया कि मनुष्य पशु अवस्था से ही एक विवाही था अन्य प्रथायें तो बीमारी के रूप में समाज में यदाकदा रही है ।

(4) मात्रसत्तात्मक सिद्धान्त (Matriarechal Theory) - इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रिफाल्ट ने अपनी कृति द मदर्स (The Mother) में किया । उन्होंने वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए बताया कि आदिवासी पुरूषों में ईर्ष्या की भावना व एकाधिकार की प्रवृत्ति ने एक विवाह प्रथा को जन्म नहीं दिया । आदिवासियों में तो समूह विवाह का प्रचलन है । यदि उनमें ईर्ष्या की भावना होती तो समूह की स्त्रियों का सभी पुरूष उपभोग कैसे करते? इन्होंने बताया कि मातृसत्तात्मक परिवार एवं मातृवंशिये परिवार में प्रारंभ में यौन सम्बन्ध बहुत अधिक निश्चित नहीं थे । अत: स्त्री व पुरूष की तुलना मे माता व पुत्र के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ थे । शिकार की तलाश में पुरूष काफी दूर निकल जाता तथा भटकने पर कभी-कभी वापस लौटकर भी नहीं आता । ऐसी व्यवस्था में सन्तान के लालन पालन का भार माता पर ही था अत: माता का परिवार में महत्व बढने के साथ माता व सन्तान की निरन्तर बनी रहने वाली आर्थिक व सामाजिक आवश्यकता ने ही परिवार को जन्म दिया । स्त्री ने अपनी मूल प्रवृत्तियों का अनुकरण करते हुए पुरूष पर विजय प्राप्त की और पुरूष अपने यौन सातों के कारण परिवार का हिस्सेदार बन गया । स्त्री के बुलावे पर ही पुरूष को परिवार में बसाया और इस प्रकार मात्रसत्तात्मक परिवार अस्तित्व में आये जिनमें स्त्रियों का महत्व बढ गया । बेकोफन और टायलर इस सिद्धान्त के समर्थक है ।

(5) उद् विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory) - मेकलेनन, लुकोक तथा तयोलर आदि के योगदान के साथ इस सिद्धान्त के मुख्य निर्माता बेकोफन / बेकोफन ने परिवार के उद्विकासीय क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया -

(1) प्रथम अवस्था में पारिवारिक जीवन अनिश्चित शिथिल था तथा कामाचार मौजूद था । माता पुत्र के सम्बन्ध स्थित और निश्चित थे । बच्चे अपने पिता से अनभिज्ञ थे । समूह के सभी पुरुषों से संरक्षण की अपेक्षा की जाती थी ।

(2) दूसरी अवस्था में प्रकृति आश्रित होने के कारण पुरूषों की तुलना में स्त्रियाँ अधिक कमजोर थी । बालिका बंधन के कारण स्त्रियों की संख्या कम होने से बहुपति प्रथा प्रारंभ हुई । भरण पोषण हेतु स्त्रियों को कई पुरूषों पर आश्रित रहने के कारण बहुपति विवाही परिवारों को बल मिला ।

(3) तीसरे चरण में कृषि अवस्था के प्रारंभ होने के कारण खेती में अधिक स्त्रियों की आवश्यकता के कारण बालिका वध का समापन होने लगा और कृषि हेतु अधिक श्रम की आवश्यकता ने पुरूष को अधिक स्त्रियों से विवाह को बढ़ावा दिया जिससे बहु पत्नी विवाही

परिवार अस्तित्व में आये । अधिक स्त्रियाँ रखना पुरूष के लिये प्रतिष्ठा का सूचक माना जाने लगा ।

(4) सभ्यता व संस्कृति के उदय के साथ साथ विवाह एवं परिवार संबंधी विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन चौथे चरण में देखने को मिला । स्त्री पुरूष के समान अधिकार, सामाजिक न्याय व नैतिक विचारोंने एक विवाही परिवार की पुष्टि की ।

लुई मॉर्गन ने उदाविकासीय सिद्धान्त को कुछ चरणों में बताया । प्रमुख चरण में समरक्त परिवार, समूह परिवार सिण्डेश्यिमन परिवार, पितृसात्मक परिवार, एक विवाही परिवार सम्मिलित है ।

(5) मूलरलियर का सिद्धान्त - मूलरीलयर परिवार की उत्पत्ति के इतिहास को 3 भागों में बांटते हैं (1) गोत्र काल (Clan Period) (2) परिवार काल (Family Period) (3) व्यक्तिगत काल (Personal Period) । इस विभाजन का समर्थन बट्रेण्ड रसल (Betrand Russel) ने भी किया है ।

17.6 परिवार से संबंधित भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन व योगदान

परिवर्तन की शक्तियों के प्रभाव के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त परिवार शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे, लेकिन शोध कार्यो के आधार पर जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं उनसे तो ऐसा पूर्ति होता है कि न तो यह संस्था समाप्त हुई है और न ही निकट भविष्य में इसके समाप्त हो जारने की कोई संभावना है । नागरिक क्षेत्रों में रहने वाले शिक्षित लोग तक इसे बनाये रखने के पक्ष में है । आज भी अधिकांश लोग संयुक्त परिवार को बनाये रखने में सहमत हैं चाहे वह अनपढ़ हो या शिक्षित आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के बावजूद भी लोगों के दृष्टिकोण संयुक्त परिवार के पक्ष में है ।

डॉ.के.एम.कपाडिया ने 513 ग्रेजूएट लोगों के साथ किए गए साक्षात्कार के आधार पर बताया कि इनमें 57.3 प्रतिशत लोग संयुक्त परिवारों में रह रहे थे । संयुक्त परिवार में रहने वाले इन लोगों में से 86 प्रतिशत लोगों ने इसे एक अच्छी व्यवस्था माना और 83.3 प्रतिशत लोगों ने संयुक्त परिवार में ही रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की । केवल 11.9 प्रतिशत ग्रेजूएट ही ऐसे पाए गए जो इसे अच्छी व्यवस्था नहीं मानते थे और इसे बनाये रखने के विरूद्ध थे इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षित हिन्दुओं में करीब तीन चौथाई लोग अब भी संयुक्त परिवार में रहते हैं और शिक्षित लोगों का आठवां भाग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट है । इस अध्ययन में शिक्षित लोग संयुक्त परिवार के पक्ष में पाए गए ।

के.टी.मर्चेन्ट द्वारा विवाह और परिवार के सम्बन्ध में 446 ग्रेजूएट और 152 बिना ग्रेजूएट लोगों के बदलते हुए दृष्टिकोण का अध्ययन किया गया उसके आधार पर पाया कि सम्पर्क किए गए कुल लोगों में से 56 प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहते हैं ग्रेजुएट लोगों में संयुक्त परिवार में रहने वालों का प्रतिशत 62.1 और बिना ग्रेजुएट लोगों में यह प्रतिशत 38.5 ज्ञात हुआ । इस अध्ययन द्वारा पता चला कि संयुक्त परिवार में रहने वाले लोगों में से 43.2 प्रतिशत लोगों ने संयुक्त परिकर के पक्ष में और 36.5 प्रतिशत लोगों ने विपक्ष में अपना मत व्यक्त किया था ।

आई.पी.देसाई ने अपने गुजरात के महुआ नामक नगर में परिवार में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में 410 परिवारों के अध्ययन के आधार पर महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। उस परिवार को एकाकी परिवार माना है जिसके सदस्य दूसरे बन्धुओं से सम्पत्ति आय या इनसे संबंधित उाधिकारों एवं कर्तव्यों द्वारा संबंधित न हो जैसी कि बंधुता से सम्बद्ध लोगों से अपेक्षा की जाती है । दूसरी ओर परिवार को ही संयुक्त परिहार कहा है एवं कुल व्यक्तियों की संख्या में से केवल 23 प्रतिशत लोग ही एकाकी परिवारों को मानते हैं एवं 77 प्रतिशत व्यक्ति संयुक्त परिवार को मानते हैं । यद्यपि युवा पीढ़ी अक्सर संयुक्त परिवार के वातावरण की शिकायत करती है तथा साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह संयुक्त रूप में रहने के कुछ लाभों के प्रति जागरूक हैं आर्थिक सहायता संकट की परिस्थितियों में आश्रय, छोटे बच्चों का उचित पालन पोषण पति-पत्नी में संघर्ष की स्थिति में निरोधक प्रभाव आदि । संयुक्त परिवार अब भी अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के योग्य है ।

एम.एस.गौरे ने शहरी और ग्रामीण दोनों प्रकार के परिवारों का अध्ययन किया । अध्ययन हेतु हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के 399 अग्रवाल परिवारों को मुख्य निदर्शन के लिए और दिल्ली क्षेत्र के 100 अग्रवाल परिवारों को सहायक निर्देशन के रूप में चुना । अध्ययन के आधार पर ये निकर्ष निकाले प्रथम निर्देशन समग्र संयुक्त पारिशीरक प्रतिमान के अनुरूप है, द्वितीय अनुरूपता के इस यापक प्रतिमान के अन्तर्गत नगरीय निवास एवं शिक्षा ने कुछ मात्रा में विभेद आरंभ किया है । अग्रवाल परिवारों के अध्ययन के आधार पर कुछ और भी निकर्षा को उल्लेखित किया है । यदि संयुक्त परिवार संबंधी उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें संरचनात्मक दृष्टि से कुछ परिवर्तन आ रहे हैं । लेकिन अभिवृत्ति संबंधी परिवर्तनों का आना कठिन है ।

एल.एन.डी. रॉस ने बंगलौर के नगरीय क्षेत्र में मध्यम तथा उच्च वर्ग के 157 पुरूषों तथा स्त्रियों के लिए गए साक्षात्कार के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि यदि प्रौद्योगिकी शक्तियाँ पूर्ण संस्था में पारिवारिक संरचना पर अतिक्रमण करती है । उच्च शिक्षा के अवसर, बड़ी हुई महत्वाकांक्षाएँ, उच्च व्यवसायिक गतिशीलता, रहन-सहन के उच्च स्तर की इच्छा, अधिक व्यक्ति वादिता और अधिक स्वतंत्रता छोटी पारिवारिक इकाईयों को प्रोत्साहित करती है ।

ए.एम.शाह ने गुजरात के राघवनाज ग्राम के परिवारों के अपने अध्ययन तथा साथ ही सम्बन्धित साहित्य की समीक्षा के आधार पर बतलाया. है कि पैतृक नातेदारों तथा उनकी पत्नियों का निवासी एकता का सिद्धान्त नीचा तथा कम संस्कृति कृत जातियों में कमजोर है और उच्च तथा अधिक संस्कृति कृत जातियों में मजबूत है । शाह की मान्यता है कि उच्च जातियों में निम्न जातियों की तुलना में संयुक्त परिवार अधिक पाये जाते हैं ।

श्रीमती पॉलिन एम.कोलिण्डा ने अपने अध्ययनों के आधार पर भारत में पाये जाने वाले बारह किस्म के परिवार बताये हैं - अकेले व्यक्ति वाला परिवार, उप नाभिक परिवार संपूरक उप नाभिक परिवार, नाभिक परिवार संपूरक नाभिक ' परिवार, वंशानुगत संयुक्त परिवार, सयुक्त दंशानुगत संयुक्त परिवार, समानान्तर संयुक्त परिवार, संपूरक समानान्तर संयुक्त परिवार, वंशानुगत समानान्तर संयुक्त परिवार, संपूरक वंशानुगत समानान्तर संयुक्त परिवार । अन्य

परिवार के कोलिण्डा ने विभिन्न प्रदेशों तथा समूहों में संयुक्त परिवार नाभिक किस्म के परिवारों के विभिन्न मात्रा में पाये जाने की व्याख्या परिवार के सिवर्जन या टूटने की प्रक्रिया के रूप में की है । भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों के अध्ययन से परिवार के छने के तीन भिन्न-भिन्न प्रीतमानात्मक समय उभरते हैं । प्रथम प्रीतमानात्मक विघटन लड़कों के विवाह के कुछ महिनों या वर्षा में होता है । शमीरपत तेलगांना के लिए दुबे, नामहाली मैसूर के लिए बील्स आमालाई कालार के लिए डू मोन्ट तथा बीसीमार के लिए बेली द्वारा वर्णित द्वितीय प्रतिमान पिता की मृत्यु पर अथवा इसके शीघ्र बाद में विवाहित भाईयों का पृथक होना है । एक तीसरा प्रतिमान एक संयुक्त परिवार का टूटना है जब उसके प्रधान विवाहित भाई हो, जो कुछ वर्षो से अपने परिवारों सहित इकट्ठे रह रहे हों, या उस समय भी जब परिवार के प्रधान के रूप में प्रथम चचेर भाई हो । यह प्रतिमान सेनापुर, उत्तर प्रदेश के ठाकुरों में दिखलाई पडता है ।

आन्द्रे बैतई - ने भारत में पारिवारिक जीवन और पारिवारिक संरचना के संबंध में अध्ययन किया है । भारत में परिवार का परम्परागत संयुक्त प्रकार का रहा है । संयुक्त परिवार व्यवस्था भारतीय सामाजिक और आर्थिक अवस्था के अनुकूल है और धर्म ने भी संयुक्त प्रकार की जीवन व्यवस्था बनाये रखने में योग दिया है । बताया कि हिन्दु समाज में अलग-अलग क्षेत्रों में परिवार की संरचना भिन्न भिन्न रही है । यह मान्यता की सम्पूर्ण हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता रहा है, वास्तविकता की दृष्टि से सही नहीं है बड़े संयुक्त परिवार जिनको हम परम्परागत रूप से हिन्दु समाज के विशिष्ट लक्षण के रूप में मानते हैं वास्तव में उसके किसी भाग से सम्बन्धित रहे हैं । उत्तरी भारत के गाँवों में बडे संयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमि हर तथा भू-स्वामी जातियों से ही परम्परागत रूप से संबंधित रहे हैं । कुछ व्यापारिक समुदाय भी बड़े परिवारों से सम्बद्ध दिखलाई पडते हैं । इन वर्षो में किए गए अध्ययनों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भू-स्वामी जातियों में बडे परिवार अधिक सामान्य है, जबकि निम्न जातियों में नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक है । स्पष्ट है कि भारतीय परम्परागत सामाजिक संरचना में विभिन्न प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

सन् 1951 की जनगणना में यह पाया गया कि हम सदस्यों वाले परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है । इस आधार पर जनगणना कमिश्नर द्वारा यह मत दिया गया कि भारत में संयुक्त परिवार विघटन प्रक्रिया में है । यहाँ केबल शहरों में ही नहीं बल्कि गाँवों में भी संयुक्त परिवार का विघटन तेजी से हो रहा है । जनगणना संबंधी आकड़ों के आधार पर निकाले गये इन निष्कर्षो की अनेक समाजशास्त्रियों द्वार काटू आलोचना की गई है । केबल सम्मिलित निवास स्थान एवं परिवार के आकार के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि संयुक्त परिवार विघीटत हो रहे हैं तार्किक दृष्टि से उचित नहीं है । यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार विधटित नहीं हो रहे है यह वर्तमान में भी सशक्त है ।

17.7 भविष्य की ओर संकेत

सामाजिक संरचना में परिवर्तन सामाजिक नैतिक मूल्यों में संघर्ष, भूमिकाओं में परिवर्तन, भूमिकाओं की अधिकता, पारस्परिक अपेक्षाओं की पूर्ति बाधा, आर्थिक कारक आदि अनेकानेक कारण पारिवारिक जीवन शैली को प्रभावित करते हैं, जिनके यातायात और संचार का

विकास भी प्रमुख है । बीसवीं शताब्दी के आरंभिक समय, से ही बडी-बडी सडकों एवं रेल मार्गो के द्वारा देश के विभिन्न स्थानों को एक दूसरे से मिलाने के लिए संगठित प्रयत्न किये गये हैं और इस प्रकार व्यक्ति का कार्य करना परिहार से बहुत दूर रहकर भी संभव हो गया । इस तरह परम्परागत पारिवारिक संयुक्तता का हास होने लगा ।

भारत में परिवार पर कोई भी दृष्टिकोण या तो युवाओं के मतों का सर्वेक्षण या विविधपीरवार ढांचों के आम लोगों की राय का सर्वेक्षण करके या शहरी ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न वर्गो और जातियों के लोगों के सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण करके आधुनिकता में परम्परा के वैचारिक पैमाने पर विकसित किया जाता है अब तक भारतीय परिवार पर किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि भविष्य में कुछ परिवर्तन होने जा रहे हैं । भारत में परिवार के भविष्य का प्रश्न दो पक्षों से सम्बद्ध है । (1) संयुक्त परिवार का क्या भविष्य है (2) संस्था के रूप में परिवार का भविष्य क्या है । प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध हमारे समाज में संयुक्त परिवार पूर्ण रूप से कभी भी एकाकी परिवार में नहीं बदलेगा । केवल संयुक्तता का स्वरूप ही आवासीय प्रकार्यात्मक में बदलेगा और सयुक्त परिवर का आकार भी दो या तीन पीढ़ियों के बाद कम होगा । परिवार के संस्था रूप में भविष्य को बदलने में व परिवार कों प्रभावित करने बाले चार तत्व महत्वपूर्ण है । प्रौद्योगिकीय क्रान्ति, जनसंख्या क्रान्ति, लोकतांत्रिक क्रान्ति, धर्म निरपेक्ष क्रान्ति । इन कारणों से परिवार का भविष्य एकाकी परिवार की ओर बढ सकता है ।

परिवार में हो रहे इन सभी परिवर्तनों का प्रमुख कारण भी यह है कि आज पति-पत्नी अपने जीवन से, अपनी महत्वाकांक्षाओं से अपने कर्तव्यों से संतुष्ट नहीं हैं और न ही इस प्रतिस्पर्धा के युग में कोई वर्ग परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं से अछूता है । पारिवारिक प्रतिमानों में परिवर्तन भी स्वाभाविक है जब समस्त दिशाओं में चारों तरफ विकास और परिवर्तन की ही लहर है तब व्यक्ति उन सभी आकर्षणों के प्रभावों से पृथक कैसे रह सकता है । उसे तो परिवार और समाज में ही रहकर अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करनी है । समय की तीव्र धारा में परम्परागत मूल्य भी परिवर्तित होने लगे हैं । विकास प्रगति और परिवर्तन की प्रक्रियाओं ने परम्परागत संयुक्त परिवार के स्वरूपों को ही बदल डाला है ।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर परिवार पर दूसरा दृष्टिकोण मार्क्सवादी है । मार्क्सवादी विद्वान परिवार को संरचनात्मक एवं लिंग सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं । वे परिवार में पुरूष प्रधानता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझते हैं । उनकी परिकल्पना है कि मानव के सामाजिक विकास सम्बन्धों घुमकड अवस्था में पुरूष केवल आरंभ करने का काम करते थे और अलग से न तो कोई यौन वर्चस्व अथवा निजी सम्पत्ति होती थी धीरे-धीरे पुरूष कार्यकलापों का क्षेत्र विशिष्ट होता गया और शिकार के साथ-साथ उन्होंने मवेशी जनन खान खोदना और व्यापार का काम भी ले लिया इसी प्रकार वह अपने जीवन को व्यतीत एव चला गया मार्क्सवादी मानते हैं कि भविष्य में भी परिवार जीवित रहेगा लेकिन परिवर्तन होंगे । यह दृष्टिकोण राजनैतिक है और महिला मुक्ति इसकी आन्तरिक भावना है दूसरे शब्दों में परिवार नहीं टूटेगा। यह केबल अपने को अनुकूलित कर लेगा ।

नवीन परिवर्तन आवश्यक हैं किन्तु उनकी अन्तिम कसौटी यह है कि उनके द्वारा परिवार का संगठन सुदृढ़ हो सके । परिवार केबल सहयोग एवं प्रेम पर आधारित है विरोध और

संघर्ष पर नहीं । परम्परावादी हिन्दु परिवार संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से सम्मिलित थे । लेकिन अब हिन्दु परिवार संरचना एवं प्रकार्य दोनों ही दृष्टि से परिवर्तित हो चुके हैं । परिहार का आकार सिमटता जा रहा है तथा पारिवारिक सदस्यों की स्थिति एवं कार्य बदलते जा रहे हैं ।

17.8 नातेदारी से सम्बन्धित भारतीय अध्ययन

नृशास्त्र एवं समाजशास्त्र में नातेदारी का अध्ययन काफी समय से होता आ रहा है । आदिम समाजों के अध्ययनों के संदर्भ में नातेदारी को सामाजिक संरचना का आधार माना गया। अत: उन समाजों की संरचना विश्लेषण के लिये नातेदारी को समझा जाना आवश्यक हैं । सामाजिक संरचना एवं नातेदारी व्यवस्था काफी हद तक पर्यायवाची से हो गये हैं । यहाँ तक कि नातेदारी व्यवस्था का अध्ययन अपने आप में एक स्वतन्त्र विषय माना जाने लगा । जब आदिम समाजों से परे ग्रामीण कृषक समाजों एवं जटिल औद्योगिक नगरीय समाजों की संरचना का अध्ययन किया गया तो यह विचार सामने आया कि नातेदारी व्यवस्था समाज की अन्य संस्थाओं की भाँति ही एक महत्वपूर्ण संस्था है । वैसे भी अध्ययनों से पता चलता हे कि नातेदारी विश्वव्यापी संस्था है, जिसका लेखा-जोखा प्रत्येक व्याक्ति की दृष्टि से होता है । इस दृष्टि से भी नातेदारी एक सापेक्षिक सम्बोधित है । अर्थात् एक व्याक्ति की नातेदारी दूसरे अन्य व्यक्ति विशेष के नाते से ही अस्तित्व में आती है । बेटी का होना तभी संभव होगा जब माँ होगी, बहिन का रिश्ता भाई के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है । व्याक्ति वीशेष के लिये नातेदारी प्राय: दिवपक्षीय होती है । जिसमें कुछ रिश्ते एक नातेदारी की तरफ से होते हैं तो अन्य दूसरी नातेदारी की तरफ से स्थापित होते हें और उनका निर्वहन होने पर ही नातेदारी स्थापित होती है ।

उत्तर भारत के विभिन्न भागों में किये गये नवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों से ज्ञात होता है कि सामाजिक समूह जैसे पितृवत परम्परा एवं जाति / उपजाति के तहत लोगों में सहयोग या संघर्ष होता है । पिता से पुत्र की परम्परा में वश चलता है, यही विशेष कारण है कि प्राय: हर परिवार में पुत्र जन्म की लालसा बनी रहती है और पुत्री के: जन्म को मनाना तो दूर उसके जन्म पर मातम मनाया जाता है । प्रत्येक परिवार के पास अपने पुरखों की वंशावली, होती है । उत्तर भारत में काफी परिवारों की वंशावलियों हरिद्वार के पंडों के पास मिल जायेगी । पंडे हर तीर्थ यात्री के परिकर के वंश में वृद्धि का लेखा-जोखा अपनी बहियों में -दर्ज करते रहते हैं । नृशास्त्र में प्रयुक्त नातेदारी के आरेख भी तकरीबन वही है, जो पप्णेअपनी बहियों में बनाते हैं । ऐसी वंशावलियाँ बनाना व उन्हें संभालकर सुरक्षित रखना हमारी सांस्कृतिक परम्परा का अंग है । इन वंशावीलयों में शीर्षस्थ पुरूष पूर्वज से वर्तमान पुरुष वंशज तक की पूरी परम्परा का विवरण होता है । वंश के समवर्ती (Collatural) पुरूषों के परिवारों के नाम भी इसमें लिखे जाते हैं । प्रत्येक व्याक्ति के नाम के साथ उसके निवास स्थान का नाम भी दिया जाता है । इन वंशावलियों में महिलाओं का नाम यदि दिया जाता है तो केबल पत्नी की परिस्थिति में दंश पुत्री का नाम प्राय: न तो लिखाया जाता है और न ही लिखा जाता है । पत्नी का नाम भी बस बिना किसी अन्य विस्तृत जानकारी के केबल दर्ज मात्र कर लिया जाता

है । उसकी कोई विशेष महत्ता नहीं होती । केबल उन स्थितियों में जहाँ पुरूष का एक से अधिक विवाह हो तथा एक से अधिक पत्नी से संतानें हो तो यह तथ्य सम्पत्ति की दाय प्राप्ति के संदर्भ में चर्चा के योग्य माना जा सकता है ।

नृशास्त्र में वंशावली के माध्यम से नृशास्त्रीय सामग्री एकत्रित करने की विधि को रिवर्स ने ही शुरू किया था । उनके अनुसार वंशावीलयों के माध्यम से समुदाय के सामाजिक संगठन को अच्छी तरह से समझा जा सकता है । दक्षिण भारत 'में परिवार, विवाह और नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन के लिए इन्होंने जिस क्षेत्र को लिया है, उसमें कर्नाटक, आक प्रदेश' तमिलनाडु और केरल प्रदेश आते हैं । इन राज्यों में द्रविड परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं और इनमें पर्याप्त रूप से समान नातेदारी संगठन दिखाई देने के बावजूद, उदर भारत की तरह दक्षिण में भी परिवार और विवाहजन्य सम्बन्धों से निर्मित ताने-बाने के सरूप में वीविधता पाई जाती है । उत्तर भारत के समान, दक्षिण भारत में भी अपने परिवार के सदस्य पितृवंश परम्परा के सदस्य होते हैं और इन नातेदारों के बीच काफी घनिष्ठता व सहयोगिता पाई जाती है । इस घनिष्ठता / सहयोगिता के पीछे आवास का नियम है । एक पितृवंश के वंशज प्राय: एक ही क्षेत्र में पास-पास के घरों में रहते हैं, इस तरह समान क्षेत्र एवं समान दंश के आधार पर नातेदारी समूहों की रचना होती है । ऐसे समूह दक्षिण एवं उत्तर भारत दोनों में पाए जाते हैं । उदाहरणार्थ कैथलीन गऊ (1955) ने अपने अध्ययन में तंजौर जिले में कुम्बपेटटई ग्राम के ब्राह्मणों के पितृवंश परम्परा वाले नातेदारी समूहों का वर्णन किया है ।

जैविक और सामाजिक दोनों रूपों से सन्तान के लिए पिता एक ही व्यक्ति होता है, परन्तु यदि दत्तक सन्तान का उदाहरण ले तो स्पष्ट हो जाता है कि जन्मदाता पिता तथा पोषक पिता अनिवार्यत: एक ही व्याक्ति नहीं होता । इरावती कार्य. ने महाभारत में पिता की सामाजिक भूमिका व जैविक आधार में विषमता के अनेक उदाहरण दिये हैं । नातेदारी शब्दावली की चर्चा करते हुए कर्वे ने बताया कि स्थान (Teritory), प्रभुत्व (Dominance) और पुरुष की पोषक भूमिका के आधार पर विभिन्न श्रेणियों के व्यक्ति परिवार के मान्य सदस्य हो जाते हैं, चाहे उनसे जैविक सम्बन्ध हो या न हो । श्नाइडर ने नातेदारी की परिभाषा देते हुए बताया कि जैविक तत्व प्रतीक का जामा ओढ़ लेते हें और ऐसे में नातेदारी सम्बन्धों की पद्धति प्राय: जैविक सम्बन्धों के आदर्श पर बने सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने से परिभाषित होती है ।

नातेदारी शब्द में समरक्तता तथा विवाह दोनों से उपजे सम्बन्धों को सम्मिलित किया जाता है । अतएव किसी भी नातेदारी पद्धति के अध्ययन में दोनों समरक्तता एवं विवाह के सम्बन्धों पर विचार किया जाता है, अत: नातेदारी में नाते एवं रिश्ते दोनों से बने सम्बन्ध सम्मिलित हैं । जहाँ एक ओर नृशास्त्रियों ने पाया है कि नातेदारी का महत्व सरल समाजों में बहुत व्यापक है और एक तरह से उनकी सामाजिक संरचना का आधार ही नातेदारी गत सम्बन्ध है वही दूसरी ओर तकनीकी विकास की श्रृंखला में अपेक्षाकृत अधिक विकसित माने जाने वाले समाजों में राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समूहों के निर्माण में भी नातेदारी समंकों की भूमिका काफी अहम है । नातेदारी, विवाह एवं परिवार के क्षेत्र, में अध्ययन करने वाले प्रमुख मानवशास्त्रियों में मैक्लेनन, हेनरीमेन लुईस, मार्गन रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनॉस्की,

इवान्स प्रिचार्ट, मुरडॉक, गेषर फोरटेस, लेवी स्ट्रॉल एव लुई ड्रामा प्रमुख समाजशास्त्रियों में गिने जाते हैं । भारत में इस क्षेत्र में अध्ययन अध्यापन करने बाले प्रमुख मानद शास्त्रियों में सदाशिवदास धूरिये, के.एम. कापडिया, इरावती कर्वे, पी.एन. प्रभु, क्षितिज प्रसाद चट्टोपाध्याय एवं रिवर्स आदि गिने जाते हैं ।

भारत में नातेदारी के अध्ययन के संदर्भ में जहाँ एक ओर प्राचीन ग्रंथो में यथोचित सामग्री को ढूंढा गया तो दूसरी ओर जनजातीय समूहों में हिन्दू जातियों में अल्पसंख्यक समुदायों में परिवार, और नातेदारी के विन्यासों को समझने के लिए जिन दो मुख्य परिप्रेक्ष्यों का विकास हुआ, उनको समझे बगैर भारत में पाई जाने वाली नातेदारी पद्धतियों को समझना दुष्कर है । एक है वंशक्रम का परिप्रेक्ष्य व दूसरा है विवाह जन्य संबंध का परिप्रेष्य सीमित न होकर विस्तृत परिवार एवं संयुक्त परिवार में भी फैलती है । पीढ़ी दर पीढ़ी इन जुडावों की लम्बी कड़ी बन जाती है, हमारी सांस्कृतिक श्रेणियों में इस कडि को बाँस (संस्कृत वंश) के समान माना गया है जो एक सीधी रेखा में गाँठों से जुडा होता है, इसी धारणा के आधार पर सीधी उर्ध्वाकर रेखा में जुडे परिवारों को वंश कहा जाता है, जिसमें पीढ़ी एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी से संबंध परिवारों को बाँस की गाँठ की तरह जोड़ता है ।

यह एकता वंश पुरुषों के उस प्रभुत्व में झलकती है, जो वंश की माहिलाओं को पुरूषों के अधीन रखता है, दूसरा उदाहरण ले- त्रिलोकी नाथ मदन (1965) ने काश्मीरी पंडित समाज में संगठनकारी सिद्धान्त के रूप में वंशक्रम पर आधारित नातेदारी भूमिका का चित्रण किया है, इसी तरह एडियन मेयर (1960) आस्कर लेविस (1958) एम.एन श्रीनिवास (1952) टी हिचकॉक (1950 जे.एस. यादव (1969) ने वंशक्रम समूह के आधार पर निर्धारित नातेदारी विन्यास के वर्णन एवं विश्लेषण किये हैं । विवाह से उपजे रिश्तों का भी सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है । इसके अभाव में नातेदारी को समझना नहीं है । वंशक्रम समूहों की संरचना उनके प्रकारों और महत्व पर ही विशेष ध्यान दिया जाए यह भी असंगत ही होगा कि संतुलित दृष्टिकोण की मांग है कि विवाहजन्य रिश्ते भी उतनी ही गहराई से देखे जाएं । जिन भी अध्ययनों में नातेदारी पद्धति को समझने के लिए विवाह संबन्ध से शुरूआत की जाए तो समझना चाहिए कि इनमें विवाह सम्बन्धो से उत्पन्न रिश्तेदारी दृष्टिकोण को मान्यता दी गई है । भारत में परिवार, विवाह एवं नातेदारी के अध्ययन के संदर्भ में इन दृष्टिकोण के मुख्य गणता लुई दुमो है ।

रिवस पहले व्यक्ति थे जिन्होंने नातेदारी को नृशास्त्रीय के दृष्टिकोण से देखा और टोडा समाज में नातेदारी तथा सामाजिक संगठन का अध्ययन भी नृशास्त्रीय ढंग से हमारे समक्ष रखा । नृशास्त्र को काफी समय तक नातेदारी का अध्ययन करने वाला विषय समझा जाता था । आदिम समुदायों के सामाजिक संगठन का मुख्य आधार नातेदारी पाया जाता था । सारे नृशास्त्री नातेदारी का अध्ययन करते समय इस एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक जोर देते पाए गये और यही कारण है कि नातेदारी के अध्ययन के क्षेत्र में नृशास्त्रियों ने विशेष महारत हासिल कर लिया । इसलिये मानवशास्त्रियों नृशास्त्रियों एवं सामाजिक चिन्तकों की नृशास्त्र में नातेदारी के अध्ययन में एक विशेष रूझान एवं विशिष्ट दृष्टिकोण विकसित हुआ ।

भारतीय समाज मानवशास्त्रियों के अध्ययनों ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि परिवार विवाह और नातेदारी के अध्ययन प्राचीन ग्रंथो पर आधारित दृष्टिकोण ने नातेदारी संस्था की निरन्तरता ओर इसमें आये परिवर्तनों को समझाने हेतु एक ठोस आधार प्रदान किया है । सदाशिव घूर्ये ने तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में 'भारतीय व योरोपियन संस्कृति में नातेदारी के समान एवं भिन्न तत्वों का अध्ययन किया । उनके अनुसार भारत में नातेदारी की व्यवस्था एवं अन्य देशों में पाई जाने बाली नातेदारी व्यवस्था में समानताएँ पाई जाती है । क्योंकि विदेशों में निवास करने बाले भारतीय अपनी नातेदारी के सम्बोधो व सम्बन्धो को कैसे मूल सकते हैं? घूर्ये का यह भी मानना है कि नातेदारी व्यवस्था के ताने-बाने से भारत में पाई जाने वाली विविधता को एकीकृत होने का माध्यम मिलता है । उन्होंने नातेदारी पद्धतियों के विधिक तथा वैचारिक पक्षों की शास्त्रीय व्यवस्था से नातेदारी व्यवहार मूलक पक्ष को समझाया है । घूर्ये ने अपनी पुस्तक में बताया कि गौत्र एवं चरण नातेदारी की वे श्रेणियाँ थीं जिनपर लोगों के पद और प्रस्थिति की व्यवस्था आधारित रहती थी । ये श्रेणियाँ अतीत काल में ऋषियों ने दी थी जिनके नाम के अनुसार गौत्र एवं संस्थाएँ बनी । वास्तव में ये गौत्र वर्तमान में लोगों की जाति व उपजाति का निर्धारण कर रहे हैं । दूसरे शब्दों में ये ऋषि ही गौत्र एवं चरण के आधार पर नामी संस्थापक रहे हैं । गौत्र और चरण की ब्राह्मणिक संस्थाओं की प्राचीन ग्रंथो में कहीं-कहीं चर्चा हुई और उस चर्चा का क्या संदर्भ है तथा उसका वर्तमान समाज में क्या प्रासंगिक महत्व है, यह स्पष्ट करते हुए घूरये ने कहा कि जरूरी नहीं है कि भारत में वंशक्रम का उदभव रक्त सम्बंध या समरक्तता से ही खोजा जाए । बहुत सी दंश परम्पराएँ प्राय: अतीत काल के ऋषियों के आध्यात्मिक उदभव से जुडी थी । इसमें समरक्तता (जैविक) नातेदारी व्यवस्था से परे गुरू-शिष्य सम्बन्ध महत्वपूर्ण हो जाते थे, जो आध्यात्मिक वंशक्रम का हिस्सा थे । घूरये के समान ही चन्द्रोपाध्याय ने भी नातेदारी व्यवस्था में अपने अध्ययनों को शास्त्रों के ज्ञान पर आधारित किया । इन्होंने जीवनपर्यन्त भारत में नातेदारी के अध्ययन से अध्यापन से ही स्वयं को जोड़े रखा ।

के.एम. कापड़िया ने भारत में परिवार और नातेदारी दोनों का गहन समाजशास्त्रीय अध्यापन किया है । 1947 में उन्होंने हिन्दू किनशिप एवं इम्पोरटेन्ट चैप्टर इन हिन्दू सोशियल हिस्ट्री में हिन्दू नातेदारी के विधिक व वैचारिक आधारों को विभिन्न कालों के शास्त्रीय ग्रंथो के माध्यम से समझाया है । अपनी एक अन्य पुस्तक में मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया (भारत में विवाह एवं परिवार) में कापड़िया ने कहा कि केवल ब्राह्मणिक शास्त्रों का हवाला देकर भारत में सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करना एकांगी है । सर्वागीण अध्ययन के लिये देश के विभिन्न भागों और कालों में विभिन्न समुदायों के विविध विन्यासों पर विचारकरने के लिये यह देखना भी जरूरी है कि ब्राह्मणिक संस्थाओं पर अन्य राजनीतिक व आर्थिक दशाओं और उनसे जुडी विचारधाराओं का क्या प्रभाव पड़ा?

17.10 शब्दावली

परिवार – भावनात्मक लगाव वाली सबसे छोटी इकाई जिसमें विवाहित माता-पिता तथा उनके अविवाहित बच्चे साथ-साथ रहते हैं, या दो पीढ़ियाँ जब एक

साथ रहती हैं ।

संयुक्त परिवार – जब दो विवाहित युग्म अथवा 3 या 3 से अधिक पीढ़ियाँ एक ही आवास में साथ-साथ एक छत के नीचे रहते हैं, एक ही रसोई का बना खाना खा हैं, उनकी धार्मिक गतिविधियाँ साथ-साथ होती है तथा जिनकी आय और सम्पत्ति संयुक्त होती है, संयुक्त परिवार कहलाता है।

विवाह – दो विषम लिंगियों के बीच समाज द्वारा स्वीकृत स्थापित यौन सम्बन्ध जिनसे उत्पन्न बच्चे समाज द्वारा वैध माने जाते हैं तथा जिनके पालन-पोषण का दायित्व उनका होता है, विवाह नातेदारी का आधार है ।

बहिर्विवाह – जब व्यक्ति अपने गौत्र, पिण्ड व प्रथा में विवाह नहीं करते हैं उसे बहिर्विवाह कहते हैं।

अन्तर्विवाह – व्यक्ति जब अपनी जाति या उपजाति में विवाह करता है तो अन्तर्विवाह कहलाता है, जाति अन्तर्विवाही समूह है।

अनुलोम – निम्न वर्ण, जाति, उपजाति अथवा कुल (घराने) की लडकी का विवाह उसी के समान अथवा उच्च जाति, उपजाति अथवा कुल (घराने में करने को) अनुलोम विवाह कहते हैं । ब्राह्मण - 4, क्षत्रिय - 3, वैश्य - 2 एवं शुद्र 1 अनुलोम विवाह कर सकता है ।

प्रतिलोम – उच्च वंश, जाति, उपजाति, कुल अथवा वर्ण की लड़की का विवाह निम्न जाति, उपजाति, कुल, वर्ण अथवा वंश के लडके से होने को प्रतिलोम विवाह कहते हैं।

नातेदारी – यौन इच्छा विवाह को, विवाह परिवार को और परिवार नातेदारी को जन्म देता है ।नातेदारी सम्बन्धों का जाल है, जिसमें व्यक्ति स्वयं को अधिक सुरक्षित महसूस करता है।

रक्त संबंधी – जिसमें सामाजिक पक्ष की अपेक्षा प्राणि शास्त्रीय पक्ष की प्रधानता होती है ये प्राथमिक संबंध साथ के होते हैं।

विवाह संबंधी – जो सम्बन्ध यौन सम्बन्धों पर आधारित होते है या जिनमें रक्त संबंधी नहीं होते है जैसे पति-पत्नी

प्राथमिक – प्रत्यक्ष संबन्ध जिनके मध्य कोई मध्यस्थ नहीं होता प्राथमिक संबंध कहलाते है । एक परिवार में 8 प्राथमिक सम्बन्ध होते है ।

द्वितीय – प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धों में रक्त व विवाह सम्बन्धी हो सकते हे प्रमुख 33 प्रकार के होते हो जिनके रिश्ते को बताने हेतु मध्यस्थ संबंध की आवश्यकता होती है जैसे दादा अर्थात पिता का पिता

तृतीय – द्वितीय संबंधों के प्राथमिक संबंधी जैसे दादा के पिता अथवा हमारे प्राथमिक संबंधी के द्वितीयक 151 प्रकार के होते हैं ।

17.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 परिवार का अर्थ बताते हुए भारतीय संयुक्त परिवार की निरन्तरता एवं परिवर्तन का उल्लेख कीजिए ।

2 संयुक्त परिवार की परिभाषा दीजिए । आधुनिक समाज में इसके महत्वपूर्ण प्रकारों व कार्यों की विवेचना कीजिए ।

3 स्पष्ट कीजिये विवाह एक पवित्र संस्कार है ।

4 नातेदारी को परिभाषित करते हुए नातेदारी का महत्व बताइये ।

5 परिवार का अर्थ बताते हुए उन कारकों का उल्लेख कीजिये जो संयुक्त परिवार में परिवर्तन के जिम्मेदार है । संयुक्त परिवार का अर्थ बताते हुए इसका भविष्य बताइये।

6 हिन्दू विवाह का अर्थ बताते हुए हिन्दू विवाह के उद्देश्य एवं स्वरूप को उल्लेखित कीजिए ।

17.12 संदर्भ ग्रंथ

1 K.M. Kapadias Marriage & Family in India, 1959

2 Aileen D.Roos The Hindu family in its Urban Setting 1961

3 Andre Beteille: Family and Social Change in India & Other South Asian Countries :

4 Economic weekly Annual XVI (1964)

5 A.M. Shah The Household Dimensions of the family in Indian, 1977

6 I. P. Desai : Some Asoects of Family in Mahuva,1964

7 Pauline Mahar Kolenda : Family structure in village, Lonikhand India 1819

इकाई 18

औद्योगिक सम्बंध

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्योग का अर्थ, एवं परिभाषा
18.3 औद्योगिक सम्बंध का अभिप्राय एवं उद्देश्य
18.4 औद्योगीकरण एवं औद्योगिक सम्बंध
18.5 औद्योगिक सम्बंध-औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी अर्थतंत्र
18.6 औद्योगिक सम्बंध-औद्योगीकरण एवं समाजवादी अर्थतंत्र
18.7 औद्योगिक सम्बंध एवं नव उदारवाद
18.8 औद्योगिक सम्बंध एवं औद्योगिक संघर्ष
18.9 औद्योगिक संबंध एवं औद्योगिक लोकतंत्र
18.10 सेवा क्षेत्र में श्रमिक: औद्योगिक सम्बंधों के कल्याणकारी चरित्र का अंत
18.11 अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन एह औद्योगिक सम्बंध
18.12 औद्योगिक सम्बंध: मार्क्स, दुर्खीम एवं वेबर
18.13 भारत में औद्योगिक सम्बंध: कानूनी संदर्भ
18.14 प्रभावी औद्योगिक सम्बंधों के लिए आवश्यक उपाय
18.15 सारांश
18.16 शब्दावली
18.17 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.18 संदर्भ ग्रंथ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- उद्योग का अर्थ जान सकेंगे
- औद्योगीकरण की प्रक्रिया को समझ सकेंगे
- औद्योगिक सम्बंध का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य जान सकेंगे
- औद्योगिक लोकतंत्र की अवधारणा समझ सकेंगे
- पूंजीवाद, समाजवाद एवं नव उदारवाद में अन्तर को समझ सकेंगे
- औद्योगिक सम्बंधों में श्रमिक संघों की भूमिका को जान सकेंगे
- प्रभावी औद्योगिक सम्बंधों की स्थापना हेतु आवश्यक उपाय समझ सकेंगे

18.1 प्रस्तावना

मनुष्य अपने अस्तित्व की निरन्तरता हेतु उत्पादन की व्यवस्थाओं पर आश्रित है । सभ्यता के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में आवश्यक भौतिक संसाधनों की आपूर्ति एवं विवरण की प्रक्रियाओं को मनुष्य ने व्यवस्थित रूप प्रदान किया है । अपने अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करता है जिसे कार्य अथवा श्रम की संज्ञा दी जाती है । दूसरे शब्दों में उत्पादकता से संबंधित क्रियाओं को श्रम / कार्य की संज्ञा देते है । शिकार एवं खाद्य संकलन, कारीगरी, कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्र से सम्बंधित विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं में मनुष्य श्रम के साथ जुडा रहा है । सभी प्रकार के समाजों में कार्य/ श्रम अर्थव्यवयस्था का आधार है । अर्थव्यवस्था एक ऐसी प्रणाली है जिसमें वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण किया जाता है । इन आर्थिक क्रियाओं द्वारा ही सभी समाज के लोग अपने जीवन का संचालन करते हैं । इन विभिन्नत्र आर्थिक क्रियाओं में संलग्न सामाजिक इकाइयों के मध्य परस्पर नियोक्ता व कर्मचारी के सम्बंध उभर कर आते हैं जिन्हें औद्योगिक सबंधों की संज्ञा दी जाती हैं ।

18.2 उद्योग का अर्थ एवं परिभाषा

उद्योग का अभिप्राय उत्पादक पदार्थो व उपभोक्ता पदार्थो का निर्माण करने वाली व्यवासायिक क्रियाओं के समुच्चय से है जिससे समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है । उद्योग के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा निम्न प्रकार से की जा सकती है: -

1. प्राकृतिक उद्योग अर्थात् कृषि, वन, मत्स्य उद्योग, इत्यादि
2. खनन उद्योग व भूमि से पदार्थो का निकालना
3. निर्माण उद्योग अर्थात् कच्चे पदार्थो को तैयार माल में परिवर्तित करना
4. रचनात्मक उद्योग अर्थात् पुल, बॉध, भवन व सड़को का निर्माण

एफ. जे. राइट ने उद्योग को परिभाषित करते हुए लिखा कि उद्योग ऐसे अनुक्रमों या प्रक्रियाओं का समूह होता है जिनके द्वारा अनिर्मित पदार्थो को विक्रय योग्य बनाया जाता है । इन प्रक्रियाओं में तीन प्रकार के कार्य प्रमुख होते हैं-किसी पदार्थ को प्राकृतिक अवस्था से निकालना उसका स्वरूप बदलकर वस्तुओं का निर्माण करना और फिर जिन लोगो को उसकी आवश्यकता हो, उन तक पहुँचाने की अवस्था करना ।

जॉन रॉबिंसन के अनुसार उद्योग से अभिप्राय उन फर्मों व्यवासायिक संस्थाओं से है जो किसी विशेष प्रकार का उत्पादन कार्य करती हैं, जिनके कार्य उन विशेष उत्पादित चीजों और उसको बनाने में लगी सामग्रियों पर निर्भर करते हैं ।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि उद्योग वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन से समद्ध क्रियाओं का संकलन है जो मनुष्य के अस्तित्व को निरन्तरता देने के लिए आवश्यक है।

18.3 औद्योगिक सम्बंध का अभिप्राय एवं उद्देश्य

औद्योगिक सम्बंध का अभिप्राय उन (सामान्यत:) तार्किक-औपचारिक अन्त:क्रियाओं से है जिनमें औद्योगिक इकाइयों के स्वामी, प्रबंधन को क्रियाशील बनाने वाली इकाइयों एवं

औद्योगिक श्रमिकों की अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यमूलक सहभागिता होती है । इन सबंधो के उपयुक्त संचालन व नियमन हेतु राज्य (केन्द्र व विभिन्न प्रान्तीय सरकारो) द्वारा विभिन्न नीतियों एवं कानूनों का निर्माण किया जाता है । औद्योगिक सम्बंधों की सक्रियता में श्रमिक संगठनों की अत्यंत प्रभावी भूमिका होती है । राज्य के कल्याणकारी चरित्र एवं 'औद्योगिक लोकतंत्र' की उपस्थिति औद्योगिक सबंधों के स्वरूप को राजनीतिक प्रक्रिया एवं आर्थिक विकास से जहॉ एक तरफ सम्बद्ध करती है वही दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा एवं जन संस्कृति के विकास को निरन्तरता प्रदान करती है । एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार सामाजिक सम्बंध वस्तुओं के उत्पादन व वितरण में तथा सेवा कार्य में लगे हुए समस्त व्यक्तियों के पारस्परिक सबंधों को सूचित करने हेतु प्रयोग किया जाता है । इसके अंतर्गत उस विधि को भी सम्मिलित किया जाता है जिसके द्वारा इन क्रियाओं की आय सेवा योजकों व श्रमिकों के बीच वितरित की जाती है तथा कार्य दशाएं निश्चित की जाती हैं । अत: औद्योगिक सबंधों में प्रत्यक्ष रूप से तीन मुख्य इकाइयां सम्मिलित होती हैं नियोक्ता या प्रबंधक, कर्मचारी एवं सरकार तथा वे संस्थाएं और समितियां जो इन इकाइयों के बीच अंतःक्रियाओं को सम्पन्न कराती हैं

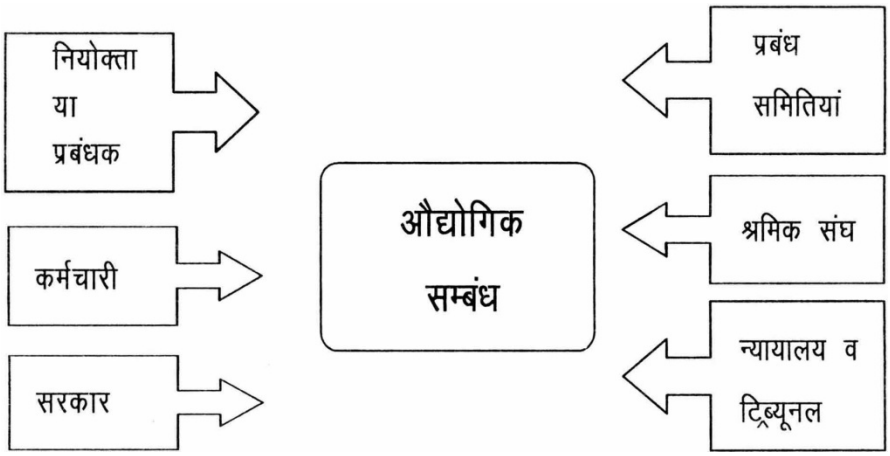

संक्षेप में, औद्योगिक सम्बंधों का अभिप्राय उत्पादकों अथवा श्रमिकों तथा गैर-उत्पादकों अथवा उद्योगपतियों के मध्य प्रतिमानित और अप्रतिमानित अन्तःक्रियाओं से है । वस्तुत: औद्योगिक सम्बंधों को उत्पादक-उत्पादक, उत्पादक-गैर उत्पादक तथा गैर उत्पादक गैर उत्पादक के मध्य देखा जा सकता है । यद्यपि ये विभिन्न औद्योगिक सम्बंध आर्थिक प्रकृति के होते हैं परन्तु किसी भी प्रकार के सामाजिक सबंधों में न्यूनतम भावानात्मक व सहयोग होना आवश्यक है । जब श्रमिक संगठित होते हैं तो औद्योगिक सबंध औपचारिक रूप धारण करता है और जब नियोक्ता अथवा मालिक मजदूर अथवा श्रमिक को मान्यता देता है तब औद्योगिक सबंध संस्था का रूप धारण कर लेता है । किसी भी देश का औद्योगिक विकास उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के मध्य के सबंधों पर निर्भर करता हे । अर्थात औद्योगिक विकास के लिए उद्योगपति एवं श्रमिक के मध्य सदैव सहयोगी व मैत्रीपूर्ण सम्बंध बने रहना आवश्यक है । परन्तु ऐसा सदैव संभव नहीं होता क्योंकि उत्पादन साधनों का असमान वितरण तथा संसाधनों पर कुछ का नियंत्रण सामाजिक असमानताओं को उत्पन्न करता है । ये असमानताएं उत्पादक-गैर उत्पादक

के मध्य विपरीत प्रकृति के हितों को उत्पन्न करती हैं परिणामस्वरूप औद्योगिक सबंध तनावमूलक होते जाते हैं और हडताल व तालाबंदी जैसी घटनाएं देखी जा सकती हैं ।

औद्योगिक सम्बंधों के उद्देश्य

औद्योगिक सबंध निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं :

1. एक उद्योग में उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेने वाली सभी इकाइयों के हितों का संरक्षण करना
2. औद्यौगिक संघर्षो व हडताल या तालाबंदी की उपेक्षा कर सौहार्द सबंधों की स्थापना करना जो कि श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि और एक देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है
3. पूर्ण रोजगार की स्थिति में उत्पादकता को उच्च स्तर तक बढ़ाना तथा अनुपस्थिति की प्रवृत्ति को कम करना
4. प्रबंधकीय निणयों में श्रमिकों की सहभागिता तथा लाभ में उनकी साझेदारी के आधार पर औद्योगिक लोकतंत्र की स्थापना करना
5. उचित वेतन / मजदूरी, उपयुक्त जीवन स्तर व कार्य स्थितियां तथा लाभांश उपलब्ध कराकर हडताल, तालेबंदी व घेराव की घटनाओं में कमी करना
6. विद्यमान औद्योगिक प्रबंध व राजनीतिक सरकार में श्रमिकों की आर्थिक स्थिति सुधारना
7. राज्य द्वारा स्वयं मुख्य नियोक्ता बनकर उद्योगों का समाजीकरण करना

18.4 औद्योगिकरण एवं औद्योगिक सम्बंध

औद्योगीकरण की प्रक्रिया लगभग 1780 में हुई औद्योगिक क्रांति का परिणाम है । अर्थात विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी ने 17वीं शताब्दी में मशीन प्रणाली के आधार पर जिस उत्पादन व्यवस्था की स्थितियों को उत्पन्न किया उसे औद्योगीकरण कहा जाता है । औद्योगिक क्रांति ने व्यापक रूप से हमारे सामाजिक सम्बंधों, संस्थागत स्वरूपों, आवश्यकता एवं साधनों की प्रकृति तथा सम्पूर्ण जीवन पद्धित को प्रभावित किया है । औद्योगीकरण की तीव्रता औद्योगिक समाज को उत्पन्न करती है जहॉ 50 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या उद्योगों पर आधारित व्यवसायों में संलग्न होती है । जब यह आश्रितता 75 प्रतिशत से अधिक हो जाती है तब उस समाज को विकसित औद्योगिक समाज' कहा जाता है । औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने असमान विकास की स्थितीयो को उत्पन्न किया हैं । जबकि पूर्व औद्योगिक समाजों में जहाँ उत्पादन कार्य हाथों से तथा सरल प्रोद्योगिकी से किया जाता था वहाँ उत्पादक व गैर उत्पादक के मध्य अन्तर नहीं होता था क्योंकि जो उसका स्वामी होता था वही उससे काम भी करता था । परन्तु मशीनों के प्रयोग ने उत्पादक व गैर उत्पादक के मध्य भेदभावपूर्ण सम्बंधों को उत्पन्न किया है।

'इस परिवर्तन ने जनसंख्या के बहुत बडे हिस्से को श्रमिकों के रूप में परिवर्तित कर दिया और कुशलता के आधार पर कुशल, अकुशल तथा अर्द्धकुशल श्रमिकों की श्रेणियों को उत्पन्न किया । धीरे-धीरे प्रौद्योगिकीय विस्तार ने वि-कुशलता (डीस्किलिंग) की प्रक्रिया को उत्पन्न किया । परिणामस्वरूप श्रम सम्बंधी प्रत्येक क्रिया वित्तीय संबन्धो/ आर्थिक संबन्धों में परिवर्तन हो गयी जो पहले गैर-आर्थिक प्रकृति की थी । उदाहरण के लिए वस्तु विनिमय अथवा

उपहार विनिमय से मुद्रा विनिमय की तरफ बदलाव हुआ परिणाम रूप अनेक अनौपचारिक एवं व्यक्तिगत सम्बंध भी वि-व्यक्तिवादी (डी-पर्सनलाइज्ड) हो गए और सम्बंधों को लाभ हानि के संदर्भ मे देखा जाने लगा ।

इसके अतिरिक्त श्रम विभाजन में स्त्रियों का भी प्रवेश हुआ । स्त्रियाँ खेतों कारखानों व व्यावसायिक संस्थानों में भी विभिन्न प्रकार के कार्य करने लगी । इन नई भूमिकाओं ने स्त्री को एक आर्थिक इकाई बना दिया परिणामस्वरूप उसकी सामाजिक प्रस्थिति में भी पीरर्वतन आया और वह परिवार के अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों में सहभागिता करने लगी । देखा जाय तो औद्योगीकरण व प्रौद्योगिकी के विकास ने समाज को विकसित विश्व, विकासशील विश्व तथा अल्प विकसित विश्व के रूप में वर्गीकृत किया । दूसरी तरफ सार्वजनिक उद्योग, निजी उद्योग और संयुक्त उद्योगों के विस्तार ने औद्योगिक सम्बंधों को और भी जटिल बना दिया है । दूसरे शब्दों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने प्रकृति पर मनुष्य की निर्भरता के स्थान पर 'प्रकृति पर मनुष्य के स्वामित्व को स्थापित किया है ।

18.5 औद्योगिक सम्बंध : औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी अर्थतंत्र

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अभिप्राय ऐसी आर्थिक प्रणाली से है जिसमें उत्पादन के साधनों (भूमि व पूँजी) पर निजी स्थायित्व का नियंत्रण हो तथा अधिकाधिक लाभ प्राप्ति की अकांक्षा सम्मिलित हों । दूसरे शब्दों में उत्पादन साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व, संसाधनों का भेदभावपूर्ण वितरण, मुक्त बाजार, खुली प्रतिस्पर्धा व व्यक्तिगत लाभ इत्यादि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं हैं । यह भी एक तथ्य है कि पूँजीवाद ने औद्योगीकरण की प्रक्रिया को उत्पन्न करने व तीव्रता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । अत: पूजीवाद की विशेषताओं का उद्योग में प्रवेश देखा जा सकता है । परिणामस्वरूप उद्योगो में नियोक्ता व कर्मचारी के सम्बंध भी लाभ-हानि की दृष्टि से मूल्यांकित किए जाते हैं । पूंजीवाद की भाँति यहाँ भीश्शासक-शासित या बुर्जुआ-सर्वहारा के मध्य के असमान प्रकृति के सबंध देखे जा सकते हैं जहॉ उद्योगपति अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है और कर्मचारी अच्छा वेतन पाना चाहता है परिणामस्वरूप दोनों के अन्तर्विरोधी हित औद्योगिक सम्बंधों को तनावपूर्ण बना देते हैं।

18.6 औद्योगिक सम्बंध-औद्योगीकरण एवं समाजवादी अर्थतंत्र

स्रमाज्यवादी विचारधारा पूँजीवादी व्यवस्था के विपरीत है । समाजवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सामूहिक स्वामित्व, राज्य निर्देशित अर्थव्यवस्था, लैंगिक, जातीय व धार्मिक भेदभाव की समाप्ति व लोकतांत्रिक मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है । अर्थात समाजवादी अर्थतंत्र 'कल्याणकारी राज्य की स्थापना के तर्क पर आधारित है । यह दृष्टिको उद्योगों में श्रमिकों की बराबर की भागीदारी का समर्थन करता है क्योंकि तभी कल्याणकारी राज्य' की स्थापना संभव हो सकती है । स्वाधीनता के बाद भारत में विकास के इस प्रारूप को अपनाने पर बल देते हुए स्व. नहेरू जी ने कहा था कि 'आज की अर्थव्यवस्था के युग में औद्योगिक क्षेत्र में मालिक-मजदूर का सम्बंध न होकर हिस्सेदार व सहकर्मी का सम्बंध होना चाहिए । तभी हर आर्थिक

समस्या को शांतिपूर्वक सुलझाया जा सकता है । परिणामस्वरूप यही नियोक्ता व कर्मचारी के समंधों में समानता व बराबरी के मूल्यों को महत्व दिया जाता है ।

18.7 औद्योगिक सम्बंध एवं नव उदारवाद

नव्य उदारवाद व्यवस्था 'एकाधिकारवादी' के मूल्य पर बल देती है परिणामस्वरूप इस प्रकार की अर्थव्यस्था में सामूहिकता की समाप्ति, अनियंत्रित बाजार, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं का नियंत्रण, निजीकरण इत्यादि पक्ष सम्मिलित होते हैं । नव्य उदारवादी अर्थव्यवस्था में विकास के असंतुलन ने केन्द्रीय समाज व परिधिमूलक समाज का वर्गीकरण उत्पन्न किया है। जहॉ केन्द्रीय समाज परिधिमूलक समाजों को अपने बाजार के रूप में प्रयुक्त करते हैं और उन पर आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करते हैं । ऐसे समाजों में संसाधनों का भेदभावमूलक वितरण असमान प्रकृति के विकास को तीव्र करता है । दूसरी तरफ उदारीकरण की प्रक्रिया ने भारत को उपभोक्ता समाज' की तरफ तीव्रता से अग्रसर किया है । इस नई अर्थव्यवस्था ने श्रमिकों की नवीन श्रेणी को उत्पन्न किया है जिनकी चर्चा हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं-

1 ऐसे श्रमिक जिनके पास सेवा सुरक्षा (जॉब सिक्योरटी) है, जो ज्ञान आधारित कार्यो में संलग्न हुए हैं तथा औसत से अधिक आय प्राप्त करते हैं ।
2 ऐसे श्रमिक जिन्हें 'आकस्मिक श्रमिकों की संज्ञा दी जा सकती है जिन्हें निम्न आय प्राप्त होती है तथा अधिकार व लाभ भी बहुत कम मिलता है ।
3 ऐसे श्रमिक जो संरचनात्मक दृष्टि से बेरोजगार है परन्तु जब काम अधिक हो या कार्यरत श्रमिक अवकाश पर हो तब इन्हें बुला लिया जाता है ।

श्रम के इस नवीन विभाजन ने समाज में फेलेक्सी लेबर (लचीला श्रम) की अवधारणा को उत्पन्न किया है । इस स्थिति ने परंपरागत वर्ग संरचना को विखण्डित किया और दूसरी तरफ रोजगार अवसरों को समाप्त अथवा कम किया है । साथ ही इस वर्ग संरचना ने संघवाद अथवा श्रमिक संगठनों से हतोत्साहित किया है और श्रमिकों की सामूहिक एकता को भी विखण्डित किया है परिणापस्वरूप श्रमिक आन्दोलन व श्रम संघों की भूमिका हाशिए पर नजर आती है । अत: औद्योगिक संबन्धों का अध्ययन करते समय विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि वे औद्योगिक सम्बंधों मे पूंजीवाद, समाजवाद व नव्य उदारवादी अर्थतंत्र के संदर्भ में परथक-परथक दृष्टि से देखने व समझने का प्रयास करें । तभी वे वास्तव में अर्थतंत्र में आएं परिवर्तनों को समझ सकेंगे और विकास की दिशा को भी जान सकेंगे ।

18.8 औधोगिक सम्बंध एवं औद्योगिक संघर्ष

औद्योगीकरण व प्रौद्योगिकीय विकास ने प्रबंधक व गैर-प्रबंधक अथवा श्रमिकों के बीच अनेक प्रकार की तनावमूलक स्थितियों उत्पन्न की हैं । नियमानुसार कार्य, ओवरटाइम से इन्कार, अनुपस्थिति, नौकरी छोड़ देना एवं औद्योगिक संबन्ध में तनाव, ने समूची प्रणाली में अनेक उतार चढ़ाव को जन्म दिया है । उद्योगों में अब साझा हित की स्थितियाँ कम हुई हैं । वस्तुत: उभोक्तावाद ने एक दूसरे की समस्याओं को समझने की शैली की समाप्त कर दिया है

परिणामस्वरूप औद्योगिक संघर्ष अस्तित्व में आएं । औद्योगिक संघर्ष पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । औद्योगिक संघर्ष से तात्पर्य प्रबंधक व श्रमिकों के बीच होने वाले मतभेदों से है जिनके कारण हडतालें, तालाबंदी काम की धीमी गति, घेराव, तथा अन्य प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती है । पूँजीवादी औद्योगिक विकास ने उत्पादन के साधनों पर कुछ वर्गो का नियंत्रण स्थापित किया है परिणामस्वरूप वैश्विक स्तर पर प्रबंधक व श्रमिक के बीच संघर्ष की स्थितियॉ विकसित हुई। भारत में औद्योगिक संघर्ष के इतिहास को तीन चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है जो निम्नलिखित हैं-

प्रथम चरण (19- 939) - भारतवर्ष में औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में औद्योगिक संघर्ष की समस्या नहीं थी क्योंकि उद्योगपति संगठित और शक्तिशाली थे जबकि श्रमिक असंगठित थे । 19वीं शताब्दी में औद्योगिक संघर्ष के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं । परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिकों ने हडताल को एक महत्वपूर्ण हथियार के रूप में अपनाया है जिसका प्रमुख कारण श्रमिक वर्ग में चेतना का विकास होना तथा मंदी के समय मजदूरी की कम दर को बढ़ाने की मॉग करना था ।

दूसरा चरण (1939-1947) - द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उत्पन्न मुद्रा स्फीति की स्थिति ने वस्तुओं की कीमतों में भारी बृद्धि कर दी परिणामस्वरूप श्रमिकों का जीवन स्तर काफी प्रभावित हुआ, उनमें असंतोष उल्पन्न हुआ तथा औद्योगिक संघर्षो की संख्या में वृद्धि हुई।

तीसरा चरण (1947 से अब तक) - स्वतंत्रता के बाद औद्योगिक तनावो में एक सीमा तक कमी देखी गई परन्तु कुछ वर्षो के बाद ही औद्योगिक संघर्षों ने उग्र रूप धारण कर लिया । अब तो हडताल, तालाबंदी, आंदोलन किसी भी देश के लिए आम बात है । औद्योगिक संघर्ष यदि शोषण के विरूद्ध और सामाजिक न्याय के लिए किया जाए तब तक को सही है परन्तु यदि इन सबका प्रभाव अन्य जनसंख्या के जीवन को प्रभावित करे अथवा देश के विकास को प्रभावित करे तो इसे उचित नहीं कहा जा सकता । उदाहरण के लिए चिकित्सक, शिक्षक, वकील इत्यादि ऐसे पेशे हैं जिनके द्वारा की गई हडतालों व आंदोलनों के कारण सर्वाधिक जनसंख्या प्रभावित होती है । हाल में ऐसे अनेक उदाहरणों की चर्चा की जा सकती है । यह स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई क्योंकि अब हरेक के लिए केवल सफलता ही आधारभूत लक्ष्य बन गया है इसलिए न तो प्रबंधक और न ही श्रमिक एक दूसरे की समस्याओं के प्रति सहिष्णुतामूलक दृष्टिकोण अपनाते हैं । जॉन टामॉने इसे आंतरिक आक्रमकता की संज्ञा देते हैं । बाजार में इसे इंसटेंट उपलब्धि का परिणाम माना जा सकता है जिसने एक-दूसरे की समस्याओं को समझने की तार्किकता को ही समाप्त कर दिया है । अर्थात अब औद्योगिक संबन्ध में सफलता, लाभ, सुरक्षा व उपलब्धि के परे सांस्कृतिक व भावात्मक पक्षों को महत्व नहीं दिया जाता । वर्तमान में उदारीकरण, निजीकरण व वैश्वीकरण के साथ श्रमिकों व आर्थिक-राजनीतिक सत्ता के मध्य तनाव व संघर्ष तीव्र हुए हैं । उदाहरण के लिए प्रशासनिक निरंकुशता के विरूद्ध, उच्च कर संरचना के विरूद्ध एवं स्वास्थ्य व भोजन संबधी सुरक्षा के पक्ष में आंदोलनों की तीव्रता और इसमें श्रमिक संगठनों की भूमिका इस तथ्य की पुष्टि करती है कि वर्ग संघर्ष परिवर्तित स्वरूप के साथ विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में उत्पन्न हुए हैं ।

18.9 औद्योगिक सम्बंध एवं औद्योगिक लोकतंत्र

राष्ट्र-राज्य की उपस्थिति के बाद औद्योगिक प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी महत्वपूर्ण हुई है । किसी भी देश की अर्थथवस्था का विकास श्रमिकों के योगदान पर निर्भर करता है क्योंकि वे राष्ट्रीय उत्पादन में महत्वपूण भूमिका निभाते हैं । औद्योगिक प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का अभिप्राय उद्योग से सम्बंधित विषयों में श्रमिकों की प्रबंधकों के समान हिस्सेदारी से है अर्थात उद्योग में श्रमिक केवल अपने श्रम को नहीं बेचता बल्कि उद्योग के प्रबंधन में भी अपना योगदान करता है । श्रमिकों की भागीदारी को तीन संदर्भो में देखा जा सकता है-1 लाभ में भागीदारी 2. पूंजी में भागीदारी 3. प्रबंधन व व्यवस्था में भागीदारी । अत: इन तीनों प्रकार की सहभागिताओं के समुच्चय को 'औद्योगिक लोकतंत्र' की संज्ञा दी जा सकती है ।

राल्फ डैहरनड्रार्फ का मत है कि किसी भी उद्योग में लोकतंत्र उस समय प्रारम्भ होता है जब श्रमिक हित-समूह किसी न किसी स्तर पर सौदेबाजी को महत्वपूर्ण बना देते हैं । इस तरह से सौदेबाजी करने बाले संगठन एक दूसरे की समस्याओं को समझते हैं और फिर समायोजन करने का प्रयास करते हैं । श्रमिक या उद्योगपति सदैव गलत हों ऐसा नहीं होता । औद्योगिक सबंधों में गलतियॉ दोनों पक्षों से होती हैं । यदि एक पक्ष अपनी गलतियों को स्वीकार ही न करे तो औद्योगिक लोकतंत्र की अवधारणा - समाप्त हो जाती है । श्रमिक संघों का निर्माण ही इसलिए हुआ है कि वे प्रबंधकों/ उद्योगपतियों के साथ लगातार संपर्क रख सके । दोनों पक्ष एक दूसरे की सीमाओं को जानें और उसमें समायोजन विकसित करने का प्रयास करे। औद्योगिक सम्बंधों में तनाव की स्थिति उत्पादन कार्य पर नकारात्मक प्रभाव डालती है जो दोनों ही पक्षों के लिए कार्यात्मक होती है इसलिए डैहरनड्रार्फ लचीले प्रकार के प्रबंधन की चर्चा करते हैं । यदि दोनों पक्षों के बीच सहभागिता ही नहीं हीगी तो फिर एक दूसरे की समस्याओं को समझा ही नहीं जा सकता परिणामस्वरूप ये स्थितियॉ कभी न समाप्त होने वाले पूर्वाग्रहों को उत्पन्न कर देती है । इस स्थिति को रोकने के लिए ही डैहरनड्रार्फ ने किसी भी उद्योग के प्रबंधक समूह में श्रमिक समूह की नियुक्ति का समर्थन किया था ।

वस्तुत: 'औद्योगिक लोकतंत्र' की स्थापना देश के समग्र विकास को विशेषत: आर्थिक विकास को तीव्रता प्रदान करती है । उद्योगों के प्रबंधन, उत्पादन, वितरण एवं लाभ इत्यादि में श्रमिकों की भागीदारी निम्नलिखित लाभों को उत्पन्न करती है- 1. श्रमिक व उद्योगपतियों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बंधों की स्थापना 2. औद्योगिक शांति 3. उत्पादकता व उत्पादन में बृद्धि 4. लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना 5. विवेकीकरण / तार्किकीरण व वैज्ञानिक प्रबंधन की योजना में सहायक 6. श्रमिक वर्ग के महत्व में बृद्धि 7. प्रबंधन की क्षमता में बृद्धि 8. श्रमिकों की आय में बृद्धि तथा उनकी जीवन शैली में सुधार 9. श्रमिकों के आत्म-सम्मान में बृद्धि 10. मजदूरी समबंधी समस्याओं का तात्कालिक हल । इन सभी पक्षों को ध्यान में रखकर ही गाँधी जी ने ग्रामीण लोकतंत्र' के साथ ही 'औद्योगिक लोकतंत्र' की स्थापना पर भी बल दिया । उनके अनुसार मालिक और मजदूर के सम्बंध परस्पर सहयोगी व सहकर्मी जैसे होने चाहिए । मालिकों में यह भावना होनी चाहिए कि वे अकेले ही उद्योग के मालिक नहीं है अपितु अन्य श्रमिकों के साथ सहकर्मी हैं । इसके साथ ही श्रमिकों में उद्योगों के प्रति स्वामित्व की भावना भी उत्पन्न

करनी चाहिए । तभी वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना संभव हो सकेगी और देश में उत्पादन बुद्धि व आर्थिक विकास तीव्र होगा ।

18.10 सेवा क्षेत्र में श्रमिक : औद्योगिक सम्बंधों के कल्याणकारी चरित्र का अंत

वर्तमान में उत्तर-औद्योगिक समाजों की स्थापना ने उद्योगों के स्थान पर सेवा क्षेत्र' (सर्विस सेक्टर) के महत्व को स्थापित किया है । यही उत्तर-औद्योगिक समाज का अभिप्राय सामाजिक परिवर्तन की उस प्रक्रिया से है जहॉ भौतिक वस्तूओं के उत्पादन की अपेक्षा सूचनाओं के उत्पादन पर बल दिया जाता है । अत: इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न नवीन समाज व्यवस्था को सूचना समाज', 'सेवा समाज' अथवा 'ज्ञान समाज' की संज्ञा दी जाती है । इस नई अवस्था में श्रमिक वर्गों (कारखानों/ मिलों में काम करने वाले) का स्थान सफेदपोश कर्मचारी वर्ग (लिपिक, तकनीकी विशेषज्ञ, कम्प्यूटर विशेषज्ञ, व अन्य पेशेवर व्यक्ति) लेते जा रहे हैं । ऐसे समाजों में उद्योगपतियों और उद्यमियों के स्थान पर भी नए सामाजिक समूहों का विकास हो रहा है ।

1960 के दशक के उपरांत स्वचालितीकरण एवं इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों के विकास ने श्रमिक वर्ग को सामाजिक संस्तरण का हिस्सा बना दिया अर्थात् श्रमिकों में ही विभाजन उत्पन्न हो गए । कुशलता एंव अच्छे वेतनमानों ने श्रमिकों में व्यक्तिवादिता के तत्वों को उत्पन्न किया है और इसके साथ-साथ बुर्जुआकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है । इसके अंतर्गत श्रमिक वर्ग मध्य वर्ग की संरचना और उसकी जीवन शैली में प्रदेश करने लगता है । यह प्रक्रिया एक तरफ श्रमिक वर्ग की एकजुटता में ह्रास की स्थिति उत्पन्न करती है और दूसरी तरफ अनेक परंपरागत व्यवसायों, कम वेतन वाले व्ययों / पेशों तथा निम्न स्थितियों वाले पेशों के स्थान पर उच्च वेतन व कुशलता आधारित नौकीरयों/ पेशों को स्थापित' करती है । वैश्वीकरण ने श्रमिकों में श्रम के क्षेत्र में प्रौद्योगीकरण / तकनीकीकरण को महत्व दिया है । अर्थात् श्रमिक अब अपने पेशे के द्वारा उत्पन्न संतुष्टि को अधिक महत्व नहीं देता बल्कि अच्छा वेतन एवं सुरक्षित रोजगार के लाभों से संतुष्टि प्राप्त करता है । यह बदलाव धीरे-धीरे श्रमिक वर्ग विरोधी चेतना व मध्य वर्ग के प्रति आर्कषण को उत्पन्न करता है । इस स्थिति ने एक सीमा तक वि-औद्योगीकरण व वि-कुशलता की प्रक्रियाओं में तीव्र वृद्धि की है । यही वि-औद्योगीकरण का अभिप्राय औद्योगिक विर्निमाण के ह्रास तथा सेवा क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि से है । जबकि वि-कुशलता से अभिप्राय उस रणनीति से है जिससे नियोक्ता/ प्रबंधक के द्वारा श्रम शक्ति की कुशलता को कम किया जाता है ताकि वह नए प्रौद्योगिकीय उपकरणों को अपने कार्य स्थल में प्रयोग कर सकें । उदाहरण के लिए कार के विभिन्न पुर्जों को संकलित करने के काम में रोबोट का प्रयोग करना । अत: स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-औद्योगिक समाजों में औद्योगिक लोकतंत्र' की अवधारणा को चुनौती मिली है परिणामस्वरूप श्रमिक व प्रबंधक के मध्य के संबन्ध के कल्याणकारी चरित्र का अंत होता दिखाई देता है ।

18.11 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं औद्योगिक सम्बंध

औद्योगिक संबन्धों में उत्पन्न तनावों को समाप्त करने के लिए अथवा उन्हें शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए 1919 में वर्सलीज की संधि के परिरणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गई । यह भी एक तथ्य है कि किसी भी क्षेत्र में शान्ति की स्थापना के लिए सामाजिक न्याय की स्थापना आवश्यक है । इसलिए यह जरूरी था कि श्रमिकों के साथ भी सामाजिक न्याय किया जाए । इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना की गई और इसे लीग ऑफ नृशंस का एक भाग बनाया गया । प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना श्रमिकों की शिक्षा व प्रशिक्षण का प्रबंध करना उनके कार्य व आवास की स्थितियों में सुधार करना उनकी आय में वृद्धि करके जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना सामूहिक सौदेबाजी के अधिकार को प्रोतसाहित करना उनके अवकाश व मनोरंजन की उचित व्यवस्था करना समान श्रम के लिए समान वेतन दिलाना, महिला श्रमिकों को प्रसूती संरक्षण का लाभ देना तथा बाल श्रम को रोकना इत्यादि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रमुख उद्देश्य है जिनके आधार पर ही औद्योगिक लोकतंत्र की स्थापना संभव हो सकती है ।

परन्तु पूंजीवाद के विस्तार व नव्य उदारवाद के उदभव ने नियोक्ता व कर्मचारी के मध्य के संबन्ध को व्यपाक रूप में प्रभावित किया है परिणामस्वरूप श्रमिक संघों और श्रमिक आदोलनों की भूमिकाओं को चुनौती प्राप्त हुई । चूंकि इन नई व्यवस्थाओं में उभरे उभोक्तावाद ने श्रम को वस्तु में परिवर्तित कर दिया है, सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता और व्यक्तिगत लाभ के पक्ष महत्वपूर्ण हुए हैं । धनी व निर्धन के मध्य की खाई और भी गहरी हुई है जिसके कारण श्रम संघों/संगठनों के उद्देश्य और सामाजिक न्याय की अवधारणा ही हाशिए पर नजर आती है ।

18.12 औद्योगिक सम्बंध: मार्क्स, दुर्खीम एवं वेबर

दुर्खीम का मत है कि यांत्रिक एकता से सावयवी एकता की तरफ हुए अपूर्ण विकास ने औद्योगिक समाज में श्रम विभाजन के व्याधिकीय स्वरूप को जन्म दिया है । औद्योगीकरण ने आर्थिक प्रणालियों को तो तीव्र गति से विकसित किया परन्तु इनकी उपयुक्त कार्य प्रणाली के लिए मूल एवं नियमों को विकसित नहीं कर सका इसलिए नियोक्ता व कर्मचारियों के मध्य के सम्बंध एवं बाजार ने अनेक विसंगतियों को जन्म दिया । उनके अनुसार श्रम के जटिल विभाजन एवं सम्बंधित राजनीतिक प्रणालियों के मध्य के विसंगीतमूलक सम्बंधों ने स्वस्थ प्रतियोगिता को सीमित किया है । इस कारण इस जटिल श्रम विभाजन ने आर्थिक असमानता को और अधिक तीव्र कर दिया ।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद में सर्वहारा की वृद्धि अत्यंत तीव्र गति से हुई है क्योंकि पूँजीपति के लिए पूँजी की वृद्धि का यह सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है । मार्क्स ने अधिशेष मूल्य के आधार पर उत्पादन सबंधों में श्रमिकों के शोषण की चर्चा की थी । उनके अनुसार जैसे जैसे मशीनों का विस्तार होता चला जाता है सर्वहारा का श्रम पूँजी की वृद्धि में गैर महत्वपूर्ण ' होता जाता है और वह मशीनों के अधीनस्थ हो जाता है । प्रारम्भ में यह वर्ग बिखरा होने के कारण

असंगठित होता है परन्तु धीरे धीरे बडे उद्योगों में उसका संकेद्रण होता जाता है और उसकी भौतिक स्थितियॉ तथा उनसे पनपने वाले सामाजिक सम्बंध उनमें एकजुटता की स्थिति उत्पन्न करते हैं । जिसके कारण श्रमिक औद्योगीकरण के दौर में स्वंय के लिए वर्ग. बनकर उभरते हैं। परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग के आदोलनों के चरित्र राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय होते जाते है । परन्तु इसके साथ ही विकास की अनेक विसंगीतयॉ श्रमिक को कुशल एवं अर्द्ध कुशल, मानसिक एवं शारीरिक तथा महिला एवं पुरूष में विभाजित करती जाती है । मार्क्स ने इस विभाजन को पूँजीपति के द्वारा उत्पन्न किए गई अधि-संरचना (सुपर स्ट्रक्चर) का परिणाम माना ।

वेबर द्वारा प्रस्तुत तार्किकीकरण (रेशनलाइजेशन) की अवधारणा को इस संर्दभ में देखा जा सकता है । तार्किकता का अभिप्राय किसी व्यवहार/ प्रघटना के कार्यकारण सम्बंधों को प्रमाण सहित प्रस्तुत करना है । अर्थात् कुछ स्थापित नियमों विचारधाराओं एवं कार्यप्रणालियों के माध्यम से व्यवहार के औचित्य को सिद्ध करना तार्किकता कहलाता है । उद्योगों की कार्यक्षमता बढ़ाने तथा उत्पादन व्यय कम करने की एक विधि के रूप में तार्किकता को समझा जा सकता है । तार्किकीकरण सामूहिक प्रयत्नों पर आधारित एक ऐसी विधि है जिसमें परंपरागत प्रणाली के स्थान पर व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रणाली वी नवीन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है जिससे समय, धन एवं उत्पादन साधनों का न्यूनतम व्यय हो और इनका प्रयोग समग्र समाज के हित में हो । इसलिए औद्योगिक सम्बंधों के नियम राज्य औपचारिक व व्यैक्तिक आधार पर निर्मित करता है । वेबर के अनुसार निश्चित संगठन, अधिकार एवं कर्तव्यों का अव्यैक्तिक स्वरूप, निश्चित कार्य क्षेत्र, लिखित नियम प्रणाली, कार्यालय की सम्पत्ति का औपचारिक स्वरूप, योग्यता के आधार पर चयन, योग्यता एवं अनुभव के आधार पर वरिष्ठता निर्धारित वेतनमान व सेवानिवशत्ति के पश्चात् आर्थिक लाभ तथा अनुशासन व गोपनीयता इत्यादि तत्व औद्योगिक सम्बंधों को निर्धारित करते हैं ।

18.13 भारत में औद्योगिक सम्बंध: कानूनी संदर्भ

भारत में औद्योगिक लोकतंत्र व कत्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए राज्य ने निम्नलिखित कानूनों को मूर्त रूप दिया ताकि सामाजिक न्याय के मूल को स्थापित किया जा सके जैसे-

- उद्योगों में सुचारू व सुरक्षित मशीनों का प्रयोग होना चाहिए
- इन मशीनों पर कार्य करने का श्रमिकों को प्रशिक्षण देना चाहिए
- बाल श्रमिक व महिला श्रमिकों को खतरनाक मशीनों पर नहीं लगाना चाहिए
- श्रमिकों से उनकी क्षमता से अधिक काम न लेना
- महिला श्रमिकों के छोटे बच्चों के लिए शिशु गश्हों की व्यवस्था करना
- श्रमिकों के लिए जलपान गश्हों व विश्रामस्थलों की व्यवस्था करना
- प्राथमिक चिकित्सा की सुविधा देना
- कार्य स्थलों पर सफाई एवं शौचालयों की उचित व्यवस्था होना
- काम करने के लिए बच्चों की आयु 14 वर्ष और व्यस्कों की आयु व 18 वर्ष होनी चाहिए
- व्यस्कों के काम के घंटे सप्ताह में 48 घंटे व एक दिन में 9 घंटे से अधिक नहीं हो सकते

- बिना विश्राम दिए किसी भी श्रमिक से लगातार काम नहीं लिया जा सकता
- साप्ताहिक अवकाश के अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक को 12 माह की निरन्तर सेवा के पश्चात् अतिरिक्त सवेतन अवकाश का भी अधिकार होगा ।

इत्यादि अनेक प्रावधानों की स्थापना के माध्यम से राज्य ने नियोक्ता व कर्मचारी के मध्य सहयोगपूर्ण औद्योगिक सबंधों की स्थापना के प्रयास किए हैं । इन दोनों वर्गों के बीच के सहयोगी व सौहार्दपूर्ण व्यवहारों के माध्यम से ही देश के आर्थिक विकास की दिशा तय होती है । लोकतांत्रिक समाजों में कल्याणकारी सरकारों ने समस्या समाधान के अनेक संस्थागत ढाँचे निर्मित किए हैं ताकि दोनों पक्षों के मध्य सहयोग बना रहे ।

18.14 प्रभावी औद्योगिक सम्बन्धों के लिए आवश्यक उपाय

प्रभावी औद्योगिक सम्बंधों की स्थापना के लिए निम्नलिखित आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए-

1. प्रभावशाली एवं स्थायी संघों की स्थापना
2. पारस्परिक विश्वास
3. प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी
4. पारस्परिक समझ व समायोजन
5. समझौतों को ईमानदारी से लागू करना
6. सरकार की प्रमावी भूमिका
7. प्रगतिशील दृष्टिकोण

18.15 सारांश

इस पाठ में आपने पढ़ा कि औद्योगिक सम्बंध किस प्रकार अर्थव्यवस्था के विकास को प्रभावित करते हैं । वस्तुत: यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के प्रत्येक सबंध में चाहे वो राजनीतिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक अथवा आर्थिक हो बाजार ने विनम्रता को समाप्त किया है । एक-दूसरे के प्रति आक्रमकता, एक-दूसरे की समस्याओं को न समझने की प्रवशत्ति, उत्पादन में ह्रास के बावजूद पूरा वेतनमान देने का दबाव, अत्यधिक लाभ के बावजूद लाभ में हिस्सेदारी न देना इत्यादि ऐसे पक्ष हैं जिन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में अविश्वास को उत्पन्न किया है । यह अविश्वास समूचे सामाजिक स्पेस में इतना व्यापक हुआ है कि एक दूसरे के प्रति कठोर होना किसी भी व्यवस्था में सामान्य बात हो गई है परन्तु सेवा क्षेत्रों में यह कठोरता नहीं चल पाती और इसलिए श्रमिक संघ आदोलन कमजोर हुए हैं । अनेक गुणात्मक परिवर्तनों के बावजूद बेरोजगारी, पारिश्रमिक को लेकर लैंगिक भेद, अचानक आर्थिक तेजी या मंदी का आना ऐसे तल हैं जो औद्योगिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं ।

उदारीकरण के दौर में श्रम बाजार दीर्घकालिक रोजगार के स्थान पर अंशकालिक या संविदामूलक रोजगार उपलब्ध करा रहा है क्योंकि यही न तो सेवानिवशत्ति के लाभ देने होते हैं और न ही श्रमिक संगठनों द्वारा की जाने वाली आंदोलन गतिविधियों का सामना करना पडता है । एबर क्राम्बी एवं उरी का तर्क है कि सभी औद्योगिक समाजों में सामाजिक वर्गों के

परंपरागत अर्थ बदल गए है क्योंकि श्रमिक वर्ग का संघवाद धीरे-धीरे अपने महत्व को खोता जा रहा है । सांर्डस तर्क देते हैं कि समकालीन पूँजीवादी समाजों का सबसे महत्वपूर्ण आधार उपभोग है । अब उपभोक्ता के रूप में उनका पद, उनकी उपभोग करने की शैली एवं उपभोग स्तर पूँजीवादी समाज को विभाजित करने का आधार बना है । इसलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थियों व शोधार्थियों को औद्योगिक सम्बन्धों को इन सभी को के संदर्भ में मूलांकित करने की आवश्यकता है ।

18.16 शब्दावली

औद्योगीकरण	–	विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने 17वी शताब्दी में मशीन प्रणाली के आधार पर जिस उत्पादन व्यवस्था को उत्पन्न किया, उसे औद्योगीकरण कहा जाता है ।
औद्योगिक सम्बंध	–	औद्योगिक सम्बंधों का अभिप्राय उत्पादकों अथवा श्रमिकों तथा गैर-उत्पादकों अथवा उद्योगपतियों के मध्य प्रतिमानित और अप्रतिमानित अन्त:क्रियाओं से है ।
पूँजीवादी अर्थतंत्र	–	पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अभिप्राय ऐसी आर्थिक प्रणाली से है जिसमें उत्पादन के साधनों (भूमि व पूँजी) पर निजी स्वामित्व का नियंत्रण हो तथा अधिकाधिक लाभ प्राप्ति की अकांक्षा सम्मिलित हो ।
समाजवादी अर्थतंत्र	–	समाजवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सामूहिक स्वामित्व, राज्य निर्देशित अर्थव्यवस्था, लैंगिक, जातीय व धार्मिक भेदभाव की समाप्ति व लोकतांत्रिक मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है ।
नव उदारवादी अर्थतंत्र	–	इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में सामूहिकता की समाप्ति, अनियंत्रित बाजार, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं का नियंत्रण, निजीकरण इत्यादि पक्ष सम्मिलित हैं ।
औद्योगिक लोकतंत्र	–	लाभ में भागीदारी, पूँजी में भागीदारी, प्रबंधन व व्यवस्था में श्रमिकों की भागीदारी के समुच्चय को 'औद्योगिक लोकतंत्र' की संज्ञा दी जा सकती है ।
अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन	–	औद्योगिक संबन्धों में उत्पन्न तनावों को समाप्त करने के लिए अथवा उन्हें शांतिपूर्ण का से सुलझाने के लिए 1919 में वर्सलीज की संधि के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गई ।
उत्तर-औद्योगिक समाज	–	उत्तर-औद्योगिक समाज का अभिप्राय सामाजिक परिवर्तन की उस 'प्रक्रिया से है जहॉ भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की अपेक्षा सूचनाओं के उत्पादन पर बल दिया जाता है ।

18.17 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. औद्योगीकरण की प्रकिया को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए ।
2. औद्योगिक सम्बंध को परिभाषित कीजिए ।
3. पूजीवाद, समाजवाद एवं नव उदारवादी अर्थतंत्र में अन्तर स्थापित कीजिए ।
4. उद्योगों में दिए जाने बाले कानूनी प्रावधानों की चर्चा कीजिए ।
5. औद्योगिक लोकतंत्र की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ।
6. वैश्विकरण के दौर में औद्योगिक सम्बंधों में आने वाले परिवर्तनों की चर्चा कीजिए ।
7. वर्तमान में श्रमिक संघों की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ।

18.18 संदर्भ ग्रंथ

1 मिलर एवं फॉर्म,1964, इंडस्ट्रीयल साशियोलॉजी,न्यूयार्क हार्पर एंड रॉ ।

2 एस. आर. पार्कर, आर. के. ब्राउन ब अन्य,1961, द सोशियोलॉजी ऑफ इंडस्ट्री, एलेन एंड अनविन, लंदन ।

3 पी.सी.खरे एवं वी.सी.सिन्हा, 1976, औद्योगिक समाजविज्ञान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

4 एंथनी गिडिंस, 1989. सोशियोलॉजी, पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड ।

5 हारलम्बोस एवं हालॅब्रान, 2000, सोशियोलॉजी थीम्स एंड पर्सपेक्टिवस, कॉलिंस, लंदन ।

इकाई 19

विकास अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 विकास का अर्थ एवं उद्देश्य
19.3 टिकाऊ विकास (Sustainable Development)
19.4 भारतीय संदर्भ में' विकास नीति एवं कार्यक्रम
19.5 भारतीय समाजशास्त्र में विकासलक्षी अध्ययनों के प्रमुख उपागम
19.5.1 संरचनात्मक-प्रकार्यात्कम उपागम
19.5.2 मार्क्सवादी उपागम
19.5.3 विकास का सांस्कृतिक उपागम
19.6 संचार और विकास
19.7 विकास के मार्ग में आते मानवीच कारक (Human factore involed in Development)
19.8 समीक्षा
19.9 सांराश
19.10 बोध प्रश्न
19.11 संदर्भ ग्रंथ

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में प्रस्तुत सामग्री का प्रमुख उद्देश्य आपको भारतीय परिस्थितियों को केन्द्र में रखते हुए विकास की प्रक्रिया का समाजशास्त्रीय परिचय कराना है । विशेष तौर से स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात भारत के संविधान में आलेखित सामाजिक ढांचे को वास्तविक परिस्थितियों में प्रस्थापित करने के प्रयासों को समझाते हुए जो-जो उपलब्धियाँ तथा क्षतीयाँ समाजशास्त्रीय अध्ययनों द्वारा प्रकाश में लाई गई है । उनका संक्षिप्त परिचय देना, इस इकाई का उद्देश्य है । दूसरे शब्दों में कहें तो इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बिन्दुओं पर विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करेगे ।

(i) विकास का अर्थ एवं उद्देश्य
(ii) विकास के प्रयासों के पीछे रही सामाजिक-आर्थिक एवं राजकीय पृष्ठभूमि
(iii) विकास के अध्ययन के समाजशास्त्रीय उपागम
(iv) विकास के टिकाऊ प्रारूप का अर्थ
(v) विकास और संचार

(vi) विकास के मार्ग में खड़े होते सामाजिक सांस्कृतिक कारक

उपरोक्त कुछ प्रमुख बिन्दुओं के उपरान्त आप अन्य आनुशांगिक पहलुओं पर भी जरूरी स्पष्टता प्राप्त कर सकेंगे । यह जानकारी आगे चलकर आपको अपने समक्ष उभर रही सामाजिक परिस्थितियों को समझने में एक अर्थपूण दृष्टिबिन्दु प्रदान करेगी ।

19.1 प्रस्तावना

सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों में समाज के सामाजिक आर्थिक एवं राजकीय आयामों के उभरते प्रारूपों के विश्लेषणों मे विकास को केन्द्र में रखकर हुए अध्ययनों का एक विशेष स्थान रहा है। विशेषतौर से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस प्रकार के अध्ययनों का विशेष महत्व रहा है। पश्चिम के विकसित समाजों की तुलना में, संस्थानवाद की बेड़ियों से एशिया, अफ्रिका तथा लेटिन अमेरिका के मुक्त हुए राष्ट्रो के पिछडेपन तथा दयनीय हालात ने इन अध्ययनों को प्रोत्साहन दिया ऐसा कहे तो कोई अतिशयोक्ती नहीं होगी ।

एक अन्य महत्व की बात यह भी जाननी चाहिये कि विकास के अध्ययनो में अधिकतर आर्थिक पहलुओं पर ही प्रारम्भ से विशेष भार दिया जाता रहा हैं । आज भी विकास का आर्थिक पक्ष इन अध्ययनों में प्रमुख स्थान पर पाया जाता है । अगर आप गम्भीरता से सोचें तो पायेंगे कि विकास का प्रारूप करने में, विकास के कार्यक्रमों में अमलीकरण की रणनीति निश्चित करने में तथा विकास के प्रयासों के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों के मूल्यांकन आदि में आर्थिक पहलू का ही प्रभुत्व है । फिर भी पिछले कुछ दशकों से विकास का अर्थ समझाने में आर्थिक पहलुओं को ही एकमात्र निर्णायक नहीं माना जाता है । सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों को भी विकास के अन्तर्गत महत्व का स्थान दिया जाने लगा है ।

19.2 विकास का अर्थ एवं उद्देश्य

विकास सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है । परिवर्तन की यह प्रक्रिया समाज के सदस्यों के जीवन की विविध प्रवर्तीयों से जूड़ी होती है । इसके फलस्वरूप समाज में सतही परिवर्तनों के साथ-साथ समस्त सामाजिक ढाँचे का रूपान्तर हो सकता है ।

समाज विज्ञानों में पारम्भ से ही विकास एक महत्वपूर्ण रही है । इस अवधारणा का मूल स्रोत प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) में रहें है । समाज विज्ञान में जैसा कि आगे उल्लेख किया है, विकास का अर्थ आर्थिक वृद्धि (Economic Growth) के पर्याय के रूप में होता आया है । अक्सर समाजशास्त्रीय साहित्य में विकास की अवधारणा का उपयोग सामाजिक ढाँचे में पाये जाने बाले परिवर्तनों को स्पर्श करती कुछ अन्य अवधारणाओं के साथ भी जोड़ा जाता रहा है । हालाँकि विकास की अवधारणा का उपयोग एक निश्चित प्रकार के परिवर्तन की धोतक होती है । यहाँ विकास और ऐसी ही कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं के बीच पाये जाने वाले वास्तविक अन्तर की बात करेंगे ।

(i) विकास और आर्थिक वृद्धि (Development and Economic Growth) जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है, सामाजिक विज्ञानों मे अब विकास का अर्थ एक ऐसी पीरवर्तन की प्रक्रिया से होता है जिसमें समाज के सदस्यों के जीवन से स्पर्श करती है । ऐसी तमाम गतिविधियों का समावेश होता है जो उनके जीवन की सुखकारी तथा मानवीय गौरव तथा

सामाजिक न्याय के साथ जीवन यापन करने के अवसर उपलब्ध कराती है । इससे भिन्न वृद्धि (Growth) का अर्थ आर्थिक विकास की गतिविधियों से होता है । खासतौर से आर्थिक उत्पादन के न्यूनतम साधनों से अधिकतम उत्पादन के पहलू पर विशेष भार दिया जाता है। इसके अलावा आर्थिक वृद्धि की गति राष्ट्रीय-आय प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय उत्पादन तथा विदेशी व्यापार के परिमाणों पर भी आंकी जाती है ।

(ii) विकास एवं उद्विकास (Development and Evolution) समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा जैवकिय उद्धविकास के सिद्धान्तों में से आई है । हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने ग्रंथ 'सोशियल स्टेटिक्स' तथा "प्रिन्सिपलस ऑफ सोशियोलॉजी में विस्तार से 'समाज' तथा 'जीव' के तुलनात्मक समरूपता को समझाया है । इसके अलावा स्पेन्सर ने समाज तथा जीव की उद्धविकास कही भी बात की है । सामाजिक उद्धविकास के विश्लेषण में टायलर, डब्लू,एफ.ऑगबर्न, गोर्डन चाईल्ड एवं गिन्सबर्ग की टिपणीयों का भी समाजशास्त्रीय 'साहित्य में महत्व का स्थान है । टी.बी. बोटोमोर (T. B. Boromore) का कहना है कि समाजशास्त्र में प्रारम्भ से ही विकास एवं उद्धविकास की अवधारणाओं का एक-दूसरे के पयार्य के रूप में उपयोग होता रहा है, जिसके फलस्वरूप इन अवधारणाओं के अर्थ एवं उपयोग के क्षेत्र में अनेक अस्पष्टताएँ भी समाजशास्त्रीय साहित्य का एक अंग बन गई है । इन दोनों अवधारणाओं के बीच जो वास्तवीक भेद है उस तरफ आपका ध्यन ले जाना उचित होगा ।

(अ) उद्विकास की प्रक्रिया सरल से जटिल की और अग्रसर होती है । इस अर्थ में उद्धविकास एक -रेखीय प्रक्रिया है, जबकि विकास की प्रक्रिया में यह बात लागू हो यह जरूरी नहीं है!

(ब) उद्विकास की प्रक्रिया में एक अवस्था (Stage) से दूसरी अवस्था (Stage) में प्रयास सुनिश्चित होता है । अत: उद्विकास में जैविकीय या सामाजिक प्रक्रिया के विविध चरण देखे जा सकते है जबकि विकास की प्रक्रिया में सुनिश्चित चरण स्वत: प्रकट होते हो ऐसा नहीं होता ।

(क) उद्विकास की प्रक्रिया के चरण अनुक्रमिक होते है, ओर इस क्रम को बदला नहीं जा सकता है । विकास की प्रक्रिया में सुविचार पूर्वक हस्तक्षेप करके परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन लाया जा सकता है ।

(ड) टी.बी.बोटोमोर के मतानुसार उद्विकास शब्द का एक निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ होता है जबकि विकास के सम्बन्ध में ऐसा न होने के कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को विकास की प्रक्रिया के रूप में समझते वक्त उसकी जटिलता बढ़ जाती है ।

(इ) उद्विकास की प्रक्रिया वृहद समाज (macro- level) के स्तर पर दिर्घकालीन परिवर्तन समझाने में उपयोगी होती है, जबकि विकास वर्तमान समय के धरातल पर कोई निश्चित परिवर्तन की घटना या प्रवाह को समझाने में काम आती है ।

इस तरह विकास और उद्विकास सामाजिक परिवर्तन की घोतक है, फिर भी ज्ञान की एक शाखा-समाजशास्त्रीय ज्ञान में इन अवधारनाओं का सूक्ष्मरूप में एक दूसरे से भिन्न तात्पर्य होता है ।

(iii) विकास और प्रगति (Development and Progress) : विकास की अवधारणा की तरह समाजशास्त्र में प्रगति की अवधारणा का भी व्यापक उपयोग किया जाता है । प्रसिद्ध सामाजिक विचारक होब हाउस (Hob House L.T.) ने अपने योगदान में विकास शब्द का अर्थ 'प्रगती की अवधारणा के पर्याय के रूप में किया है । हालांकि होंबहाउस ने सामाजिक उद्धविकास और सामाजिक प्रगती के बीच वास्तविक भेद की बात भी की है । सरल शब्दों मे कहें तो होबहाउस के मतानुसार सामाजिक प्रगती का अर्थ सामाजिक जीवन में प्रकट होते उस सामाजिक परिवर्तन से होता है जिसके साथ मानव तार्किक रूप से या फिर स्वाभाविक रूप से 'मूल्य" (Values) जौडते है । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रगति समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों की दिशा में होने वाला सकारात्मक परिवर्तन होता है । यही बात विकास के साथ जोड़कर कही जाय तो विकास के प्रयास साधन (Means) का रूप धारण करते हैं और प्रगति इन प्रयासों के फलस्वरूप जन्म लेने वाला साध्य (end) होती है । परन्तु कभी-कभी यह सुक्ष्म अन्तर बनाये रखना संभव नहीं होता है, खासतौर से सामाजिक-परिवर्तन के सन्दर्भा में यह समस्या अक्सर खडी होती है । टी.बी. बोटोमोर कहते हैं कि होबहाउस के उपादानों में ये दोनों प्रक्रियाऐ मिली-जुली पाई जाती है, और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं पाया जाता है जहाँ सामाजिक विकास के किसी नकारात्मक घटना की बात कही गई हो । तथापि होबहाउस इतना अवश्य कहते है कि सामाजिक जीवन के किसी, एक निश्चित क्षेत्र में हुई प्रगति का अन्य क़िसी क्षेत्र में अवाछनीय प्रभाव पड सकता है ।

19वी शताब्दी के अन्त के में प्रगती की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में लुपत होती गई । इसका प्रमुख कारण पाश्चात्य समाजों में समाजशास्त्र को एक विज्ञान का स्तर दिलाने के प्रयास में समाजशास्त्रीय अध्ययनों को मुल्य-मुक्त (value- free) रखने की जो बोद्धिक कोशिश हुई उसमें निहीत है । परन्तु इससे एशिया अफ्रिका तथा लेटिन-अमेरिका के गरीब देशो में प्रचलित निरक्षरता, कुस्वास्थ्य, पिछडापन तथा शोषण आदि की प्रंचड समस्याओं का हल ढूँढने हेतु एक या दुसरे स्वरूप में प्रगती की अवधारणा उपयोगी साबित होती रही हैं

विलबर्ट मूर (Wilbert Moore) अपने ग्रंथ सोशियल चेन्ज' में लिखते है कि प्रगती का विचार अपने आप में कोई एक वैज्ञानिक अवधारणा नहीं है, अपितु यह तो एक मूल्य आधारित परिवर्तन (Value- Judgement Change) को निर्देश करता है । ये परिवर्तन अल्पकालीन या दीर्घकालिन हो सकते है ।

(iv) विकास एवं क्रान्ति (Development and Revolution) : सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन से जुड़ी एक अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा क्रान्ति है । परिवर्तन की यह प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया से निम्न रूप से भिन्न पाई जाती है । इसमें परिवर्तन एकाएक होता है ।

(अ) विकास की प्रक्रिया विद्यमान सामाजिक ढाँचे की सीमाओं में रहकर विपरीत एवं अन्यायपूर्ण परिस्थितियों में क्रमश: बदलाव लाने का प्रयास होता है, जबकि क्रान्ति विद्यमान सामाजिक ढाँचे का संपूर्ण रूपान्तर करने के उद्देश्य से प्रकट होती है ।

(ब) विकास की प्रक्रिया अहिंसक तथा शान्त आन्दोलन के रूप में चलती है जबकि क्रान्ति में हिंसा तथा संघर्ष का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है ।

(क) विकास की प्रक्रिया में लोक-सहभागिता अत्यन्त महत्व की होती है, जबकि क्रान्ति में केवल क्रान्तिकारीयों की भूमिका ही महत्व की होती है ।

(v) विकास एवं आधुनिकीकरण (Development and Modernization) वर्तमान समय में विकास की अवधारणा के साथ-साथ आधुनिकीकरण की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यापकरूप में उपयोग से आने लगी है । वास्तव मे एस.सी. दुबे (S.C.Dube) के मतानुसार इन दोनों अवधारणाओं के बीच रहा तालिक भेद उड गया है । आज ये दोनों अवधारणाएँ एक दूसरे के पयार्य के रूप में उपयोग में आती है ।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की बौद्धिक जडे व्यवहरात्मक विज्ञानों (Behavioural Sciences) में रही है,जबकि विकास की जड़े (Roots) अर्थशास्त्र के साथ संलग्न है । एक अन्य दृष्टिकोण से देखें तो दुसरे विश्वयुद्ध के बाद पाश्चात्य विकसित समाजों की तुलना में एशिया, अफ्रिका और लेटिन अमेरिका के पिछडे समाजों की गरीबी, पिछड़ापन, निरक्षरता तथा शोषण आदि की सामाजिक आर्थिक बुराईयों को दूर करने के आशय से इन समाजों के आधुनिकीकरण की बात उठाई गई ओर इसका एक मात्र मार्ग विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी आधारित औद्योगिकरण इन समाजों के लिये रामबाण इलाज माना जाने लगा । इसी वैचारधारा को आधार बनकर विकासशील समाजों को अर्न्तराष्ट्रीय स्तर की भिन्न-भिन्न आर्थिक अनुदान तथा ऋण देती संस्थाओं के जरीये मदद दी जाने लगी ताकि इन समाजों का भी पश्चिम के समाजों की तरह आर्थिक और सामाजिक विकास हो सके । सही अर्थ में पाश्चात्य देश अपनी औद्योगिक उत्पादनों को पिछडेपन से ग्रसित समाजों में खपाने के प्रयास में नव-संस्थानवाद फैला रहे है । इसका अर्थ यह हुआ कि विकसित राष्ट्र विविध शर्तो के अधिन विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक रूप से आन्दीतता में फँसाकर इन राष्ट्रों की राजनीति पर परोक्ष रूप से अपना आधिपत्य जमा रहे हैं । इस प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाएँ विकासशील राष्ट्रों के बौद्धिकों में से ही आती रहीं । आगे चलकर समाजशास्त्रीय साहित्य मे इन बौद्धिक प्रतिक्रियाओं ने आधुनिकीकरण की व्यूहरचना का खण्डन करते हुए आश्रितता के सिद्धान्त (Theories of Dependancy) तथा उत्तर आधुनिकीकरण के सिद्धान्तों (Theories of Post Modernism) को जन्म दिया।

इस तरह से समाजशास्त्रीय साहित्य मे विकास की अवधारणा एक ओर सामाजिक परिवर्तन से जुड़ी अन्य कई अवधारना के पयार्य के रूप में प्रयोग में आती रही है तो दूसरी ओर इस अवधारणा के अर्थ में मानव-जीवन से के विभिन्न पहलू भी समाविष्ट होते रहे है जिसके फलस्वरूप विकास का अर्थ एक मात्र आर्थिक वृद्धि (Economic growth) तक ही सिमीत न होकर न्यूनतम मानवीय आवश्यकताओं की परिपूर्ति, गरीबी और शोषण से मुक्ति,

मानवीय गौरव से सुसंगत सामाजिक न्याय तथा अवसरों की उपलब्धी, ज्ञान का विकास एवं प्राकृतिक पर्यावरण पर नियंत्रण आदि का समावेश भी होता है । संक्षेप में कहें तो विकास की अवधारणा में आज एकमात्र आर्थिक विकास की बात अधुरी होती है । ऐसा भी पाया गया है कि एकमात्र आर्थिक-विकास कई आवंछनीय परिणामों को भी जन्म देता है । अत: विकास के अन्तर्गत सामाजिक हेतुओं का समावेश करना नितान्त आवश्यक माना जाता है । कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) तथा प्रतिव्यक्ति आय (Per capital Income) के आंकडे अक्सर भ्रमिक (Deceptive) होते हैं, और उनके पिछे दरिद्रता तथा पिछडेपन की भयानक वास्तविकता ढंक जाती है । इसी संदर्भ में एस.सी.दुबे कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) के स्थान पर सामाजिक विकास में कुल राष्ट्रीय कल्याण अर्थात Gross National Welfare (GNW) को समाविष्ट करते हैं ।वे सामाजिक विकास के जो उद्देश्य बताते हैं, वे सामाजिक विकास को उसके आज के अर्थ को समझने में अत्यन्त उपयोगी है । ये उद्देश्य निम्न रूप से दर्शाये गये हैं ।

(i) व्यक्ति के स्थान पर गरीबी से पीड़ित विशाल वर्ग पर ध्यान केन्द्रित करना ।

(ii) मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा जीवन स्तर में सुधार (Improvement in quality of life) पर भार देते हुए विकास के सामाजिक लक्ष्यों की पुन: परिभाषा

(iii) आर्थिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों के बीच एक सेतु के रूप में काम कर सकें इस आशय से आयोजन की व्यूहरचना तथा उसके अमलीकरण में प्रभावत्मक परिवर्तन ।

(iv) पुन: परिभाषित नये लक्ष्यों को सिद्ध करने हेतु नये संस्थात्मक ढूँचो (Institutional Structure) का निर्माण

(v) उभरते सामाजिक प्रवाहों तथा सामाजिक प्रगती के मूल्यांकन के लिये सक्षम परिमाणों या सुचकंको (Indicators) का निर्धारण करना ।

(vi) ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण करना कि जो विकास की प्रक्रिया क्षति रहित सक्षम रूप से चलती रहे और किसी भी परिस्थिति में तय की गई सीमाओं का उलंगन न हो ।

(vii) विकास के दौर में जो भी संभावित अवरोध और समस्याएँ खड़ी हों उनके शीघ्र तथा प्रभावात्मक सामाधान के लिये आगे से ही जरूरी तैयारी हो ।

(viii) ऐसी मानसिकता तथा पर्यावरण तैयार हो जिसमें विद्यमान सामाजिक वास्तविकताओं के औचित्य पर खुले मन से विचारविमर्श किया जा सके और विद्यमान संस्थाओं एवं परिपाटियों को नया रूप देने के लिये सामूहिक रूप से काम किया जा सके ।

जे.एफ.पैवा (J.F.Paiva) सामाजिक विकास के दो प्रमुख परिमाण बताते हैं जो एक दूसरे से घनिष्ट रूप से जुडे होते हैं । प्रथम. लोगों में ऐसी क्षमताओं (Capacities) का निर्माण करना कि फलस्वरूप वे अपने निजी तथा समस्त समाज के कल्याण के लिये निरन्तर काम कर सकें । दुसरा, समाज की संस्थाओं में जरूरी रूपान्तर अथश पूर्नगठन जिससे वे समाज के सभी स्तर के लोगों, खासकर के निम्न स्तर के लोगों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में उपयोगी साबित है । इस प्रयास में मानविय आवश्यकताओं की संतुष्टि के गुणात्मक तथा परिमाणात्मक (qualitative and quantitative) परिमाणों में से दोनों का पूरा-पूरा ध्यान

रखना आवश्यक है । इसके अलावा उपलब्ध साधनों (Resource) के अधिकतमक उपयोग का ध्यान रखना भी नितान्त आवश्यक होता है ।

अंत में कहा जाय तो आज सामाजिक विकास को व्यापक अर्थ में समझा जाना है इसका एकमात्र लक्ष्य मानवता के आधार पर (humanistic society) समाज की रचना करना होता है । इस व्यवस्था की यह खासियत रहेगी कि उसकी संस्थाएँ, तथा संगठन मानविय आवश्यकताओं (human needs) को संतुष्ट करने में विशेषरूप से प्रभावक रहेंगी ।

19.3 टिकाऊ विकास

आपने देखा कि विकास की अवधारणा का लगभग सौ वर्षो से सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में मानव जीवन के विविध पहलुओं से संबंध जुडता आया है । इसी दौर में गत कुछ दशकों से सस्टेनेबल विकास की अवधारणा का समाज विज्ञानों के साहित्य में तथा मानवीय आवश्यकताओं की सुयोग्य संतुष्टि की व्यूहरचना के क्षेत्र में व्यापक उपयोग होने लगा है । सूक्ष्मरूप से देखें तो सस्टेनेबल का तात्पर्य निरंतरता (continuation) से जुड़ा है, जबकि विकास का सबंध परिवर्तन से है ।

साधारणा शब्दों में कहें तो टिकाऊ विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें प्राकृतिक स्रोतों का निवेश की दिशा, तकनीकी विकास का मार्ग तथा संस्थाकिय परिवर्तन आदि तमाम को (i) वर्तमान की आवश्यकताओं तथा (ii) भविष्य की आवश्यकताओं के साथ सुसंगत किया जाता है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहे तो सस्टेनेबल विकास के निम्न दो प्रमुख आधार होते हैं ।

(i) उपभोक्ता के रूप में मानव-जाती तथा दाता के रूप में प्राकृतिक-व्यवस्था के बीच पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध (Symbiotic Relatinship)

(ii) अर्थव्यवस्था तथा पर्यावरण अवस्था के बीच सहोदरता (Compatibility) के सम्बन्ध

उपरोक्त धरातल पर सस्टेनेबल विकास को सार्थक बनाने की निम्नलिखित पूर्व-शर्ते (Pre-conditions) होती है :

(अ) समानता एवं सामाजिक न्याय (Equity and Social Justice)

(ब) अन्तीनहीत विकल्प (Endogenour Choices)

(स) आर्थिक-दक्षता (Economic Efficiency)

(द) पारिस्थीतीय सुसम्बन्ध (Ecological Harmony)

ई.स.1987 में ब्रून्टलेंड आयोग (Brundtland Commission) ने सस्टेनेबल विकास की जो परिभाषा दी वह आज भी व्यापक रूप से अपनाई जाती है । इस परिभाषा के अनुसार 'सस्टेनेबल विकास एक ऐसा विकास है जो भविष्य की पीढ़ी की अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की योग्यता के साथ किसी भी प्रकार का समाधान किए बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओ को पूरा करना है ।

टिकाउ विकास के दो पहलू होते: हैं । (1) सामाजिक सस्टेनेबल विकास और (2) पर्यावरणीय टिकाऊ विकास इस सम्बन्ध में जानने योग्य महत्व की स्पष्टता यह है कि सामाजिक विकास की सस्टेनेबिलिटी की जो बात है दो आभ्यन्तर (Subjectives) अवधारणा

है, अत: उसका मापन (Measument) लगभग असम्भव है, जबकि पर्यावरणीय सस्टेबिलिटी वस्तुनिष्ठ (Objectives) होती है अत: इसे मापा (Measure) जा सकता है । महात्मा गाँधी समाज और प्राकृतिक पर्यावरण के बीच रही पारस्परिकता सही अर्थो में देख पाये थे । उनका मानना था कि एक समुदाय की संस्कृति उसकी आत्मा (soul) होती है ओर प्राकृतिक पर्यावरण उसका देह या शरीर (Body) होती है । महात्मा गाँधी दृढ़ता पूर्वक मानते थे कि प्रत्येक समुदाय के उसके प्राकृतिक पर्यावरण क साथ नैसर्गीक सम्बन्ध होते है तथा इससे समुदाय को अलग नहीं किया जा सकता है । प्रत्येक समुदाय प्राकृतिक पर्यावरण की गोद मे विकसित होता है तथा अपनी विशिष्ट अस्मिता प्राप्त करता है । इसी तरह प्रत्येक समुदाय की अपने प्राकृतिक पर्यावरण से निरन्तर होती रहती आनतरक्रियाओ में से उसके अपने विशिष्ट रिवाज, परम्परा, धार्मिक आस्था तथा स्थानिक संस्कृति का निर्माण होता है अत: संक्षेप में कहें तो समुदाय और पर्यावरण एक ऐसी एकता, (unity) में बँधे होते है कि जिसे तोडा नहीं जा सकता । सस्टेनेबल विकास की अवधारणा की आत्मा भी समुदाय और पर्यावरण के बीच पारस्परिकता के सम्बन्धों के पोषण और संवर्धन के प्रयासों में पाई जाती है ।

पियर्स (Pearce) टिकाऊ विकास के बारे में लिखने है कि समय गुजरने के साथ इच्छित मानवीय हितों को सिद्ध करने की परिस्थितियो का विनाश न हो यही बात सस्टेबल विकास सुनिश्चित करने का प्रयास करना है और इसी प्रयास में सामाजिक आर्थिक एवं प्राकृतिक व्यवस्थाओं का विवेकपूर्ण एवं उचित ढंग से देखभाल की जाती है । इसका अर्थ यह हुआ कि सस्टेनेबल विकास में वर्तमान पीढ़ी और आने बाली पीढ़ीयों समानता के आधार को केन्द्र में रखकर प्राकृतिक साधनों के भण्डार का उपयोग हो ताकि आने बाली पीढ़ियो के हितो को नुकसान न हो । इसी तरह कालान्तर में आनेवाली पीढ़ीयों की दक्षता पर भी प्राकृतिक साधनों के विनाशक उपयोग के फलस्वरूप कोई विपरीत प्रमाद न पडें इस शर्त को भी सुनिश्चित किया जाना है ।

अंत में कहें तो टिकाऊ वीकास कोई अचानक या अनायास होती घटना नहीं है । यह एक ऐसा सुव्यवस्थित एवं संवदेनशील प्रयास की प्रक्रिया होती है, जिसमें वर्तमान पीढ़ी के साथ-साथ आने बाली पीढ़ीयो के हितों संरक्षरण और उच्च जीवन-स्तर की सुरक्षा केन्द्रिय बात होती है । इसी तरह से प्राकृतिक साधनों का वीनाश या हनन न हो इस बात का विशेष ध्यान रखकर उनके संवर्धन के प्रयास होते हैं । इस तरह से सस्टेनेबल विकास में एक तरह मानविय विरासत और दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधन या स्रोत दोनो के संरक्षण एवं संवर्धन के प्रयास किये जाने है। वर्तमान समय मे विकासशील समाजों में नियोजिक विकास (Planner Development) के प्रयासों मे सस्टेनेबल विकास के सूत्रों को केन्द्र में रखकर सामाजिक आर्थिक विकास एवं प्राकृतिक साधनों के संवर्धन की व्यूहरचना तय की जाती है ।

19.4 भारत में विकास की नीति एवं कार्यक्रम

ई.स. 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ उस वक्त राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक और सामाजिक नव निर्माण की विराट समस्या थी । राष्ट्र के विभाजन के फलस्वरूप विस्थापितों के पूर्नवास की भी एक भारी समस्या थी । इसके अलावा समस्त राष्ट्र छोटे-छोटे रजवाडो

(Princely States) में विभाजित था, अत: भारतीय संघ (Union of India) के निर्माण हेतु इन रजवाड़ो का एक राष्ट्र के रूप में विलीनीकरण नितान्त आवश्यक था । इन समस्याओं के उपरान्त एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में तात्कालिक समस्याओं को ध्यान में रखकर कोई सर्वमान्य हल आवश्यक था । उस समय राष्ट्र के समक्ष अकाल-भूखमरी, गरीबी, निरक्षरता, बेकारी, कु-स्वास्थ्य तथा सामाजिक आर्थिक भेदभाव आदि की राक्षसी समस्याएँ थी । कृषि प्रधान देश होते हुए भी अनाज की भारी कमी की दूर करके कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना आवश्यक था ।

औद्योगिक क्षेत्र में भी अत्यन्त निराशा जनक चित्र था । राष्ट्र की कुल आबादी में से केवल 7.0 प्रतिशत लोग औद्योगिक रोजगार से जुड़े थे । राष्ट्रीय स्तर पर प्रवर्तमान दुर्दशा का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है जब प्रति व्यक्ति वार्षिक आय केवल 255 रूपये (दो सो पंच्चावन) थी । राष्टीय भावना के संदर्भ में देखें तो भारत के एक विशाल वर्ग में राजनैतिक चेतना का घोर अभाव था । जाती प्रथा के फलवस्वरूप समूह के प्रति भक्ति अपनी-अपनी जाति तक ही मर्यादित थी तथा राष्ट्र के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का व्यापक अभाव था । सांप्रदायिक वैमन्यस एवं संघर्ष भी लगभग सर्वव्यापी थे । इन विकट परिस्थितियों के बीच आजादी के बाद भारत के राष्ट्रीय नव निर्माण का मार्ग ढूँढना तत्कालिन समय की एक भरी चुनौती थी ।

इस चुनौती से निपटने के लिये भारत ने एक कल्याणकारी राज (Welfare state) का रूप धारण किया तथा 1949 में भारतीय संविधान पारित किया । भारत का संविधान इस संदर्भ में एक ऐसी रूपरेखा प्रदान करता है, जिसके जरीये आजादी के बाद के भारत में एक इच्छित समाज (A desired society) की अवधारणा को मूर्त स्वरूप देने की प्रतिज्ञा की गई है । इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत नये समाज के जो चार आधार स्तम्भ भारत के संविधान इन में दर्शाये गये है, वे (1) सामाजिक न्याय, (2) स्वतंत्रता (3) समानता तथा (4) भातृत्व है । ये चार आधार स्तम्भ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिये किसी भी प्रकार के भेदभाव से मुक्त एवं मानविच गौरव के साथ जीवन यापन करन के तथा राष्ट्रीय एकता की परिस्थिति को सुनुश्चित करते हैं । इसके अलावा भारतीय संविधान में राज्यों के निती निर्देशक तत्वो को भी प्रावधान है जो राज्यों को अतिरिक्त कत्याणकारी कार्यो को हाथ पर लेने का मार्ग सुचित करते हैं ।

भारतीय संविधान में निहीत प्रतिबद्धता तथा तत्कालिन समस्याओं को हल करने के संगठित प्रयासों का सुसंगत रूप से वास्तविक परिस्थितियो में रूपान्तरित करने के लिये नियोजित विकास (Planned Development) का मार्ग अपनाया गया । इस तरह से भारत मे पंचवर्षीय योजनाओं का युग आया । इन योजनाओ के अन्तर्गत उठाये जाने वाले विकास के कदमो के पीछे "आर्थिक विकास के साथ सामाजिक-न्याय (Economic Growth with social justice) का मंत्र था । हांलाकि आजादी के पहले भी भारत में नियोजित विकास के महत्व को समझा जाने लगा था । उदाहरण के तौर पर 1938 में इन्डीयन नेशनल कांग्रेस के आश्रय में नेशनल प्लानीय कामेटी का गठन हुआ था । इसी तरह से दुसरे विश्वयुद्ध के बाद नवनिर्माण की जो विभिन्न योजनाएँ बनी थी उनमें से बोम्बे प्लान, गांधी प्लान तथा पिपल्स प्लान आदि का उल्लेख जरूरी है । आजादी के बाद मार्च 1950 में योजना आयोग का गठन हुआ था ।

योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना का मसौदा तैयार किया जिसके आधार पर अप्रेल 1951 से भारत में राष्ट्रीय स्तर पर नियोजित विकास के प्रयासो का श्री गणेश हुआ । चूंकि भारत की 60 प्रतिशत से भी ज्यादा आबादी गाँव मे रहती थी और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अपने निर्वाह के लिये कृषि पर आश्रित / निर्भर थी अत: प्रथम पंचवषीर्य योजना में कृषि तथा संलग्न व्यवसायों एवं कृटिर उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया । ग्रामीण विकास के माध्यम से ही राष्ट्रीय विकास संभव है । इस बात को भी स्वीकार किया गया । इसी परिपेक्ष्य मे भारत मे विकास के कार्यक्रमो मे ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना को सामाजिक परिवर्तन के एक शान्त आन्दोलन के रूप में अपनाया गया ।

एस.सी.दुबे इस ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना के तात्कालिक (Immediate) मूल (Ultimate) लक्ष्यों का निम्न रूप से रेखांकित करते है:

1. कृषि क्षेत्र मे प्रचुर उत्पादन और संचार, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं आरोग्य तथा ग्रामीण क्षेत्र की शिक्षण व्यवस्थाओ में सुधर लाना ।
2. गाँवो के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को रूपान्तरित करने के हेतु से सांस्कृतिक परिवर्तन की एक सुसंगठित प्रक्रिया को प्रारम्भ करना ।

ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना को उपरोक्त लक्ष्यो के साथ राष्ट्रीय स्तर पर कार्याविन्त किया गया उसके साथ आगे के जो प्रयोग थे, उन्हें ध्यान में रखते हुए आर.एन. हल्दीपूर (R.N.Haldipur) भारत के सामुदायिक विकास के इतिहास के दो भागों मे विभाजित करते हैं।

1. सामुदायिक परियोजनाओं के प्रारम्भ से पहले का समय, और
2. सामुदायिक कार्यक्रमों के कार्यान्वित होने के बाद का समय

प्रथम चरण को वे पुन: दो विभागों मे बाँटते है । (अ) 1921 से 1930 तक का प्रारम्भिक प्रयासों का समय तथा (ब) 1945 से 1952 तक का प्रयोगों का समय ।

दुसरे चचरण को एस.सी.जैन के योगदान का आधार लेकर वे निम्न तीन विभागों में बाँटते हैं ।

(i) 1952 से 1955 तक का प्रशासनिक व्यवस्था खड़ी करने का युग ।
(ii) 1956 से 1958 तक का तकनिकी विकास का युग और
(iii) 1959 से लेकर आगे का प्रजातांत्रिक विकेन्द्रिकरण का युग ।

नियोजित विकास की प्रक्रिया पंचवर्षिय योजनाओं के मार्ग को अपनाने के बाद आयोजन की निजी तथा कार्यक्रमों के इतिहास में. प्रजा तंत्रीय विकेन्द्रिकरण के आशय से अस्तित्व में आई पंचायती राज की व्यवस्था है । नियोजित विकास के प्रयास में प्रथम पंचवर्षीय योजना के दरम्यान ही ऐसा अनुभव किया गया था कि जब तक स्थानिक लोगों को विकास के प्रयासों में सहभागी नहीं बनाया जायेगा तब तक विकास के कार्यक्रमों को सुचारूढंग से चलाने हेतु जरूरी संस्थागत व्यवस्था खड़ी करना नितान्त असम्भव होगा । अत' 1957 ने राष्ट्रव्यापी बलवंतराय महेता कमेटी का गठन किया गया और इस कमेटी के सुझावों के आधार पर 1959 में पंचायती राज की स्थापना हुई । बलवंतराय मेहता समिति ने त्री-स्तरीय व्यवस्था के आधार

पर पंचायती राज के गठन का सुझाव दिया जो कुछ राज्यों के अपवाद के साथ सारे भारत में स्वीकार किया गया । इस तरह ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद पंचायती राज संस्थाओं के रूप में अस्तित्व में आई ।

अत: उपरोक्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि आजादी के बाद के भारत में ग्रामीण समुदायिक विकास योजना तथा पंचायती राज व्यवस्था आर्थिक विकास एवं सामाजिक रूपान्तरण के राज्य संचालित एवं नियंत्रित प्रभावकारी बल के रूप में कार्यरत है । इनके संयुक्त प्रयासों के अन्तर्गत जो कार्य आते हैं उन्हें संक्षेप में निम्न रूप से बताया जा सकता है ।

1. कृषि-विषयक विकास एवं गरीबी निवारण का कदम उठाना ।
2. स्वास्थ्य, शिक्षण एवं सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम शुरू करना ।
3. पशुपालन एवं पशु संवर्धन को बढावा देना ।
4. महिला सशक्तिकरण के प्रयास करना ।
5. नये नेतृत्व का विकास करना ।
6. प्रजातांत्रिक व्यवस्था में लोगों के अधिकारो तथा कर्तव्यों से सम्बन्धित जन जागृति लाना ।
7. ग्रामीण विकास में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित करना ।
8. विकास के उद्देश्यों की दिशा को ध्यान में रखते हुए स्थानिक स्तर पर लोगों की मदद से संस्थागत आधार तैयार करना ।

सामुदायिक विकास योजना के साथ-साथ पंचायती राज के माध्यम से हुए विकास के कार्यक्रमो की सफलता के मूल्यांकनों से अन्य कई कठिनाइयों के उपरांत यह भी पाया गया कि विकास के आर्थिक भार तथा अन्य चुनौतियों का सामना करने के लिये पंचायती राज संस्थाओं को सीधा संविधान के साथ जोड़कर ही सशक्त बनाया जा सकता है । अत: 1992 में संविधान में 73वां संशोधन पारित हुआ । इस संशोधन के अंतर्गत संविधान की 11वीं सूची में पंचायती राज संस्थाओं का समावेश हुआ । साथ ही पंचायतों को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के कार्यक्रम तैयार करने के उपरांत उक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने की सत्ता भी प्राप्त हुई । इसके अलावा पंचायतों को अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये नियत मात्रा में केन्द्र सरकार से सीधी आर्थिक सहायता भी मिलने लगी ।

विकास के इन नियोजित कार्यक्रमों में समय के साथ अनके जरूरी कदम एवं कार्यक्रम अस्तित्व में आने गये । विशेषतौर से ऐसे कार्यक्रम निश्चित लाभार्थीओं को चूनकर या विशिष्ट समस्याओं से पीडित प्रदेशों के आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण के लिये अस्तित्व में आये । ऐसे कार्यक्रमों की श्रृंखला में "अन्तोयदय की योजना" से लेकर 'सम्मान्वित ग्रामीण विकास योजना (IRDP) का समादेश होना है ।

1991 से भारत की आर्थिक नीति मे बदलाव आया । आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के दर्शन पर आधारित मिश्रिति अर्थव्यवस्था का स्थान खुले-बाजार की अर्थव्यवस्था ने लिया । जिसके फलस्वरूप उदारीकरण निजी निवेश और वैश्वीकीकरण (LPG) की विश्वव्यापी प्रक्रिया का छूपे कदम प्रवेश हुआ । इस समस्त प्रक्रिया के कारण और परिणामों की समझ आधुनीकीकरण से सम्बन्धित प्रकरण में प्राप्त करेंगे । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि

नई आर्थिक नीति (New Econonomic Policy) के सामूदायिक विकास एवं कल्याणकारी के प्रयासों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्षरणा से कई प्रभाव पडे है । इन नये प्रवाहों के प्रति अपनी बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ देते हुए अनके विद्वानों का मानना है कि आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय की बात अब ठीक सकेगी या नहीं यह एक बडा प्रश्न खड़ा हुआ है ।

19.5 भारतीय समाजशास्त्र में विकासवादी अध्ययनों के प्रमुख उपागम

आपने देखा कि आजादी के बाद भारत में सामाजिक आर्थिक नवनिमार्ण के संन्निष्ट प्रयासों का एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चला । विकास के इन कार्यक्रमो के पिछे राज्य का सबल होना रहा है, और कालान्तर में विकास के इन कार्यक्रमों में अपनी सहभागिता के माध्यम से स्वंय स्थानिक लोग, स्थानिक साधनों तथा स्थानिक नेतृत्व द्वारा इनका वहन स्वंय करने लगेंगे । विकास का इतना विराट प्रयास निरन्तर चलता रहे एवं राज्य अपनी नितियों तथा कार्यक्रमों द्वारा जरूरी निवेश करता रहे यह परिस्थिति भारत के सामाजिक जीवन में एक नई वास्तविकता के रूप में उभर आई है । राज्य संचालित एवं नियंत्रित विकास कार्यक्रमों से प्रभावित होकर अनेक सामाजिक विज्ञानिक खासतौर से समाजशास्त्री और सामाजिक नृवंशशात्री इनकी कार्यप्रणाली के मूल्यांकन के लिये आकर्षित हुए । इन प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय सामाजशास्त्र में विकासवादी अध्ययनों को प्रोत्साहन मीला । इन अध्ययनों मे वास्तविक परिस्थितियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करने में भिन्न-भिन्न बौद्धिक, दृष्टिकोणों का प्रभुत्व स्पष्टरूप से दिखाई देना है एक अन्य रूप से देखे तो ये बौद्धिक दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय ज्ञान में वृहद स्तर पर प्रकट हो रही सामाजिक आर्थिक वास्तविकताओं को समझने के उद्देश्य से 19वीं सदी के प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं । पश्चिम के समाजों में औद्योगिक-पूँजीवाद के विकास ने इन दृष्टिकोणों को एक या दूसरे रूप से प्रोत्साहन दिया, जिससे समाशास्त्र के ज्ञान के भण्डार में असाधारण वृद्धि हुई है । आपको आगे के पृष्ठों मे विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख उपागमो का पीरयच दिया जायेगा ।

(i) सरंचनात्मक-प्रकार्यत्मक उपागम (Structural Functional Approach)

आप जानतें है कि समाजशास्त्र में इस उपागम का अवतरण सामाजिक नृवंशशास्त्र के योगदानो में से हुआ है । इसी तरह नृवंशशास्त्र में इसे जीवशास्त्र में से अपनाया गया । इस उपागम की आधारभूत धारणाओं के अनुसार समाज एक सुग्रथित व्यवस्था होती हैं । जिसके ढाँचे की इकाईयाँ पारस्परिक क्रियाशीलता के आधार पर समग्र सामाजिक ढाँचे तथा उसकी इकाईयो का अस्तित्व तथा कार्य सुचारू ढंग से चलाने में योगदान करती है । सामाजिक ढाँचे के किसी एक पहलू में आया परिवर्तन उसके अन्य पहलुओं तथा समस्त ढाँचे को प्रभावित करना है। इसी तरह अगर कोई विपरीत प्रभाव करने वाली घटना जन्म लेनी है तो सामाजिक ढाँचे में अर्न्तनिहीत क्षमता ऐसे विपरीत प्रभावी को पचा कर अपनी निरंतरता तथा कार्यशीलता । बिना किसी असहाय विक्षेप से स्वत: बनाये रखती है । इस उपागम में संघर्ष की संभावनाओं की अनुपस्थित मानकर संपूर्ण व्यवस्था के संग्रथन एवं उसकी एकरागिता पर भार दिया जाता है ।

भारत में विकास के अध्ययनों का सिलासिला प्रथम पंचवर्षिय योजना के कार्यक्रमों के अमलीकरण से ही शुरू हो गया ऐसा कहा जा सकता है । तत्कालिन समय में भारतीय समाजशास्त्र पर पश्चिम के समाजो और विशेषतौर से अमेरिकन समाजशास्त्र का प्रचंड प्रभाव था। इसके पीछे भारत के सामुदायिक विकास योजनाओं के साथ-साथ औद्योगिक विकास एवं शेक्षणिक तथा सांस्कृतिक आदन-प्रदान के लिये विविध प्रकार से आर्थिक और तकनिकी सहायता का हाथ रहा है । इस बौद्धिक प्रभाव से प्रोत्साहित होकर भारत में अनेक समाजशास्त्रीयों ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपगाम के दृष्टिकोण से नियोजित विकास के प्रमादों को समझने में अमूल्य योगदान दिया है । इस उपागम के द्वारा ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रमों तथा पंचायती राज की कार्यप्रणाली के मूल्यांकन का एक अटूट प्रवाह शुरू हुआ यह कहे तो सत्य होगा । एक अन्य महत्व की बात यह भी हुई कि सरकारी आंकडो या जनगणना के आंकड़ो पर ही निर्भर रहने के बजाय गाँवो के वास्तविक जन-जीवन का गहराई से अवलोकन करके क्षेत्र -आधारित तथ्य प्रकाश में लाये जाने लगे ।

इस उपागम से हुए समाजशास्त्रीय योगदानों मे एस.सी.दुबे, एम.एन.श्रीनिवास, एफ.जी.बैली (F.G.Bailey), टी.सी.एपस्टीन (T.S.Epstein), एम.सी.मुथ्यया (M.C.Muthayya), एस.सी.जैन, एन स्मीन्गर (Enisminger), एन.पटनायक (N.LPatnaik), योगेश अटल, बी.आर.चौहान आदि के अलावा दूसरे अनेक विद्वानों के नामों का उल्लेख किया जा सकता है । इन उपागम के आधार पर अध्ययनो से जो प्रमुख वास्तविकताएँ प्रकाश में आई है उसे संक्षेप में निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है ।

(1) गाँवों के नियोजित विकास के प्रयासों में स्थानिक लोगों कि सहभागिता का महत्व अनिवार्य पाया गया ।

(2) गाँवों मे विकासोन्मुखी नया नेतृत्व उभरने लगा है । इससे पंरपरागत सत्ता के ढाँचे में बदलाव आने लगा है ।

(3) विकास के कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दे सकें इस आशय से स्थानिक लोगों के स्थानिक संगठनो तथा मंडलों के रूप में नई संस्थागत व्यवस्थाएँ खड़ी हुई है ।

(4) गाँव के लोगों की क्रमश: मानसिकता बदलने लगी है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था से सुसग वैचारिक परिवर्तन आने लगा है ।

(5) विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप गाँवों में आधुनीकरण की प्रक्रिया को विशेष गीत प्राप्त हुई है ।

(6) गाँव के लोगों मे विकास के कार्यक्रमों का लाभ लेने हेतु राजनैतिक जागृत आई है । इसका एक परिणाम यह भी आया है कि कई जगह राजकीय पक्षों के आधार पर गाँवों में मजबूत-गुट्ट (Faction) बन गये हैं, जो अक्सर राजकीय स्वार्थों से प्रेरित होकर विकास के कार्यो में अवरोध खड़े करते हैं ।

(7) गाँवों के लोगों को आई नई जागृती एवं आर्थिक समृधी के फलस्वरूप गाँवों से शहरों की ओर अप्रवास (Migration) की प्रक्रिया ने प्राप्त की है । इसके अलावा लोगों साहस, मनोबल और आकांक्षाएँ भी ऊँची हुई है ।

(8) आज भी गाँव के पंरपरागत सामाजिक ढाँचे मे कोई खास बदलाव नही आया है, फिर भी उसके तानेबाने में कई संघर्षमय परिस्थितियों ने जन्म लिया है क्योंकि विकास के कामों का लाभ लेने के लिये सभी वर्गो के तथा भिन्न-भिन्न स्तर की सामाजिक प्रतिष्ठा रखते लोग प्रयास करते है ।

(9) विकास के कामों के फलस्वरूप गाँवों में जो सामाजिक सुधार तथा तकनिकी विकास हुआ है इससे नये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का जन्म हुआ है ।

(ii) मार्क्सवादी उपागम (Marist Approach)

भारत के समाजशास्त्र मे विकासवादी कार्यक्रमों का मार्क्सवादी उपागम से भी काफी गहराई से अध्ययन हुआ हैं । इसके फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र को सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण हेतु एक आधार (Eadge) मिला है । यह कहें तो उचित होगा । इस उपागम के द्वारा जिन-सामाजशास्त्रीयों ने विशिष्ट योगदान दिया उसमे ए.आर.देसाई, पी.सी.जोशी, गेल आम्बवत, एलिस थोरर्नर एण्ड डेनियल थोरर्नर, डी.एन.धनागरे, जगन्नाथ पाथी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

इस उपागम के प्रवर्तकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत में आ रहे सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण मे मार्क्सवादी उपागम ही सर्वश्रेष्ठ है । इस समझ को वे एतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर साबित करने का बौद्धिक प्रयास करते है । इस उपागम के प्रणेताओं का यह भी एक तर्क है कि भारत में नियोजित कार्यक्रमों के मूल्यांकन से जुडे जो समाशास्त्रीय अध्ययन हुए है उनमें संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम से जो ज्ञान का सर्जन हुआ है वो ज्ञान एक मात्र विकास के पूँजीवादी मार्ग को न केवल बौद्धिक आधार प्रदान करना है, परन्तु उक्त मार्ग को प्रोत्साहन भी देना है । अत: मार्क्सवादी उपागम का यह एक प्रभावशाली तर्क है कि इस प्रकार के ज्ञान के सामाजिक प्रकार्यो (Social Functions) की निष्पक्ष समिक्षा की जानी चाहिये ।

ए.आर.देसाई का कथन है कि भारत के विश्वविद्यालयों मे सामाजशास्त्र के पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु में समाजशास्त्र तथा संशोधिन प्रवर्तीयो का विश्लेषण भी इतना ही आवश्यक है क्योंकि यहाँ भी एकमात्र पूँजीवादी मानसिकता को तैयार करने का संदेश दिखाई देना है ।

वे कहते हैं कि विकास के कार्यक्रमों को सही मायने में समझने के लिये संरचात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम से भिन्न हो ऐसे एक वैकल्पिक उपागम की आवश्यकता है । ए.आर.देसाई के कथनाअनुसार यह वैकल्पिक उपागम एकमात्र मार्क्सवादी वैचारिकता पर ही आधारित हो सकता है । मार्क्सवादी उपागम ही वस्तुनिष्ठ (Objective) संशोधनों के लिये अर्थपूर्ण शोध प्रश्न एवं उप कल्पनाएँ प्रदान कर सकता है जिनके द्वारा सामाजिक ढाँचे के तथा उसके उप-विभागों में विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप हो रहे रूपान्तर को सही अर्थो में समझाया जा सकता है ।

मार्क्सवादी उपागम से भारतीय समाजशास्त्र में हुए विकासवादी अध्ययनों की मूल धारणा है कि आजादी के बाद भारत में पिछड़ापन, गरीबी तथा विषमताओं को समाप्त करने के बहाने राज्य द्वारा राष्ट्रव्यापी नियोजन की नीतियाँ तथा कार्यक्रम अस्तित्व में आये, जिससे

अन्ततोगत्वा भारत एक समृद्ध, विकसित एवं आधुनिक समाज में रूपान्तरित हो सके । परन्तु वास्तव में जो परिस्थितियाँ उमर कर आई है वे मार्क्सवादी उपागम के प्रणोताओ के मतानुसार राज्य को पूँजीवाद का एजेन्ट साबित करने के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । इस उपागम के आधार पर हुए विकास के अध्ययनों की उपलब्धियों का संक्षिप्त सार निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

(i) विकासवादी कार्यक्रमों के पीछे करोडो रूपयों का खर्च और विविध कार्यक्रमो के अमलीकरण के बाद भी भारत एक गरीब राष्ट्र रहा है । विश्व के कई अन्य देशों की तुलना मे भारत की कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) तथा प्रीत-व्यक्ति वार्षिक आय (Per- capital Income) विकास के कई वर्ष गुजर जाने के बाद भी काफी नीचे रही है ।

(ii) भारतीय समाज आज भी गंभीर सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के जीवन यापन करता है । इतना ही नही अपितु विकास के कार्यक्रमों के बदोलत आय एह सम्पत्ति के विकरण के क्षेत्र में विद्यमान विषमताएँ और अधिक बढ़ रही है । गरीब अधिक गरीब और अमीर अधिक अमीर हो रहा हैं ।

(iii) आर्थिक विकास की दर अनियमित रही है और सदैव की भाँती इसकी निम्न दर (Low Rate) यथावत रहती है ।

(iv) कुल आबादी का लगभग एक तिहाई भाग आज भी गरीबी की रेखा (Below Poverty Line) के नीचे है ।

(v) अमीर वर्ग के हाथ में पूँजी और सत्ता का केन्द्रिकरण उत्तरोक्तर बढ़ता जा रहा है ।

(vi) पूँजीवादी वर्ग में भी बडे-बडे पूँजीपतिओं में उत्पादन के साधन, सम्पत्ति तथा आय आदि पर नियंत्रणप और भी बढ़ता और मजबूत होता जा रहा है ।

(vii) ग्रामीण कुटिर उद्योगों की समय पर छोटे-पैमाने वालों उद्योगों (Small Scale Industries) बडी मात्रा में पूँजी निवेश कर विकसित हो रहे हैं जिससे ग्रामीण बेरोजगारी तथा गरीबी बढ़ रही है ।

(viii) छोटे-छोटे तथा सिमान्त कृषकों के मालिकों की भूमि बडे-बडे किसानों के हाथ में जा रही है, इससे भूमिहीन कृषक-मजदूरो की (Landless Labourers) संख्या तेजी से बढ़ रही है। हरितक्रान्ति (Green Revolution) से इस प्रक्रिया को तीव्र वेग मिला है । इसके फलस्वरूप ग्रामीण बेकारी का आकार भी काफी बढा है ।

(ix) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा महिलाओं की दशा और भी बिगड़ी है और उत्तरोतर इन वर्गो पर शोषण तथा अत्याचार की घटनाएँ बढ़ती जा रही है ।

(x) शिक्षण तथा स्वास्थ्य की सुविधाएँ लगभग अनुपलब्ध हैं और जो भी उपलब्ध है वे एक विशाल गरीब एवं पिछडे वर्ग के लोगों की पहुँच से परे है इसके अलावा इस सेवाओं की गुणवत्ता भी काफी भिन्न है ।

(xi) औद्योगिक विकास के साथ-साथ जो नगरीय विकास हुआ है उसका लाभ केवल एक छोटे से समृद्ध तथा साधन सम्पन्न वर्ग को ही हुआ है । गाँवों से अप्रवास (migration) करके आने वाले लाखों लोगों की दशा नगरों मे भी दयनीय हो रही हैं।

(xii) इस उपागम से प्रेरित 'अध्ययनो से यह भी प्रकाश में आया है कि विशाल जनसामान्य (Masses) में बढ़ते हुए असंतोष तथा प्रतिरोध के कारण राज्य उत्तरोतर दमनकारी रूप धारण करता जा रहा है । साथ ही राज्य लोक-कल्याण, नागरिक स्वतंत्रता तथा जनता के प्रजातांत्रिक अधिकारों का बडे पैमाने पर हनन करने की युक्तियाँ निर्दयता से उपयोग मे लाने लगा है ।

उपरोक्त प्रस्तुतीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि विकास के मार्क्सवादी उपागम के अनुसार भारत में राज्य विकास के कार्यक्रमों की आड में पूँजीवाद के लक्षण धारण करने लगा है, और इसी आधार पर वह पूँजी (Capital) तथा आर्थिक उत्पादन के सम्बन्धो का संचालन और नियंत्रण करने लगा है ।

(iii) विकास का सांस्कृतिक उपागम (Cultural Approach of Development):

आप को ज्ञात है कि संस्कृति किसी भी समाज-व्यवस्था की अपनी धरोहर तथा पारस्परिक व्यवहार की एक अन्तर्निहित प्रणाली होती है । इस संदर्भ में देखा जाय तो संस्कृति तथा विकास में गहरा सम्बन्ध है । इस मर्म को समझ कर भारतीय परिस्थितियो के संदर्भ में विकास के कार्यक्रमों के मूल्यांकन में समाजशास्त्रीयों तथा सामाजिक नृवंशशास्त्रीयों का अमूल्य योगदान रहा है । विशेषतौर से इन्द्रदेव, एस.सी.दूबे, योगेन्द्र सिंह पटनायक, सच्चिदानन्द एवं योगेश अटल के योगदान का उल्लेख यहाँ जरूरी होगा । इसके अलावा अहपन्न गोपाल अययर, तथा ब्रिजराज चौहान आदि के योगदान भी महत्वपूर्ण रहे हैं ।

इस उपागम के अन्तर्गगत राज्य संचालित एवं नियंत्रित विकास के कार्यक्रमो के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के समझ आधुनिकीकरण के नियोजित बलों (Forces) के रूप में नई चुनौतियाँ खडी हुई है । योगेन्द्र सींग कहते है कि आज परम्पराओं तथा आधुनिकीकरण के बलो के बीच अद्धिपक एवं प्रतिभाव (Stimules and Respose) जैसी पारस्परिक अन्तराकिया के दर्शन होते है । यह अन्तःक्रिया एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में चल रही है । इसका प्रभाव परंपरागत सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे पर ठोस रूप से हो रहा है । फिर भी विकास के प्रयासों तथा आधुनिकीकरण के बलों के समक्ष परंपराओं का अस्तित्व अलोप नहीं हुआ है । एक तरह से प्रबन्धन की भाषा में कहें तो परंपराएँ सफलता से पैराडाईम शीफ्ट कर सकीं है । यानि कि बदलती परिस्थितियों के साथ प्रकार्यात्मक ढंग से सानुकूलन करके अपने अस्तित्व को बनाये रख सकी है । इसी बात को योगेन्द्र सींग "मोडर्नाइजेशन ऑफ इंडीयन ट्रेडीशन' नामक पुस्तक में समझाते हैं

एस.सी.दुबे ने 1958 में ग्रामीण सामूदायिक विकास कार्यक्रमों की कार्यप्रणाली का उत्तरप्रदेश के दो गाँवों 1. त्यागी गाँव तथा 2. राजपूत गाँव में क्षेत्रीय संशोधन के आधार पर विषय विश्लेषण किया है । उन्होनें पाया कि विकास के विविध कार्यक्रम प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से इन गाँवों के सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे से प्रभावित हुए है । इस संशोधन पर आधारित उनकी कृति "India's changing villages" आज समाजशास्त्रीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है । एस.सी.दूबे अपने अध्ययन में सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे को मानविय बलों

(Human forces) की व्याख्या देते है । इसके बारे में आप अगले कुछ पृष्ठों में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे ।

विकास के सांस्कृतिक उपागम की जो प्रमुख समाशास्त्रीय उपलब्धियाँ है, उन्हें निम्न रूप से दर्शाया जा सकता है:

(i) विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप भारत के गाँवो में कृषि, कुटिर उद्योगों, यातायात के साधनो, संदेशा वाहन के माध्यमों तथा जीवन शैली के क्षेत्र में विज्ञान और तकनीकी पर आधारित विविध मानवोपयोगी संसाधनों का प्रसार हुआ है । हालांकि ये भौतिक संसाधन सभी को प्राप्त नही हो सके है जिसके परिणाम स्वरूप एक तरफ अमीर-गरीब का भेद जीवन शैली के क्षेत्र में बढ़ने लगा है, तो दूसरी ओर ग्रामीण जीवन की एकशागिता में 'सापेक्ष असंतोष'' (Relative Depreivation) की कक्षा भी बढ़ने लगी है ।

(ii) गाँवों के सामाजीक जीवन में ऑगबर्न की अवधारणा के अनुरूप सांस्कृतिक मंदना (Cultural Lag) की परिस्थिति उजागर होने लगी है । क्योंकि जिस गीत से गाँवों में नये-नये भौतिक ससांघन तथा उपकरणों का प्रमाण बढ़ा है उसकी तुलना में गाँवों के सामाजिक सांस्कृतिक ढाँचे और मानसिकता में कुछ अपवादो को छोड़कर लगभग नहींवत् परिवर्तन आया है ।

(iii) इन्द्रदेव का मानना है कि विकास के प्रणेता तथा कार्यक्रमों को अमल करने वाले अधिकारियों के विचार में विकास का जो अर्थ होना है वो गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक पारिस्थितियों से अक्सर मेल नहीं खाता है । इसी कारण विकास के कई कार्यक्रमों को जरूरी स्थानिक लोक-सहभागिता संपादित नहीं हो पातीं । इसी प्रकार के तथ्य एस.सी.दुबे को भी त्यागी गाँव एवं राजपूत गाँव के अध्ययन से प्राप्त हुए थे ।

(iv) ऐसा भी पाया गया है कि विकास से जुडे कार्यक्रमों के प्रति जनचेतना लाने के लिये तथा स्थानिय लोगों को विकास के कार्यो मे जोडने का आहवान करने के लिये जो जनसंचार के माध्यम उपयोग में लाये जाते है, इसी तरह जो संकेत (Messages) एवं प्रतिक (Symbols) उपयोग में लिये जाते है वे गाँवों के पंरपरागत प्रतिकों तथा जनसंचार की प्रमाणिकताओं से भिन्न होते हैं । अक्सर गाँव के लोग इसी कारण सही अर्थ विकास के उद्देश्य नहीं समझ पाते और विविध प्रयासों और कार्यक्रमों से दूर रहना ही पसंद करते हैं ।

(v) विकास की फलश्रूती के रूप में गाँवों का पांरपरिक ढाँचा और स्थानिक व्यवस्थाएँ प्रभावित होती हैं । उनकी जगह क्रमश: नया ढाँचा और व्यवस्था की श्रृंखला जन्म लेती है । परन्तु ये नई व्यव्स्थाएँ एवं संस्थाएँ पूरानी संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं के जो काम और भूमिका थी उसे अद्रा नहीं कर पाते । इससे कई पहलुओं में अनिश्चितता और अव्यवस्था जन्म लेती है । इसका परिणाम यह पाया गया हैं कि गाँवों के लोगों के काम खटाई में पड जाते है । पूरानी व्यवस्थाएँ सुशुप्त हो जाती है और नई व्यवस्थाओं की कामगिरी लोगों की समझ के अभाव के कारण लोगों का विश्वास संपादित नहीं कर पातीं है ।

(vi) ग्रामवासियों के मनोवलणा (attitudes) तथा परम्पराओं के प्रति श्रद्धा के बारे में कहें तो आज भी नियोजित विकास के मंत्री से कई ज्यादा दृढ़ता से परम्परागत सोच को स्वीकारा

जाता है । यहाँ तक की जो ग्रामीण लोग बडे-बड़े नगरों में बसने लगे है, उनकी मानसिकता में भी परम्परागत रिवाज, विश्वास, श्रृद्धा या ' अन्धश्रद्धा वगैर में नीहवत परिवर्तन आया है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि विकास के कार्यक्रम गाँवों के परम्परागत सांस्कृतिक पर्यावरण को बदलने में सफल नहीं हो पाये है ।

विकास के प्रमुख समाजशास्त्रीय उपागमों का परिचय लेने के बाद अब आपको संक्षेप में संचार और विकास के बीच के सम्बन्ध की समझ देगें । सही और प्रभावशाली संचार लोगों में विकास की भूख जगाने से महत्व की भूमिका अदा करता है ।

19.6 संचार ओर विकास

विकास के लिये संचार नितान्त आवश्यक है । विकास की योजनाएँ छोटी हो या बडी, - स्थानिय हो या राष्ट्र व्यापी, प्रत्येक योजना के हेतु और लाभ सही ढंग से लाभार्थियों की समझ में आना जरूरी है । अगर यह बात प्रभावरूप से सिद्ध हो जाती है तो विकास के कार्यक्रमो का न केवल सरलता से अमलीकरण हो सकता है वरन स्थानिक लोग स्वंय उत्सुकता से विकास के इन कार्यक्रमों में अपनी सहभागिता देते है । आप जानते है कि जन-सहमति और जन-सहयोग विकास योजनाओं की सफलता के लिये नितान्त अनिवार्य होता है । एस.सी.दूबे का कथन है कि 'संचार साधनो के योजनाबद्ध उपयोग से जनता का ध्यान विकास योजनाओं पर केन्द्रित किया जा सकता है ओर उसकी रूची इन योजनाओं में जागृत की जा सकती है । जनशक्ति और साधनों का संगठन ऐसी स्थिति में अपेक्षाकृत सरल होता है ।''

हालांकि वे इसकी कुछ कठिनाइयों की तरफ भी ध्यान आकर्षित करते है । वे कहते हैं कि कोई किसी दूसरे के कहने मात्र से ही अपना दृष्टिकोण ओर अपनी मान्यताएँ नहीं बदल लेता । संचार कर्मी इस तथ्य से भली-भांति परिचित है । जहाँ आदेश विफल होता है, प्रयोग ओर निदर्शन सफल हो जाते है । अल्पकालिन समय में वैचारिकता तथा धारणाएं बदलने मे संचार की शक्ति निश्चित रूप से सीमित होती है, परन्तु प्रयोग की प्रवृति जागत करने में वह अधिक सक्षम है । निदर्शन संचर की एक उपयोगी और प्रभावशाली तकनीक है । यदि निदर्शन और प्रयोग सफल हुए तो वे जनता की मान्यताओं को सरलता से मोड़ देते हैं ।

संचार की प्रक्रिया की एक महत्व की बात यह भी है कि यह प्रक्रिया काफी जटिल होती है । ऐसा मानना कि संचार की प्रक्रिया बहुत सरल है और संदेश, बिना किसी कठिनाई के, अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं, एक भ्रम होगा । संदेश और इसके अपेक्षित परिणाम के बीच अनेक समस्याएँ आती हैं । इसमें तकनीकी समस्याओं से भी ज्यादा सामाजिक सांस्कृतिक बलों से प्रेरित मानविय समस्याएँ अत्यन्त गंम्भिर स्वरूप भी धारण कर लेती है । भारत में परिवार नियोजन के कार्यक्रमों की विफलता के पीछे इसी प्रकार के मानविय बलों का गहरा हाथ है । संचार कुछ विपरती प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है । कभी-कभी वह विचार ओर व्यवहार को बदलने के बजाय पूर्वग्रहों को सशक्त करता है और कभी कभी वह जिन समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित होना चाहिये उनसे समुदाय का ध्यान हटा देता है । विकास योजनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से किये गये संगठित संचार प्रत्यन अपने विपरीत प्रभावों के कारण उनकी सफलता की संभावना को ही नष्ट कर देते हैं ।

इस तरह से हम कह सकते हैं कि विकास के मार्ग मे संचार की प्रक्रिया उलझनों से भरी और बहुत ही जटिल वास्तविकता है । विशेष कर के उसके परिणामों की भविषवाणी कर सकना कठिन है । परन्तु इन कठिनाईयों को पार करना विकास योजनाओ की सफलता के लिये अनिवार्य है । एस.सी.दूबे अपनी पुस्तक 'संचार और विकास' (1974) में संचार की कठिनाईयों का हल ढूढने के लिये एक नहीं व्यूहरचना की आवश्यकता पर मार दते हैं । उनके मतानुसार संचार की नई व्यूहरचना में वे निम्न तत्वों का समावेश करते ई ।

(i) संचार साधनों की पहुँच को विस्तृत करना

(ii) संचार के माध्यम से दिये गये संदेश को कई सूत्रों में देना, क्योंकि अध्ययनों से पता चला है कि एक ही सुत्र से दिये गये संदेश का प्रभाव कम पड़ता है ।

(iii) जनसंचार के प्रतिमानो में निरंतर बदलाव लाते रहना,

(iv) संचार साधनों की क्षमता का अधिकतम विकास होता रहे इस आशय से संचार माध्यम के विशेषज्ञों तथा तथ्यो का सहारा लेना ।

(v) विकास के हेतु से उपयोग में लाई जा रही संचार व्यवस्था का निरंतर मूल्यांकन करते रहना। अब तक मूल्यांकन के ऐसे प्रयासों में केवल कोई कार्यक्रम कितने लोगों ने देखा और सूना उस पर ही ध्यान दिया गया है । परन्तु उसका गुणात्मक प्रभाव क्या रहा है, इस बात पर खास ध्यान नहीं गया । प्रोफेसर दुबे कहते है कि 'मूल्यांकन से वास्तविक मार्ग निदेर्श तभी मिल सकता है जब हम परिमाण के स्थान पर परिणाम का विश्लेषण करें ।

उपरोक्त तत्वों को ध्यान में रखकर बनाई गई संचार की नई व्यूहरचना विकास के क्षेत्र में आने वाली भविष्य की चूनौतियों का सामना करने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है।

19.7 विकास के मार्ग में आते मानवीय कारक

आपने देखा कि विकास की प्रक्रिया एक जटिल मार्ग से गुजरती है । जन समान्य के हित में उठाये जाने विकास के कदमों का ही जनसामान्य द्वारा विरोध होता है, या उन्हे सही अर्थ में समझ कर नहीं अपनाया जाता है । इस बात को स्पाईसर ने अपनी पुस्तक 'हूयमन प्रोब्लम्स इन टेक्नोलॉजिक चेन्ज' (1952), एस.सी.दुबे ने अपने ग्रन्थों (1) 'इन्हीयाज चेन्जींग विलेजेज (1958) तथा (2) 'हूयमन फेक्टर्स इन काम्यूनिटी डेवलपमेन्ट' में काफी गहराई से समझाई है ।

लोगों के स्थानिक सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण में निहीत परम्परागत व्यावस्थाएँ तथा समझ विकास के मार्ग में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव डालते है । विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनो से यह प्रस्तावित होता आ रहा है कि विकास के सक्रिय परिणाम आयें है परन्तु इनका लाभ केवल भ्रदवर्ग तथा समुदाय में सत्ता एवं प्रभुत्व प्राप्त वर्ग के लोगों को ही हुआ है। इसके अलावा यह भी पाया गया है कि विकास के कार्यक्रमों को अपनाने के भाव स्थानिक पारिस्थीतयों तथा मान्यताओं से प्रभावित थे नही कि सही अर्थ में विकास की नीति और उद्देश्यों की समझ के आधार पर । एस.सी.दूबे ने त्यागी और राजपूत गाँवों के अध्ययन में पाया कि लोगों ने सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों मे इसलिये अपना सहयोग दिया था क्योंकि उन्हें इसमें (1) अपना आर्थिक लाभ तथा सुविधाएँ दिखाई दी थी, (2). व्यक्ति, परिवार अथवा जाति

की प्रतिष्ठा बढ़ेगी ऐसा लगा था तथा (3) कई लोगों को गाँव में नेतृत्व प्राप्त करने के अवसर दिखने लगे थे।

मानविय बलों का महत्व जिस तरह से विकास के कार्यक्रमो के स्वीकार को प्रभावित करते है, उसी तरह से ये बल विकास के मार्ग में अवरोध भी खडे करते हैं । इसी श्रेणी में निम्न मानविय बलों (Human Factors) का समावेश किया जा सकता है ।

1. गरीबी ओर निरक्षता
2. परंपरागत सामाजिक ढाँचे में निहीत संस्थीगत असमानताएँ तथा भेदभाव
3. भाग्यवादीता तथा जीवन के अवसरों को सुधारने के प्रति उदासीनता
4. धार्मिक अन्धविश्वास एवं सामाहिक कू-रिवाज
5. नये के प्रति या नव-प्रयोग के प्रति उदासीनता ।
6. विकासलक्षी नैतृत्व का अभाव
7. स्थापित-हितों (Verted Interest) के व्यक्ति तथा वर्गो का प्रभुत्व
8. विकासलक्षी नौकरशाही में प्रर्वतमान लाल फिताशाही एवं भ्रष्टाचार

उपरोक्त मानविय बल अपने आप में स्वयं स्पष्ट है । इन बलों की सक्रीय क्रियाशीलता के फलस्वरूप विकास के भौतिक लक्षांक सिद्धा होते हुए भी सही अर्थ में इच्छित दिशा में परिवर्तन लाने के प्रयास तथा सामाजिक पूर्नगठन की प्रक्रिया शिथिल और असफल होती आई है । अंत में ऐसा भी कहा जा सकता है कि इन मानविय बलों के कारण विकास की प्रक्रिया और भी जटिल और कठिन हो जाती है ।

19.8 समीक्षा

विकास सामाजिक परिवर्तन की नियोजित प्रक्रिया होती है । वैश्विक स्तर पर दूसरे विश्वयुद्ध के कारण जो भारी विनाश हुआ था, उस दुर्दशा में से सामाजिक-आर्थिक पूर्नगठन के आशय से नियोजित विकास का मार्ग अपनाया जाने लगा । आजादी के बाद भारत में भी पंचवर्षीय योजनाओं के तहत ग्रामीण सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं पंचायती राज संस्थाऐं विकास के वाहक के रूप में अस्तित्व में आई । इसके फलस्वरूप एक तरफ राष्ट्रीय स्तर पर विकासलक्षी नौकरशाही व्यवस्था का प्रादूर्भाव हुआ तो दूसरी तरफ स्थानिक स्तर पर विकास के कामों में लोक-सहभागीता को प्रोत्साहन मिले इस आशय से पंचायती राज संस्थाओं के उपरान्त महिला मण्डल, युवक मंडल, सहाकारी मंडलीयों तथा खेल-कूद आदि की नई संस्थानिक व्यवस्थाएँ खड़ी हुई । ये नई उभरती वास्तविकताएँ आधुनिकीकरण के नाम से भी जानने लगी। इन्हीं से आकर्षित होकर समाजशास्त्रीयों तथा सामाजिक नृवशंशास्त्रीयों ने क्षेत्रीय संशोधन के आधार पर मौलिक योगदान किया है इससे भारतीय समाजशास्त्र समृद्ध हुआ है । आज भी विकासलक्षी अध्ययनों की यह परंपरा अविरत रूप से चालू है ।

19.9 सारांश

आपने देखा कि विकास के कार्यक्रम आजादी के पश्चात भारत में सामाजिक आर्थिक पूर्नगठन के राज्य संचालित एवं नियंत्रित कार्यक्रम है । इन कार्यक्रमों के पीछे रहा दर्शन भारत

के प्रजातांत्रिक संविधान में निहीत है । इन कार्यक्रमों का गठन भौतिक और मानविय संसाधनों की उपलब्दी तथा विकास की अनिवार्यता के अग्रक्रम में ध्यान में रखकर (प्लानिंग कमीशन) द्वारा किया जाता है । आपने यह भी देखा कि 1951 से प्रारम्भ हुई पंचवर्षीय योजनाओं के जरीये विविध क्षेत्रों मे विकास के विविध कार्यक्रम हाथ पर लिये जाते रहे है । इस प्रक्रिया को मजबूत करने के लिये समय समय पर जरूरी नई व्यवस्थाएँ भी खड़ी की जाती रही हैं । इस संदर्भ में पंचायती राज के उपरांत ग्रामीण विकास की अन्त्योदय से लेकर संकलित ग्रामीण विकास योजना (IRDP) तथा दूसरे अनेक कार्यक्रमों की उपस्थिति ने गाँवों में एक नई वास्तविकताओ को जन्म दिया है । यह प्रक्रिया स. 1991 में अस्तित्व में आई नई आर्थिक-नीति के तले भी चालू रही है । हालांकि आर्थिक-विकास के साथ सामाजिक कल्याण की जो बात थी उसे ठेस लगी है । कई विद्वानों का यह भी मानना है कि अब भारतीय राज्य व्यवस्था अपना कल्याणकारी स्वरूप धीरे-धीरे खो रही है।

19.10 मुख्य शब्दावली

विकास	–	सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया जिसमें आर्थिक वृद्धि (Economic-Growth) के साथ-साथ समाज जीवन के अन्य सामाजिक आर्थिक पहलुओ का भी पुर्नगठन करने का प्रयास होता है ।
प्रगती	–	इच्छित दिशा में मूल्यों के अनुरूप सकरात्मक सामाजिक-परिवर्तन
भ्रदवर्ग	–	समुदाय के उच्च तबके के वे लोग जो सत्ता, प्रतिष्ठा तथा अपने नये दृष्टि बिन्दु के कारण महत्व के तथा पूछे जाने वाले लोग माने जाते है ।
मानविय बल	–	वे सामाजिक सांस्कृतिक पहलू जो स्थानिक परिस्थिति जन्य होते हैं तथा लोगों की समझ, वैचारिकता एवं मान्यताओं में समाये होते हैं ।
संचार माध्यम	–	संदेश अथवा विचार विनिमय के दो माध्यम जो रेडियो, टी.वी. समाचार पत्र, फिल्म, पत्रिका, निदर्शन एवं प्रयोग आदि के रूप में पाये जाते हैं ।

19.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विकास का अर्थ एवं उद्देश्य दर्शाईये ।
2. भारत में नियोजित विकास की पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए ।
3. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के प्रमुख उपागम समझाइये ।
4. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में मार्क्सवादी उपागम की दलिलों की समीक्षा कीजिए।
5. टिकाऊ विकास का अर्थ सविस्तार समझाइये ।
6. संचार और विकास पर एक टिप्पणी लिखिये ।
7. नियोजित विकास के मार्ग में आते मानविय अवरोधो को सउदाहरण समझाइये।
8. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों मे सांस्कृतिक उपागम की उपलब्धियाँ दर्शाइये ।
9. भारत में विकास की उपलब्धियों का अपने शब्दो में संक्षिप्त सार दीजिए ।
10. विकास, क्रान्ति एवं प्रगति की अवधारणाओं की तुलनात्मक समीक्षा दीजिए ।

19.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. Dube S.C, (1954) - India's Changing villages; Routledge & Kegan Paul Ltd., London
2. Dube S.C, (1988) - Modernization and Development: The United Nations University, Tokyo
3. दुबे (1974) संचार और विकास : भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान : शिमला
4. Desai A.R. (1983) - India's Path of Development ; Popular Prakashan, Bombay.
5. I.C.S.S.R. (1974) - A Survey of Research in sociology and social anthropology : Vol II pp.30-165
6. Jain S.C, (1985) - Rural Development : Institutions & Strategies, Rawat Publication, Jaipur
7. Sharma S.L. (1986) - Dovelopment : Sociocultural Dimensions, Rawat Publications, Jaipur
8. Singh Yogendra (1986) - Modernization of Indian Tration : Rawat Publication, Jaipur.

ISBN - 13/978-81-8496-020-4